प्रकाशक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
प्रकाशक 'जैनमित्र' व मालिक दि० जैन
पुस्तकालय, चंदावाड़ी-सूरत।

मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रेस, खपाटिया चकला,
तासवालाकी पोल-सूरत।

# भूमिका ।

इस पंचमकालमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य बड़े तत्वज्ञानी, योगी, जैन सिद्धान्तके स्वामी, प्रामाणिक, सर्वज्ञतुल्य शास्त्रसमुद्रके पारगामी, विक्रमसंवत् ४९ के अनुमान हो गए हैं, जिनके ग्रंथ श्री समयसार, नियमसार, प्रवचनसार व पंचास्तिकाय बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें सारभूत तत्वोंका विवेचन है। जो इस सर्व कथनको समझ जायगा वह अवश्य सम्यग्दृष्टी व आत्मज्ञानी हो जायगा। श्री नियमसारकी संस्कृतवृत्ति श्री पद्मप्रभ मलधारी देवने की थी, उसकी भाषा न देखकर श्री जिनवाणीकी कृपासे लेखक द्वारा उसकी भाषा प्रसिद्ध होचुकी है। शेष तीनोंकी संस्कृतवृत्ति श्री जयसेनाचार्यकृत बहुत विस्तारपूर्वक दृष्टिगोचर हुई जिसकी भाषा न देखकर मेरे चित्तमें शक्ति न रहनेपर भी केवल अध्यात्मप्रेमवश यह अभिलाषा हुई कि इन तीनोंकी हिन्दी भाषा होजानी चाहिये। इस बुद्धिकी प्रेरणासे श्री समयसारजीकी समयसारटीकाके नामसे व श्री प्रवचनसारकी तीन खंडोंमें—ज्ञानतत्वदीपिका, ज्ञेयतत्वदीपिका व चारित्रतत्वदीपिकाके नामसे—टीका प्रकाशित होचुकी हैं।

इस पंचास्तिकायके एक भागकी यह भाषाटीका पंचास्तिकायदर्पण है जिसकी अपनी बुद्धिके अनुसार भाषा लिखी है। यदि कहीं प्रमाद व अज्ञानवश भूल रह गई हो तो विद्वज्जन सज्जनताके भावसे क्षमा करेंगे और सूचित करनेका कष्ट उठावेंगे जिससे आगामी आवृत्तिमें शुद्ध हो जाय। द्वितीय भागकी टीका होरही है।

लखनऊ, अजिताश्रम<br>
आश्विन सुदी १३<br>
वीर सं. २४५२ - वि. सं. १९८३<br>
ता० १९-१०-१९२६

ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

# सूचीपत्र ।

# संक्षिप्त जीवनचरित्र

## लाला मूलचंद्रजी सुपुत्र लाला त्रिशेश्वरनाथ जैन रईस कानपुर।

जिनधर्म व जिनवाणी प्रेमी लाला मूलचन्दजी और उनके सुपुत्र कपूरचन्दजी और लाला बनारसीदासजीने इस पंचास्तिकाय दर्पण नामक ग्रन्थको अपने द्रव्यसे प्रकाश कराकर व जैनमित्रके ग्राहकोंको उपहारमें देकर जो पुण्य लाभ किया है वह प्रशंसनीय है।

आप अग्रवाल वंशज गोयल गोत्री दिगम्बर जैन धर्मके धारी हैं। आपके कुलमें पीढ़ियोंसे इस धर्मकी मान्यता चली आरही है। यद्यपि आपके वंशज मूलमें धारूहेड़ा अग्रोहाके निवासी थे, परन्तु कुछ काल पूर्व आपके वंशजोंने फर्रुखनगर जि० गुड़गांवमें आकर निवास किया, जहां अब भी आपके वंशज रहते हैं। जिनमें मुख्य चौधरी मित्रसेन व लाला हीरालालजी हैं जो वहां व परदेशमें व्यापार करते हुए जीवनयात्रा बितारहे हैं।

फर्रुखनगरमें लाला पृथ्वीराज बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं। एक दफे आपने एक बड़ा पेड़ा फर्रुखनगरमें प्रत्येक मनुष्यको बांटा था जिससे वहांके लोग उनको पृथ्वीपेड़ाके नामसे कहने लगे थे। आपके पुत्र लाला ज्वालाप्रसाद थे, उनके पुत्र लाला तनसुखराय व लाला इन्द्रराज थे। लाला इन्द्रराजके तीन सुपुत्र थे—लाला रायसिंह, लाला रामसुखदास और लाला मुन्नीलाल। किसी कारणसे लाला रायसिंहजी घरसे नाराज हो गए और अकेले व्यापार करनेके लिये लखनऊ चले आए। साथमें घरका द्रव्य भी न लाए, उस समय लखनऊ शहर बहुत गुलजार था, भारतवर्षमें एक नामी शहर था, सर्व तरहकी सांसारिक सुखसम्पत्तिसे भरपूर था। रायसिंहजी
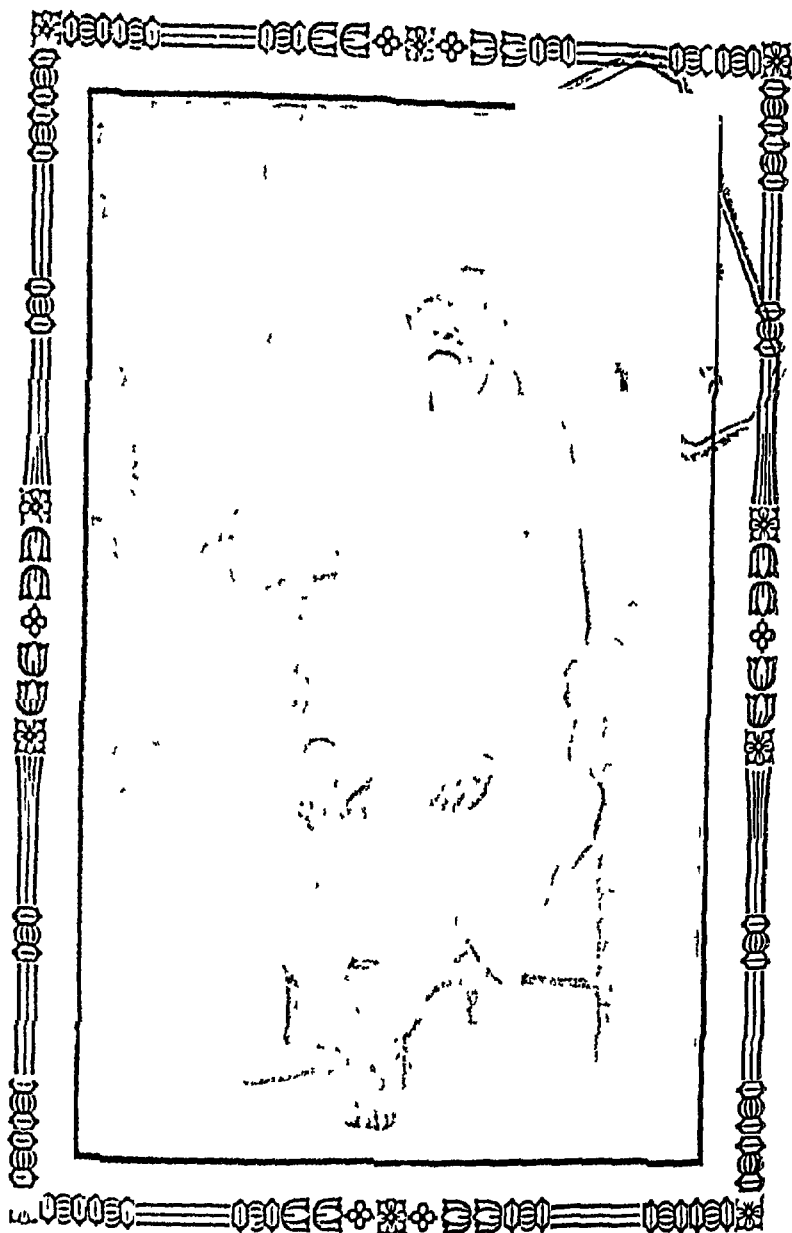
श्रीमान् लाला मूलचन्दजी, सुपुत्र लाला विशेश्वरनाथजी–कानपुर।

( इस ग्रन्थके द्रव्यदाता )

Jain Vijaya Press, Surat.

बड़े साहसी थे, आपने मीनाबाजारमें साधारण पैसा कौड़ी बेचनेकी दूकान खोल दी। कुछ दिनोंमें ही व्यापार जमा लिया और तब पीरबुखारेमें सराफी दूकान खोलदी जिस दूकानसे आपने बहुत द्रव्य कमाया, तब आपने अपनी स्त्री व पुत्र मंगलसेन व पुत्री सुज्ञानोको देशसे बुला लिया। आपके भाई रामसुखदासके पुत्र मामराज थे, उनको भी आपने व्यापारके लिये लखनऊ बुला लिया। उन्होंने भी पीरबुखारेमें दूकान खोल दी। कुछ दिनोंके बाद मुन्नीलालके पुत्र धन्नामल भी यहां आगए।

लाला मूलचंदजी मामराजजीकी सन्तानमें हैं तथा पूज्य ब्र० शीतलप्रसादजी, जो इस ग्रंथके अनुवाद कर्ता हैं वे लाला रायसिंहजीकी संतानमें हैं।

धनकी वृद्धि होनेपर लाला रायसिंहने सराय मालीखांमें एक बड़ा आलीशान मकान बहुत द्रव्यव्यय कर बनवाया। उसीमें आप रहने लगे। यह मकान इतने पक्के मसालेसे बना है कि आजतक मौजूद है और कालेमहलके नामसे प्रसिद्ध है। इसके सिवाय आपने और भी कई मकान बनवाये।

आपके पुत्र लाला मंगलसेनजी—जो ब्र० शीतलप्रसादजीके पितामह या बाबा थे—विद्याकी बड़ी रुचि रखते थे। रायसिंहजीने भी आपको संस्कृत व फारसी खूब पढ़ाई। आप फारसीके एक अच्छे ज्ञाता थे। लीलावती गणित भी जानते थे। आपको धर्म-शास्त्रकी बड़ी रुचि थी। आपने थोड़े ही दिनोंमें बहुतसे जैन ग्रन्थोंका स्वाध्याय कर लिया था। आप श्री सर्वार्थसिद्धि, गोम्मट-सार तथा समयसारके रहस्यके भी ज्ञाता थे।

रायसिंहजीने अपने पुत्र मंगलसेनका विवाह युवावयमें लख-नऊमें प्रसिद्ध कोनेवाले शाहकी लड़कीके साथ बड़ी धूमधामसे किया और अपनी लड़की सुज्ञानोकी भी शादी लखनऊमें प्रसिद्ध लाला किशोरीलालके साथ कर दी। किशोरीलालके इस सम्बन्धसे दो पुत्र हुए—एक बाबूजी, दूसरे गोपालदास। ये दोनों भाई बड़े प्रतापी थे। इन्होंने जातिसेवाके बड़े २ काम किये थे।

लाला मंगलसेनजी धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थोंका साधन धर्मकी रक्षा करते हुए करने लगे। रायसिंहजीका देहान्त होगया। मंगलसेनजीके ४ कन्याएं व एक पुत्र लाला मक्खनलालजी हुए जो ब्र० शीतलप्रसादजीके पिता थे। लाला मंगलसेनजीने अपने पिताका व्यापार बराबर जारी रक्खा। आपने मक्खनलालजीका विवाह बड़ी धूमधामसे किया परन्तु वह स्त्री कुछ दिनोंके पीछे मर गई तब आपने उनकी दूसरी शादी लाला मुन्नालालकी पुत्री नारायणदेवीसे की जो ब्र० शीतलप्रसादजीकी माताका नाम है।

सन् १८९७ का गदर लखनऊमें जोरशोरसे हुआ और लोग घरका मालमता छोड़कर भाग निकले। तब मंगलसेनजी व और सब कुटुम्बके लोगोंको भी बड़ी आपत्तिमें भागना पड़ा। घरका माल असबाब जवाहरात सब लुटगया, गदर बंद होनेपर जब लौटकर घरको देखा तो लुटा हुआ पाया, उस समय लाला मंगलसेन बहुत उदास हुए, लखनऊमें रहना ही नापसंद किया और यह विचार किया कि जहां लखनऊके नवाब वाजिद अलीशाहको रक्खा गया है वहीं हम भी रहेंगे। बस आप सब घरवालोंको यहां छोड़-कर कलकत्ते चले गए वहां आप लाला पीरुमल प्रयागवालोंकी कोठीमें

बड़े मुनीम नियत हो गए और ७५ वर्षकी आयु तक वहीं काम किया। आप कलकत्तेकी दि० जैन श्रावक मंडलीमें पूज्य समझे जाते थे। चावलपट्टीके मंदिरजीमें नित्य शास्त्रसभाका शास्त्र पढ़ते थे। आपकी धर्मचर्चा पंडित अर्जुनदास, पंडित फूलचंद रानीवाले, पंडित गुलजारीलाल आदिसे रहा करती थी। आपने जन्मभरतक परिश्रम किया, आपका शरीर अंततक दृढ़ रहा व दांत वैसे ही बने रहे। आप बड़े अध्यात्मप्रेमी थे। नित्य समयसारका मनन करते थे।

लखनऊमें लाला मक्खनलालजी गोटेकी दूकान करते रहे। आपके चार पुत्र—लाला संतूमल, लाला अनंतूमल, शीतलप्रसाद व पन्नालाल व एक पुत्री राधाबीबी हुए। आपने अपने बड़े पुत्रका विवाह अलीगंजवाले अंगनलाल परमेश्वरीदासकी लड़कीके साथ बड़ी धूमधामसे किया। संतूमलजी बड़े उद्योगी हैं। आपने १४ वर्षकी आयुमें ही चिकनका काम शुरू कर दिया और धन कमाया। आपका एक बड़ा लड़का जवाहरलाल था जो अपनी शादीके पीछे न रहा। दो पुत्र धर्मचंद व सुमेरचंद अब मौजूद हैं।

संतूमलजीको धर्मका बहुत प्रेम है। भगवानकी भक्तिरससे भरे आपने बहुतसे भजन बनाए हैं और अपने उपनाम खुशरंगसे खुशरंग विलासमें छपवाए हैं। वे पढ़ने योग्य हैं। आपके पुत्र धर्मचंद्रको मंत्रविद्याका अभ्यास है। सर्पके विषको जैन मंत्रोंसे उतार देते हैं। धर्ममें रुचिवान हैं।

अनंतूमल व्यापारार्थ कलकत्ते गए वहां जवाहरातमें अच्छी रकम पैदा की, परन्तु वह ३९ वर्षकी आयुमें एक लड़कीको छोड़ कर चलबसे। शीतलप्रसादजीको विद्या पढ़नेका शौक था। आपने

लखनऊमें इंग्रेजी पढ़ी। फिर व्यापारार्थ कलकत्ते गए वहां अनंतूमलके साथ जवाहरातका काम किया व वहीं मैट्रिक पास किया। संस्कृत हि० भाषा जानते थे इससे धर्मके ज्ञानका शौक होगया। कुछ काल पीछे वैराग्य आनेसे आप १६ वर्ष हुए श्रावकके व्रत पालते हुए ब्रह्मचारी हो गए। पन्नालालजीका देहांत हो गया। राधाबीबीका विवाह दामोदरदासजीसे हुआ जिनके पुत्र बरातीलालजी लखनऊमें रईस व परोपकारी हैं।

अब हमको लाला मूलचंदजीके पितामह लाला मामराजका वर्णन करना है। आप बड़े वाणिज्यचतुर थे। लखनऊमें आपने अपना व्यापार जमा लिया। आपके चार पुत्र थे—लाला बिहारीलाल, लाला छेदीलाल, लाला गोविंदप्रसाद व लाला बिंदाप्रसाद। लाला मामराजजीने इन सबके विवाह लखनऊमें किये। मामराजजीके स्वर्गवास होने पीछे लाला गोविंदप्रसाद और लाला बिन्दाप्रसादजीने लखनऊमें एक लकड़ीकी दूकान खोली व एक दूकान कानपुरमें खोल दी।

लाला बिहारीलालजीने वर्तनका वाणिज्य शुरू किया। कुछ दिनों पीछे यह भी कानपुर चले आए और यहां लकड़ीका काम शुरू किया। आपके दो पुत्र और दो पुत्रियां थी। बड़े पुत्र लाला विशेश्वरनाथजी थे जो लाला मूलचन्दजीके पिता हैं। छोटे पुत्र गणेशीलाल थे। लाला विशेश्वरनाथजीका विवाह लखनऊमें लाला बेलीमलजीकी बहनके साथ हुआ। आप भी बड़े उद्योगी थे। आप लखनऊमें वर्तनका काम करते थे। उसे छोड़कर आप भी कानपुर आए और यहां लकड़ीका व्यापार बहुत

जोरके साथ शुरू किया जिससे दिनपर दिन तरक्की होती गई। आपके तीन पुत्र हुए—लाला मूलचंद, लाला मुन्नालाल और लाला बनारसीदास। ये तीनों भी व्यापारमें कुशल हैं। इन्होंने पिताके देहान्तके पीछे लाखों रुपया पैदा किया। पुण्यके उदयसे धन कण जायदादसे पूर्ण हैं, घरके मकान हैं, मोटर है, गाड़ी, घोड़ा, मुनीम, नौकर आदि भी हैं। मुन्नालालजीका देहान्त हो गया। अब दोनों भाई विद्यमान हैं।

लाला मूलचंदजीका विवाह लाला विहारीलालजी कानपुरवालोंकी पुत्रीके साथ हुआ। जिससे दो पुत्र रत्न प्राप्त हुए। एक हुकमचंदजी दूसरे कपूरचंदजी। दुर्भाग्यसे हुकमचंदका स्वर्गवास होगया। इस समय कपूरचंदजी व्यापारमें कुशलताके साथ उद्योग कर रहे हैं। लखनऊमें लकड़ीका काम शुरू किया है जिसको यह स्वयं देखते हैं। कानपुर व लखनऊ दोनों स्थानोंपर दूकानका नाम "विशेश्वरनाथ मूलचन्द" पड़ता है। मूलचंदजीकी प्रथम स्त्रीके देहान्तके पीछे आपका द्वितीय विवाह जमनादासजीकी कन्याके साथ हुआ जिससे आपको एक पुत्र व दो पुत्रियोंकी प्राप्ति हुई हैं। पुत्रका नाम फूलचन्दजी है जो अपना कार व्यवहार देखते हैं।

कपूरचंदजीके भी एक पुत्र भूपचन्द है, जो विद्याका अभ्यास करते हैं।

लाला मूलचंदजी धर्मकार्योंमें दिल खोलकर पैसा खरचते हैं। आपने सं० १९८० में अपने घरमें श्री पार्श्वनाथका चैत्यालय स्थापित किया है व कुछ मकान धर्मशालाके लिये भी अलग किया है। आप विद्यालय आदिको मदद बराबर देते हैं। लाला

मूलचंदजी व बनारसीदासजीने तीर्थयात्राएं भी की हैं व समय समयपर धर्मकार्योंमें द्रव्य खर्च किया है। आपके कुटुम्बमें पूर्ण एकता है। लाला मूलचंदजी नित्य अपने चैत्यालयमें पूजन करते हैं; त्यागी, व्रती आदिका बहुत सन्मान करते हैं।

आपकी धर्मबुद्धि सदा प्रफुल्लित रहे व आपके सुपुत्र भी मन, वचन, कायसे धर्ममें लीन रहें, यही हमारी भावना है। आपने इस ग्रन्थके प्रकाशनमें करीब ७००) के दान किया है। आशा है अन्य लक्ष्मीपुत्र भी आपका अनुकरणकर अन्य ग्रन्थोंका उद्धार कराकर जिनवाणी प्रचारमें सहायक होते हुए महत् पुण्य उपार्जन करेंगे।

प्रकाशक।

## शुद्धाशुद्धि पत्र।

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ४ | २२-२३ | जो....भी | जिसको क्रोधरूपी विषको शांत किये हुए पशुगण भी एक साथ |
| ८ | २ | भाषि | भाषितं |
| ३२ | ११ | पर्यायें अशुद्ध | पर्यायें शुद्ध |
| ३३ | ११ | कार्योंके | कर्मोंके |
| ३७ | ८ | सम भाव | समभाव |
| ३९ | ११ | व्यतिकार | व्यतिकर |
| ४८ | ११ | एक पदार्थ | एक पदार्थमें |
| ५६ | २० | तद्व्यापे | तद् द्व्यापेतं |
| ५६ | २२ | मोक्षे | मोक्षो |
| ५८ | ८ | सहभाशः | सहभवाः |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ६९ | १३ | स्कंध | स्कंधमें |
| ६६ | ७ | न्यायोह | न्यापोह |
| ७० | २३ | तत्कि | तत्कि |
| ११४ | १९ | अपि शब्द हैं। | अपि शब्द तें |
| ११७ | १९ | ललन | हलन |
| १९१ | ९ | अच्छादित | आच्छादित |
| १९९ | ९ | अमेद्य | अभेद्य |
| १७६ | ३ | हो वीतराग | तो वीतराग |
| १८८ | ७ | स्वोवयोगिनी | स्वोपयोगिनी |
| २२७ | २२ | जोयणमेक्कं | जोयणमेक्कं हवे पुण्णं॥४२४ |
| २२८ | १३ | संस्वाती | संखाती |
| २३६ | १२ | अव | अवरं |
| २३७ | १ | निदिया | विदिया |
| २९१ | १७ | दृष्टांतमें | दार्ष्टान्तमें |
| २९३ | २२ | सकनेके | सकनेसे |
| २६६ | १८ | कुश्रुतक | कुश्रुत |
| २६७ | ९ | अपस्थामें | अवस्थामें भी |
| २७४ | २१ | आया | आयातं |
| २७६ | २२ | जीवके जी। | जीवके |
| २७७ | २ | भाव ही | भाव नहीं |
| ,, | २ | भाव नहीं होते हैं। | भाव होते हैं |
| २९९ | १२–१८ | उसको .... भेद आयगा | जघन्यको सिद्धराशिका अनंतवां भाग जो अनंत उसका भाग देनेपर जो आवे उतने जघन्यमें मिला- |

| | | | नैसे उत्कृष्ट आहार वर्गणा है। इसीतरह तैजस, भाषा, मनो, कार्मण ये उत्कृष्ट निकालना, बीचमें जो चार अग्राह्य वर्गणा हैं उनमें जघन्यको सिद्धराशिके अनंतवें भाग अनंतसे गुणनेपर उत्कृष्ट भेद आता है |
|---|---|---|---|
| ३०१ | १० | कमभाव | कर्मभाव |
| ३२१ | ८ | तावज्जयः | तावज्जपः |
| ३५५ | २० | उपभोग | उपयोग |
| ३५७ | २ | नौकर्म | नोकर्म |
| ३६० | ११ | आकार्य | अकार्य |
| ३७२ | २२ | दानों | दोनों |
| ३७४ | ३ | दोवों | दीपों |
| ३८९ | १८ | दोनोंके | दोनोंको |
| ३९३ | १८ | आदि । जैसे | आदि जैसे |
| ३९६ | ८ | वच्या | वाच्य |
| ४०० | १७ | पदार्थोंका | पर्यायोंका |
| ४०७ | १६ | इंधनकी | इंधनको |
| ४१० | १२ | संचेतना | संचेतनां |
| ४१० | १३ | वन्द्यः | वन्धः |
| ४१३ | २३ | दिय | यदि |
| ४१६ | २२ | सर्वत्र | सर्वज्ञ |
| ४२४ | १२ | गवि | भवि |

श्रीमत् कुंदकुंदस्वामी विरचित-

# श्री पंचास्तिकाय टीका

## प्रथम खण्ड।

अर्थात्-

## श्री पंचास्तिकायदर्पण।

### मंगलाचरण।

वंदो वीर महाप्रभु, सन्मति सुख दातार।
वर्द्धमान अतिवीरको, महावीर गुण धार ॥ १ ॥
वृषभ आदि तेईस जिन, भरथ तीर्थ कर्तार।
तिनके वंदो युग चरण, पावन परम उदार ॥ २ ॥
सर्व सिद्ध सुखकार हैं, स्वातम तत्व मंझार।
सुधा-सिंधुमें नित मगन, वन्दो वारम्वार ॥ ३ ॥
आचारज उवझाय मुनि, संगरहित शम धार।
क्षमा आदि धारक सतत, निज गुण मगन अपार ॥४॥
कुंदकुंद मुनिराजके, चरण ध्यान दातार।
समयसारमें रति करैं, सुमरों सुमति प्रचार ॥ ५ ॥
प्राकृत गाथामें रच्यो, ग्रंथ काय पंचास्ति।
जयसेनाचारज कियो, संस्कृतवृत्ति प्रशस्ति ॥ ६ ॥
बालबोध भाषा नहीं, मर्म न समझो जाय।
तातें उद्यम हम किया, जिन चरणाम्बुज ध्याय ॥ ७ ॥

---

* प्रारम्भ ता० १-७-१९२५।

## प्रारम्भ।

आगे इस ग्रन्थकी जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति नामकी संस्कृतवृत्तिके अनुसार भाव लिखा जाता है। प्रथम ही वृत्तिकारका मंगलाचरण है—

स्वसंवेदनसिद्धाय जिनाय परमात्मने।
शुद्धजीवास्तिकायाय नित्यानंदचिदे नमः॥

भावार्थ—मैं अपने स्वानुभवके द्वारा सिद्धिको प्राप्त, कर्म विजयी, शुद्ध जीवमई व नित्य आनंदको भोगनेवाले परमात्माको नमस्कार करता हूं।

उत्थानिका—यह कथा प्रसिद्ध है कि श्री कुमारनंदि सिद्धांतदेवके शिष्य श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य देव जिनके पद्मनंदि आदि (ऐलाचार्य, वक्रग्रीव, गृद्धपिच्छ) नाम भी प्रसिद्ध हैं पूर्वविदेहमें गए। वहां वीतराग सर्वज्ञ श्रीमंदरस्वामी तीर्थंकर परमदेवके दर्शन किये तथा उनके मुखकमलसे प्रगट दिव्यवाणीको सुन करके व उससे पदार्थोंको समझकर शुद्ध आत्मीकतत्व आदिका सार अर्थ ग्रहण किया फिर लौटकर उन्होंने अंतरंगतत्व और बहिरंगतत्त्वको गौण या मुख्यपने बतानेके लिये अथवा शिवकुमार महाराजको आदि लेकर संक्षेप रुचिके धारक शिष्योंको समझानेके लिये इस पंचास्तिकाय प्राभृत शास्त्रको रचा। इसी ग्रन्थका तात्पर्य अर्थरूप व्याख्यान यथाक्रमसे अधिकारोंकी शुद्धिके साथ किया जाता है। आगे प्रथम ही शास्त्रकी आदिमें "इन्द्रशतवन्दितेभ्यः" इत्यादि जिनेन्द्रको भाव नमस्काररूप असाधारण मंगल करूंगा ऐसा अभिप्राय मनमें धरकर आचार्य प्रथम सूत्र कहते हैं—

गाथा—

इंदसदवंदियाणं तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं ॥ १ ॥

संस्कृत छाया—

इन्द्रशतवन्दितेभ्यस्त्रिभुवनहितमधुरविशदवाक्येभ्यः।
अन्तातीतगुणेभ्यो नमो जिनेभ्यो जितभवेभ्यः ॥ १ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(इंदसदवंदियाणं) सौ इन्द्रोंसे वन्दनीक, (तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं) तीन जगतको हितकारी मधुर और स्पष्ट वचन कहनेवाले, (अंतातीदगुणाणं) अनंतगुणोंके धारी तथा (जिदभवाणं) संसारको जीतनेवाले (जिणाणं) अरहंतोंको (णमो) नमस्कार हो।

विशेषार्थ—यहां मंगलके लिये अरहंतोंको नमस्कार किया गया है। अरहंतोंके अनन्तज्ञान आदि गुणोंका स्मरण रूप भाव नमस्कार कहलाता है। सौ इन्द्रोंने अरहंतोंको नमस्कार किया ऐसा कहनेसे अरहंतके पूज्यपनेके महात्म्यको प्रगट किया गया है तथा यह बताया है कि सौ इन्द्रोंसे नमस्कार करनेके योग्य ये ही अरहंत देव हैं और नहीं। श्री अरहंतके वचन शुद्धात्माके स्वरूपकी प्राप्तिका उपाय दिखलानेके कारणसे हित रूप हैं, वीतराग और विकल्प रहित समाधिसे उत्पन्न जो स्वाभाविक अपूर्व परम आनन्द वही है निश्चय सुख, उसके रसका स्वाद वही है परम समतारसमई भाव, उसके रसिक जो मनुष्य हैं उनके मनको मोहित करनेवाले हैं, और वे स्पट तथा व्यक्त हैं, क्योंकि उन वचनोंमें संशय विमोह विभ्रम नहीं है। यह सीप है या चांदी

है ऐसे चंचल ज्ञानको संशय कहते हैं। पगमें तृणोंका स्पर्श होते हुए कुछ होगा ऐसे निश्चय करनेकी इच्छा न रखनेवाले भावको विमोह कहते हैं। सीपको चांदी जान लेना सो विभ्रम है तथा वे वचन इसलिये भी स्पष्ट हैं, क्योंकि शुद्ध जीवास्तिकायको आदि लेकर सात तत्त्व, नव पदार्थ, छः द्रव्य, और पांच अस्तिकायका स्वरूप बतानेवाले हैं अथवा उन वचनोंमें पूर्वापर विरोध नहीं है इससे भी स्पष्ट है। अथवा अरहंतोंकी उस दिव्यध्वनिको सर्व जीव अपनी२ भाषामें सुनके उससे स्पष्ट अर्थ समझ जाते हैं। कर्नाटक, मागध, मालवा, लाट, गौड़ और गुर्जर इनमेंसे प्रत्येकके तीन भेद ऐसी १८ महाभाषा और सातसौ छोटी भाषाको आदि लेकर अनेक भाषाओंमें वह वाणी एक ही समयमें सबको सुनाई देती है इससे भी वह विशद है।

अरहंतकी वाणीके सम्बन्धमें ऐसा अन्य ग्रन्थमें कहा है—

"यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्ठद्वयं,
नो वांछाकलितं न दोषमलिनं नोच्छ्वासरुद्धक्रमं।
शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णभि-
स्तन्नः सर्वविदो विनष्टविपदः पायादपूर्वं वचः॥

भावार्थ—सर्व आपत्तियोंसे रहित श्री सर्वज्ञ भगवानका वह अपूर्व वचन हमारी रक्षा करे जो सर्व आत्माओंका हितकारी है, अक्षर रूप नहीं है, दोनों ओठोंके हलन विना प्रगट होता है, इच्छारहित होता है, दोषोंसे मलीन नहीं है न उसमें श्वासोश्वासके रुकनेका क्रम है, जो शांत है व जिसको अर्षविषके साथ पशुगण भी अपने कानोंसे सुन सक्ते हैं। इस तरह

वचनके महात्म्य द्वारा प्रगट जो अरहंतका वचन वही प्रमाण है।
एकांत करके अपौरुषेय वचन जो किसी पुरुषका न कहा हुआ हो
और न नाना कथाओं रचित पुराणवचन प्रमाणभृत है। भावार्थ-
वचन वही प्रमाणभूत है जो अनेकांत या स्याद्वाद द्वारा वर्णन करे
व जो किसी सर्वज्ञ पुरुषकी परम्परामें कहा हुआ हो। जिन अर-
हंतोंके अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको जान लेनेसे अनंतकेवल-
ज्ञान आदि गुण पाए जाते हैं; ऐसा कहनेसे यह बताया है कि वे
अरहंत उन गणधर देवको आदि लेकर योगीश्वरोंसे भी नमस्कार
योग्य हैं, जो बुद्धि आदि सात ऋद्धि व मतिज्ञान आदि चार
ज्ञानके धारी हैं तथा जिन अरहंतोंने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव
भावरूप पंच परावर्तनरूप संसारको जीत लिया है। ऐसा
कहनेसे यह बताया है कि उन्होंने घातिया कर्मोंके नाशके
महात्म्यसे कृतकृत्यपना अपनेमें प्रगट कर दिया है। इसीसे जो
कृतकृत्य नहीं हैं ऐसे जो अल्पज्ञानी संसारी जीव उनके लिये वे
अरहंत ही शरणरूप हैं और कोई नहीं। इस तरह चार विशेषणों
सहित श्री जिनेन्द्रोंको नमस्कार किया है। इस तरह मंगलके लिये
अनंतज्ञान आदि गुणोंका स्मरणरूप भाव नमस्कार किया गया।
जो अनेक भवरूपी वन और इंद्रिय विषय व आपत्तिमें डालनेके
कारण कर्मरूपी शत्रु हैं उनको जीतनेवाला है वह जिन है, उसीके
ये चार विशेषण इसी न्यायसे किये गए हैं। जैसे यह कहना कि
संख श्वेत है। केवल संख कहनेसे भी उसकी सफेदीका बोध
होजाता है वैसे केवल जिन शब्दकी व्युत्पत्तिसे ही उनके अनंत
गुणोंका बोध होजाता है। तौ भी विशेषता बतानेके लिये तथा नाम

मात्र जिन कहलानेवालेको नमस्कार नहीं किया गया है ऐसा बतानेके लिये विशेषण दिये हैं। ऐसा भाव विशेषण व विशेष्यका जानना चाहिये। इस तरह शब्दार्थ कहा गया।

अनन्तज्ञानादि गुणोंका स्मरणरूप भाव नमस्कार अशुद्ध निश्चय नयसे जानना, "नमो जिनेभ्यः" ऐसा वचनरूप द्रव्य नमस्कार है सो असद्भूत व्यवहारनयसे जानना तथा शुद्ध निश्चय नयसे अपने आत्मामें ही आराध्य और आराधकभाव समझना कि यह आत्मा ही आराधने योग्य व यही आराधनेवाला है। ऐसा अभेदभाव रूप होना इस तरह नयोंकेद्वारा अर्थ कहा गया। ये ही अरहंत देव नमस्कारके योग्य हैं अन्य कोई रागी द्वेषी अल्पज्ञ नहीं, ऐसा कहनेसे जिन मतका अर्थ भी झलकाया गया। सौ इन्द्रोंसे वंदनीक हैं ऐसा कहनेसे परम्परा आगमका अर्थ प्रसिद्ध किया गया। तथा इस मंगलाचरणका भावार्थ यह है कि अनन्त-ज्ञानादिगुणोंसे युक्त शुद्ध जीवास्तिकाय ही ग्रहण करने योग्य है। इस तरह शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ जानना चाहिये। इसी तरह जहां कहीं व्याख्यान हो वहां सर्व ठिकाने शब्द, नय, मत, आगम तथा भाव इन पांचोंसे अर्थ लगाना चाहिये। इस तरह संक्षेपमें मंगलके लिये इष्टदेवताको नमस्कार किया गया— मंगल यह उपलक्षणपद है जहां मंगल किया जावे। वहां उसके साथ पांच बातें यथासंभव और भी कहनी चाहिये अर्थात् ग्रन्थका निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्त्ता।

अब यहांपर विस्तार रुचिसे सुननेवाले शिष्योंके लिये व्य-वहारनयके आश्रयको लेकर यथाक्रमसे मंगल आदि छः अधिकारोंका

विशेष व्याख्यान किया जाता है। यह आर्ष वाक्य है:-

"मंगलणिमित्तहेऊ परिमाणा णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरिओ॥"

भावार्थ-आचार्य महाराज ग्रन्थकर्ता पहले मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता इन छःको कहकर फिर शास्त्रका व्याख्यान करे। सोही आगे दिखाते हैं।

(१) मं अर्थात् मल या पापको जो गालयति अर्थात् गलावे सो मंगल है अथवा मंग जो पुण्य तथा सुख उसे जो लाति अर्थात् देवे वह मंगल है। ग्रन्थकार शास्त्रकी आदिमें मंगलके लिये चार प्रकार फलको चाहते हुए तीन प्रकार देवताका तीन प्रकार नमस्कार करते हैं। चार प्रकार फलके लिये कहा है-

" नास्तिक्यपरिहारस्तु शिष्टाचारप्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः॥"

भावार्थ-नास्तिकपनेके त्यागके लिये अर्थात ग्रंथकर्ता आस्तिक है यह बतानेके लिये, शिष्टाचार जो परम्परासे चला आया विनयका नियम उसको पालनेके लिये, पुण्यकी प्राप्तिके लिये तथा विघ्नके दूर करनेके लिये इन चार बातोंको चाहते हुए ग्रन्थकी आदिमें इष्टदेवकी स्तुति की जाती है। तीन प्रकार देवताका भाव यह है कि जिसको नमस्कार किया जावे वह अपनेको इष्ट अर्थात् प्रिय हो, अधिकृत हो अर्थात् जिसका यहां अधिकार हो तथा अभिमत हो अर्थात् जो माननीय हो नमस्कार भी तीन प्रकार है- एक आशीर्वादरूप, दूसरे वस्तुस्वरूप कथनरूप तीसरे नमस्काररूप। यह मंगल दो प्रकारका है एक मुख्य, दूसरा गौण। मुख्य

मंगल जिनेन्द्र-गुण स्तवन है-जैसा कहा है:—

"आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भाषितं बुधैः ।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ॥"

भावार्थ-बुद्धिमानोंने कहा है कि आदि, मध्य तथा अंतमें मंगल करना चाहिये जिससे विघ्नोंका नाश है। वह मंगल श्री जिनेन्द्रके गुणोंका स्तोत्र है। और भी कहा है—

"विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न क्षुद्रदेवाः परिलंघयन्ति ।
अर्थान् यथेष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥"

भावार्थ-श्री जिनेन्द्रोंका गुणगान करनेसे विघ्नोंका नाश होता है, कभी भय नहीं लगता है, न नीच देव उल्लंघन करते हैं तथा अपने इच्छित पदार्थोंका सदा लाभ होता है। और भी कहा है-

" आई मंगलकरणे सिस्सा लहु पारगा हवंतित्ति ।
मज्झे अव्वुच्छित्ति विज्जा विज्जाफलं चरिमे ॥ "

भावार्थ-आदिमें मंगल करनेसे शिष्य विद्याके पारगामी होते हैं, मध्यमें मंगल करनेसे विद्या विना विघ्नके आती है व अंतमें मंगल करनेसे विद्याका फल प्राप्त होता है।

आगे गौण मंगलको कहते हैं।

" सिद्धत्थ पुण्णकुम्भो वंदणमाला य पंडुरं छत्तं ।
सेदो वण्णो आदस्स णाय कण्णा य जत्तस्सो ॥ १ ॥
वयणियमसंजमगुणेहि साहिदो जिणवरेहि परमट्ठा ।
सिद्धा सण्णा जेसिं सिद्धत्था मंगलं तेण ॥ २ ॥
पुण्णा मणोरहेहि य केवलणाणेण चावि संपुण्णा ।
अरहंता इदि लोए सुमंगलं पुण्णकुंभो दु ॥ ३ ॥
णिग्गमणपवेसम्हि य इह चउवीसंपि वंदणिज्जा ते ।
वंदणमालेत्ति कया भरहेण य मंगलं तेण ॥ ४ ॥

सव्वजणणिव्वुदियरा छत्तायारा जगस्स अरहंता।
छत्तायारं सिद्धित्ति मंगलं तेण छत्तं तं ॥ ५ ॥
सेदो वण्णो झाणं लेस्सा य अघाइसेसकम्मं च।
अरुहाणं इदि लोए सुमंगलं सेदवण्णो दु ॥ ६ ॥
दीसइ लोयालोओ केवलणाणे तहा जिणिंदस्स।
तह दीसइ मुकुरे विंबुमंगलं तेण तं मुणह ॥ ७ ॥
जह वीयराय सव्वण्हु जिणवरो मंगलं हवइ लोए।
हयरायवालकण्णा तह मंगलमिदि विजाणाहि ॥ ८ ॥
कम्मारिजिणेविणु जिणवरेहिं मोक्खु जिणाहिवि जेण।
जं चउरउअरिवलजिणइ मंगलु वुच्चइ तेण ॥ ९ ॥

भावार्थ—सिद्धार्थ, पूर्णकुंभ, वंदनमाला, श्वेतछत्र, श्वेतवर्ण, आदर्श या दर्पण, नाथ ( राजा ), कन्या और जयपना ॥१॥ जिन जिनवरोंने व्रतनियम संयमादि गुणोंकेद्वारा परमार्थ साधन किया है और जिनकी सिद्ध संज्ञा है इसलिये वे सिद्धार्थ मंगल हैं ॥२॥ जो सर्व मनोरथोंसे और केवलज्ञानसे पूर्ण हैं ऐसे अरहंत इस लोकमें पूर्णकुंभ मंगल हैं ॥३॥ भरत चक्रीकृत वंदनमालामें किसी द्वारसे निकलने या प्रवेश होते जो चौवीस तीर्थंकर वंदनीक होजाते हैं इसलिये वंदन-मालाको मंगल कहा है ॥४॥ जगके प्राणियोंके लिये अरहंत भगवान सुखके कर्ता हैं व छत्रके समान रक्षक हैं इसलिये श्वेतछत्रको मंगल कहा है ॥ ५ ॥ जिन अरहंतोंके श्वेतवर्ण शुक्लध्यान है व शुक्लेश्या है और जिनके चार अघातिया कर्म शेष हैं ऐसे अरहंतोंको श्वेत वर्ण मंगल कहा है ॥ ६ ॥ जैसे दर्पणमें प्रतिबिंब झलकता है वैसे जिन जिनेन्द्रोंके केवलज्ञानमें लोक अलोक दिखता है इसलिये आदर्श मंगल है ॥७॥ जैसे वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र मंगलरूप हैं वैसे जगतमें राजा और वालकन्याको भी मंगल जानना चाहिये

॥ ८ ॥ जिन्होंने कर्म शत्रुओंको जीतकर मोक्ष प्राप्त करली है ऐसे चारों घातियारूपी शत्रुके दलको जीतनेसे जयरूप मंगल है ॥९॥

अथवा मंगल दो प्रकार है एक निबद्ध मंगल, दूसरा अनिबद्ध मंगल। जो मंगल उस ही ग्रन्थकारने किया हो वह निबद्ध मंगल है जैसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि। जो दूसरे ग्रन्थसे लाकर नमस्कार किया गया हो वह अनिबद्ध मंगल है जैसे "जगत्त्रयनाथाय" इत्यादि।

इस सम्बन्धमें कोई शिष्य यह पूर्वपक्ष उठाकर तर्क करता है कि किस लिये शास्त्रके प्रारम्भमें शास्त्रकार मंगलके लिये परमेष्ठीके गुणोंका स्तोत्र करते हैं। जो शास्त्र शुरू किया हो उसी हीको कहना चाहिये, मंगलकी जरूरत नहीं है। यह भी कहना नहीं चाहिये कि मंगलरूप नमस्कारसे पुण्य होता है तथा पुण्यसे कार्य्य विघ्नरहित होता है, क्योंकि ऐसा कहनेसे व्यभिचार आता है। कहींपर तो नमस्कार, दान, पूजा आदि करते हुए भी विघ्न होना दिखाई देता है तथा कहींपर दान, पूजा व नमस्कार न करते हुए भी निर्विघ्न काम दिखाई पड़ता है? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि हे शिष्य! तुम्हारा यह कहना योग्य नहीं है। पूर्वकालमें आचार्योंने इष्टदेवताको नमस्कार पहले करके ही कार्य शुरू किये थे। तुमने कहा कि ऐसा न कहना चाहिये कि नमस्कारसे पुण्य होता है व पुण्यसे विघ्न नहीं होता है। सो यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह तर्कशास्त्र आदिमें सिद्ध किया गया है कि देवताको नमस्कार करनेसे पुण्य होता है और पुण्यसे निर्विघ्न कार्य होता है। फिर जो तुमने कहा कि ऐसा माननेसे व्यभिचार

आता है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जहां देवताको नमस्कार दान पूजा आदि धर्मके करते हुए भी विघ्न हो जाता है वहां यह समझना चाहिये कि पूर्वमें किये हुए पापका ही फल है, इस धर्म-साधनका दोष नहीं है। तथा जहां देवताको नमस्कार दान पूजादि धर्मके विना भी निर्विघ्न कार्य होता देखा जाता है वहां यह समझना चाहिये कि यह पूर्वमें किये हुए धर्महीका फल है, यह पापका फल नहीं है। फिर शिष्य कहता है कि शास्त्र स्वयं मंगलरूप है या अमंगल है। यदि शास्त्र मंगलरूप है तब मंगलका मंगल करनेमें क्या प्रयोजन है और यदि शास्त्र अमंगलरूप है तब ऐसे शास्त्रसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? आचार्य महाराज इसका भी समाधान करते हैं कि भक्तिके लिये मंगलका भी मंगल किया जाता है। जैसा कि कहा है—

" प्रदीपेनार्चयेदर्कमुदकेन महोदधिम्।
वागीश्वरीं तथा वाग्भिर्मंगलेनैव मंगलम्॥

भावार्थ—दीपकसे सूर्यको, जलसे समुद्रको, वाणीसे जिनवाणी अर्थात सरस्वतीको लोग पूजते हैं; इसी तरह मंगलसे ही मंगलकी पूजा करते हैं। और भी यह है कि इष्टदेवताको नमस्कार करनेसे उनके प्रति उपकारकी स्वीकारता होती है, जैसा कहा है—

"श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्‌गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः॥"

भावार्थ—मोक्षमार्गकी सिद्धि परमेष्ठी भगवानके प्रसादसे होती है इसलिये मुनियोंमें मुख्य शास्त्रकी आदिमें उनके गुणोंकी स्तुति करते हैं। और भी कहा है:—

" अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः
स च, भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धि
र्न हि, कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥ "

भावार्थ-इष्टफलकी सिद्धिका उपाय सम्यग्ज्ञान है। सो सम्यग्ज्ञान यथार्थ आगमसे होता है। उस आगमकी उत्पत्ति आप्त (देव) से है इसलिये वह आप्त देव पूज्यनीय है जिसके प्रसादसे तीव्र बुद्धि होती है, निश्चयसे साधु लोग अपने ऊपर किए गए उपकारको नहीं भूलते हैं। इस तरह संक्षेपसे मंगलका कथन किया गया। आगे जिसके निमित्त यह शास्त्र बना उस निमित्त कारणको कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञ भगवानके द्वारा दिव्यध्वनि प्रगट होनेमें कारण भव्य जीवोंके पुण्यकी प्रेरणा है। जैसा कहा है:-

"छद्दव्वणवपयत्थे सुयणाणाइच्चदिव्वतेएण ।
पस्संतु भव्वजीवा इय सुअरविणो हवे उदओ ॥"

भावार्थ-जब श्रुतज्ञानरूपी सूर्यका उदय होता है तब भव्य जीवोंको इस श्रुतज्ञान सूर्यके दिव्यतेज द्वारा छः द्रव्य व नव पदार्थोंको देखना चाहिये।

यहां इस प्राभृत ग्रंथके होनेमें निमित्त शिवकुमार महाराज हैं। जैसे द्रव्यसंग्रह आदिमें सोमा सेठ आदि निमित्त थे ऐसा जानना चाहिये। इस तरह संक्षेपसे निमित्त बताया, अब हेतुका व्याख्यान करते हैं। हेतुको ही फल कहते हैं क्योंकि वह फलका कारण है इस लिये उपचारसे फल कहते हैं। वह फल दो प्रकार है-एक प्रत्यक्ष फल, दूसरा परोक्षफल। प्रत्यक्ष फल भी दो प्रकार है एक साक्षात् दूसरा परम्परा। साक्षात् प्रत्यक्ष फल यह

है कि इस शास्त्रसे अज्ञानका नाश होकर सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है तथा असंख्यात गुण श्रेणीरूप कर्मोंकी निर्जरा होती है इत्यादि। परम्परा प्रत्यक्ष फल यह है कि शिष्य प्रति शिष्य द्वारा पूजा व प्रशंसा होती है तथा शिष्योंकी प्राप्ति होती है। भावार्थ-पढ़कर अनेक जन लाभ उठाते हैं। इस तरह संक्षेपसे प्रत्यक्ष फल कहा। अब परोक्ष फल कहते हैं। यह भी दो प्रकार है-एक सांसारिक ऐश्वर्य सुखकी प्राप्ति, दूसरा मोक्ष-सुखका लाभ। अब ऐश्वर्य सुखको कहते हैं कि १८ श्रेणी सेनाके पति मुकुटधर होना, इसमें दूने दूने दलके स्वामी सकल चक्रवर्ती तक होना सो ऐश्वर्य सुख है। अब मोक्ष या परम कल्याणमय सुखको कहते हैं। वह अरहंत और सिद्ध पदका लाभ है। जैसा कहा है—

"खविदघणघाइकम्मा चउतीसातिसया पंचकल्लाणा।
अट्ठ महापाडिहेरा अरहंता मंगलं मज्झ।"

भावार्थ—जिन्होंने चार घातिया कर्मोंका नाशकर चौतीस अतिशय, ८ प्रातिहार्य्य व पंच कल्याणक प्राप्त किये हैं वे अरहंत हैं सो मेरे लिये मंगलरूप हैं।

"मूलुत्तरपयडीणं बंधोदयसत्तकम्मउम्मुक्का।
मंगलभूदा सिद्धा अट्ठगुणातीदसंसारा॥"

भावार्थ—जो मूल व उत्तर कर्मप्रकृतियोंके बंध, उदय सत्तासे रहित हैं, आठ गुण सहित हैं व संसारसे पार हो गए हैं वे मंगलमई सिद्ध भगवान हैं। इस तरह ऐश्वर्य व मोक्षसुखको संक्षेपमें कहा गया। तात्पर्य यह है कि जो कोई वीतराग सर्वज्ञकी परम्परासे कहे हुए इस पंचास्तिकाय संग्रह आदि शास्त्रको पढ़ता है, श्रद्धामें

लाता है तथा वारवार विचारता है वह इस प्रकार सुखको पाता है। अब परिमाण कहते हैं, वह दो प्रकार है ग्रन्थ परिमाण और अर्थ-परिमाण। ग्रन्थ परिमाण तो ग्रन्थकी गाथा या श्लोक संख्या यथा-संभव जाननी। अर्थपरिमाण अनन्त है, इस तरह संक्षेपसे परिमाण कहा। अब नाम कहते हैं। नाम दो प्रकार है—एक अन्वर्थ, दूसरा इच्छित। जैसा ग्रन्थका नाम हो वैसा ही अर्थ हो सो अन्वर्थ है जैसे जो तपै सो तपन या सूर्य है। इसी तरह पांच अस्तिकाय जिस शास्त्रमें कहे गए हों सो पंचास्तिकाय है, अथवा जिसमें द्रव्योंका संग्रह हो वह द्रव्यसंग्रह है इत्यादि। इच्छित नाम जैसे काष्ठका भार ढोनेवालेको ईश्वर कहना इत्यादि। अब ग्रन्थका कर्त्ता कहते हैं। कर्त्ता तीन प्रकारसे हैं—मूलतंत्रकर्त्ता, उत्तरतंत्र-कर्त्ता तथा उत्तरोत्तर तंत्रकर्त्ता। इनमें मूल तंत्रकर्त्ता तो इस कालकी अपेक्षासे अंतिम तीर्थंकर अठारह दोषरहित, अनंत चतुष्टय सहित श्री वर्द्धमानस्वामी हैं। उत्तरतंत्रकर्ता चार ज्ञानधारी व सात ऋद्धिपूर्ण श्री गौतमस्वामी गणधर हैं। उत्तरोत्तर कर्ता यथा-संभव बहुत हैं। भावार्थ—यहां इस ग्रन्थके कर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य हैं। कर्ता इसलिये कहते हैं कि कर्ताकी प्रमाणतासे उसके बचनोंकी प्रमाणता होती है। इस तरह संक्षेपसे मंगल, निमित्त, हेतु, परि-माण, नाम और कर्त्ता इन छः भेदोंका वर्णन किया गया। इस तरह मंगलके लिये इष्टदेवताके नमस्कार सम्बन्धी गाथा पूर्ण हुई।

भावार्थ—महाराज कुन्दकुन्दने इस गाथामें मंगलाचरण करते हुए किसी एक परमात्माको नमस्कार नहीं किया है किन्तु सर्व ही अरहंत परमात्माओंको नमन किया है, क्योंकि जैनाचार्य गुणोंके

उपासक हैं। जो जो वीतराग भगवान कर्मविजयी हैं और शरीर सहित अवस्थामें रहते हुए धर्मोपदेश देते तथा विहार करते हैं वे सर्व ही पूज्य हैं। उन अरहंतोंको जगतमें जितने ऐश्वर्यवान् पुण्यात्मा प्राणी हैं वे सब नमस्कार करते हैं। इसी बातको बतानेके लिये आचार्यने कहा है कि उनको सौ इन्द्र नमन करते हैं। वे सौ इन्द्र इस गाथाके अनुसार जानने—

भवणालयचालीसा विंतरदेवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामरचौवोसा चंदो सूरो णरो तिरिओ॥

अर्थात् भवनवासी देवोंके चालीस इंद्र, व्यंतरदेवोंके बत्तीस इंद्र, स्वर्गवासी देवोंके चौबीस इंद्र, ज्योतिषियोंमें चंद्रमा और सूर्य, मानवोंमें चक्रवर्ती, राजा, पशुओंमें अष्टापद। ये १०० इन्द्र श्री जिनेन्द्रको मस्तक नमाते हैं। वे अरहंत अपनी दिव्यवाणीसे तीन भवनके सकल प्राणियोंके उद्धार करनेवाले धर्मको उपदेश करते हैं जिससे संसारी जीव आत्मा अनात्माका ज्ञान प्राप्त करके भेदविज्ञानके द्वारा स्वात्मानुभव कर सकें तथा अहिंसा धर्मपर चलकर अन्य प्राणियोंकी रक्षा कर सकें। उन अरहंतोंने आत्माके निज गुणोंके घातक कर्मोंको ध्यानकी अग्निमें जला डाला है इससे उनमें आत्मीक अनंतगुण, अनंतज्ञान दर्शन, सुख, वीर्यादिक पूर्ण विकाशको प्राप्त होगए हैं। इसीसे उन अरहंतोंने संसारको जीत लिया है। अब वे कभी परमात्म दशाको छोड़कर संसार दशामें न आवेंगे।

जो जिस अवस्थाका प्रेमी होता है वह उसी अवस्थावानको नमस्कार करता है, क्योंकि आचार्य स्वयं शुद्ध अवस्था प्राप्तिके इच्छुक हैं तथा दूसरोंको उसी अवस्थाकी प्राप्त कराना चाहते हैं

इसलिये उन्होंने श्री अरहंत परमात्माओंको नमन किया है। इस नमस्कारसे उन्होंने यह भी दिखलाया है कि जो कुछ मैं इस ग्रन्थमें कहूंगा वह सब कथन श्री अरहंतोंकी दिव्य वाणीसे प्रगट धर्मोपदेशके अनुसार होगा। वास्तवमें पूज्य पुरुषोंके नामस्मरण व गुणानुवाद करनेसे अपने भावोंकी उज्वलता हो जाती है। यही मुख्य प्रयोजन मंगलाचरण करनेका है। श्री विद्यानंदि स्वामीने अपने स्तोत्रमें इसी भांति अरहंतकी स्तुति की है।

" क्षयाच्च रतिरागमोहभयकारिणं कर्मणां।
कषायरिपुनिर्जयः सकलतत्त्वविद्योदयः॥
अनन्यसदृशं सुखं त्रिभुवनाधिपत्यं च ते।
सुनिश्चितमिदं विभो सुमुनिसम्प्रदायादिभिः॥१०॥

भावार्थ—हे विभो! आपने उन कर्मोंको नाश कर दिया है जो रति, राग, मोह व भयको पैदा करनेवाले हैं, इसलिये आपने क्रोधादि कषायरूपी शत्रुओंको जीतलिया है व आपके सर्व पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाला केवलज्ञानका उदय होगया है। आपको अनुपम अतीन्द्रिय आनंद है तथा आप तीन जगतके स्वामी हैं—आपके स्वरूपको गणधरादि मुनियोंने अच्छी तरह निश्चय कर लिया है॥ १ ॥

उत्थानिका—आगे द्रव्य शास्त्ररूप शब्दागमको नमस्कार करके पंचास्तिकायरूप अर्थ समयको कहूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए अधिकारमें प्राप्त अपने माननीय देवताको नमस्कार करनेसे सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजनको सूचित करता हूं ऐसा अभिप्राय मनमें धारकर आगेका सूत्र कहते हैं—

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा समयमियं सुणह वोच्छामि॥ २॥
श्रमणमुखोद्गतार्थं चतुर्गतिनिवारणं सनिर्वाणं।
एष प्रणम्य शिरसा समयमिमं शृणुत वक्ष्यामि॥ २॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(एसो) यह मैं जो हूं कुन्दकुन्दाचार्य सो (समणमुहुग्गदम्) वीतराग सर्वज्ञ महाश्रमणके मुखसे प्रगट (चदुग्गदिणिवारणं) नरकादि चारों गतियोंको दूर करनेवाले, (सनिर्वाणं) व सर्व कर्मोंके क्षय रूप निर्वाणको देनेवाले (अट्टं) जीवादि पदार्थसमूहको (सिरसा) उत्तम अंग मस्तकसे (पणमिय) नमस्कार करके (इयं समयं) इस शब्द आगम पंचास्तिकायको (वोच्छामि) कहूंगा (सुणह) हे भव्यजीवो उसको सुनो।

विशेषार्थ–जिस शब्दागमको अर्थात् भगवानकी दिव्यवाणीको 'जिससे जीवादि पदार्थसमूह प्रगट हुए हैं' आचार्यने नमस्कार किया है वह इस प्रकार है जैसा कहा है:—

"गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं।
कण्ठौष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतं॥
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं।
दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः॥

भावार्थ–वह जिनेन्द्रका वचन जो गंभीर है, मीठा है, अतिमनहरण करनेवाला है, दोपरहित है, हितकारी है, कंठ, ओठ आदि वचनके कारणोंसे रहित है, पवनके रोकनेसे प्रगट नहीं है, स्पष्ट है, परम उपकारी पदार्थोंका कहनेवाला है, सर्व भाषामई है, दूर व निकटको समान सुनाई देता है, समता रूप है व उपमा रहित है सो हमारी रक्षा करो।

और भी कहा है:—

**येनाज्ञानतमस्ततिर्विघटते ज्ञेये हिते चाहिते।**
**हानादानमुपेक्षणं च समभूत्तस्मिन् पुनः प्राणिनः॥**
**येनेयं द्रगपैति तां परमतां वृत्तं च येनानिशं।**
**तज्ज्ञानं मम मानसाम्बुजमुदेस्तात्सूर्यवर्योदयः॥**

भावार्थ—जिससे अज्ञान अंधकारका पसारा दूर हो जाता है तथा जिससे जाननेयोग्य हितकारी और अहितकारी पदार्थोंको जानलेनेपर अहितका त्याग, हितका ग्रहण तथा परम वैराग्य प्राणीको प्राप्त हुआ है जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट हो, परमतकी श्रद्धाको हटाता है व जिसके द्वारा रात्रि दिन मिथ्या चारित्र दूर रहता है ऐसे ज्ञानरूपी परम सूर्यका उदय मेरे मनरूपी कमलके विकसित करनेको होवे। शब्दागमसे अर्थागम प्रगट होता है इसलिये आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं कि शब्दागमको नमन करके ज्ञानरूप आगमकी प्रसिद्धिके लिये अर्थरूप आगमको कहूंगा। कोई निकट भव्य पुरुष वीतराग सर्वज्ञप्रणीत शब्दागमको सुनता है फिर उससे कहने योग्य पंचास्तिकाय लक्षणरूप अर्थ आगमको जानता है। फिर उस पदार्थसमूहमें गर्भित शुद्ध जीवास्तिकायरूप पदार्थमें थिर होकर चारों गतियोंका निवारण करता है। चारोंगतियोंको दूर करनेसे ही पंचमगति निर्वाणको पाता है। वहां अपने आत्मासे ही उत्पन्न निराकुल लक्षण निर्वाणके फलरूप अनन्त सुखको अनुभव करता है इसीलिये इस ग्रन्थागमरूप शब्द समय या शब्दागमको नमस्कार करना ठीक है। इस व्याख्यानके क्रमसे सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन इस-

तरह सूचित किये गए हैं। व्याख्यानरूप जो आचार्यके वचन हैं वह व्याख्यान है। गाथा सूत्र व्याख्यान करनेयोग्य हैं इससे व्याख्येय हैं। यह व्याख्यान और व्याख्येयका सम्बन्ध है। द्रव्यागम रूप शब्द समय या आगम अभिधान है—कहनेवाला है। इस शब्द समयसे पंचास्तिकायरूप अर्थ समय या आगम अभिधेय है-कहने योग्य है। यह अभिधान अभिधेय रूप सम्बन्ध है। फल या प्रयोजन यह है कि अज्ञानके नाशको आदि लेकर निर्वाणसुख पर्यंतकी प्राप्ति है। इस तरह सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन जानने। इस तरह अपने इष्ट माननीय देवताको नमस्कारकी मुख्यतासे दो गाथाओंसे प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने श्री अरहंतोंकी उस दिव्य-वाणीरूप शब्दागमको नमन किया है जिससे शुद्ध जीव आदि पदार्थोंका यथार्थ बोध होता है और भव्यजीव उन पदार्थोंका मननकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रका लाभ करके परम समाधिको जागृत करता है जिसकेद्वारा सर्व कर्मोंको क्षय करके निर्वाणके अविनाशी आनन्दको पा लेता है तथा इस नमनसे यह भी सूचित किया है कि मैं 'जो इस पंचास्तिकायरूप आगममें पदार्थोंका स्वरूप बताऊंगा वह उसी अरहंतके उपदेशके अनुकूल कथन होगा, अपनी मनकी कल्पनासे कुछ न कहूंगा। वास्तवमें जिन आगम पदार्थोंका स्वरूप परम्परासे कहनेवाला है इसलिये श्री वर्द्धमानस्वामीसे लेकर अबतक एकसा ही जीवादि पदार्थोंका स्वरूप भिन्न २ कालके भिन्न २ आचार्योंने कथन किया है। इस वाणीका वर्णन ऋषियोंने शास्त्रोंमें स्याद्वाद नयके द्वारा किया

है, जिससे शिष्योंका एकांत हठ मिट जावे और वे अनेक स्वभाव-रूप पदार्थको भिन्न २ दृष्टिसे समझ जावें ।

श्री विद्यानंदि स्वामीने भगवद्वाणीका स्वरूप यह बताया है—

परस्परविरोधवद्विविधभंगशाखाकुलं ।
पृथग्जनसुदुर्गमं तव निरर्थकं शासनम् ॥
तथापि ! जिनसम्मतं सुविदुषां न चात्यद्भुतं ।
भवन्ति हि महात्मनां दुरुदितान्यपि ख्यातये ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका शासन अर्थात् वचन परस्पर विरोधी अस्तित्व नास्तित्व आदि स्वभावोंको कहनेसे नाना प्रकार नयकी शाखाओंसे पूर्ण है तथा जो हेय उपादेयकी बुद्धिसे शून्य जन हैं उनको समझने योग्य नहीं है तथा एकान्त अर्थसे रहित अनेकांतरूप है तौ भी विद्वानोंने भली प्रकार माना है इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । महात्माओंके परस्पर विरुद्ध वचन भी पदार्थोंकी सिद्धिके लिये होते हैं, इससे प्रमाणभूत हैं ।

उपोद्घात—पहले ही "इंदसयवंदियाणं" इत्यादि पाठके क्रमसे १११ गाथाओंसे पंचास्तिकाय छः द्रव्यको कहते हुए प्रथम महा अधिकार है अथवा यही अधिकार श्री अमृतचन्द्रकी टीकाके अभिप्रायसे एकसौ तीन १०३ गाथा पर्यंत है । इसके पीछे " अभिवंदिऊण सिरसा " इत्यादि ५० पचास गाथाओंसे सात तत्व नव पदार्थके व्याख्यान रूपसे दूसरा महा अधिकार है अथवा यही श्री अमृतचन्द्रकी टीकाके अभिप्रायसे ४८ गाथा पर्यंत ही है । इसके पीछे "जीवस्वभावो" इत्यादि बीस गाथा-ओंसे मोक्षमार्ग व मोक्षका स्वरूप कहनेकी मुख्यतासे तीसरा महा

अधिकार है। इस तरह समुदायसे एकसौ इक्यासी गाथाओंके द्वारा तीन महा अधिकार जानने चाहिये। अब इस प्रथम महा अधिकारमें पाठके क्रमसे अंतर अधिकार कहे जाते हैं। एक सौ ग्यारह गाथाओंके मध्यमें "इंदसय" इत्यादि गाथा सात तक समय शब्दका अर्थ पीठिकाके व्याख्यानकी मुख्यतासे है फिर चौदह गाथाओंमें द्रव्योंका स्वरूप पीठिकाके व्याख्यान द्वारा किया है। फिर पांच गाथा कालद्रव्यकी मुख्यतासे हैं। पीछे त्रेपन गाथाएं जीवास्तिकायको कथन करती हैं। फिर दस गाथाओंमें पुद्गलास्तिकायकी मुख्यता है। पश्चात् सात गाथाएं धर्म अधर्म अस्तिकायके कथनकी व्याख्यानरूपसे हैं फिर सात गाथाएं आकाश अस्तिकायके कथनकी मुख्यतासे हैं। पश्चात् आठ गाथाएं चूलिकारूप संक्षेप व्याख्यानकी मुख्यतासे कही हैं। इस तरह आठ अंतर अधिकारोंसे पंचास्तिकाय छः द्रव्यको कहते हुए प्रथम महाअधिकारमें समुदाय पातनिका हुई।

अब इन आठ अंतर अधिकारोंमेंसे पहले ही सात गाथाओंसे समय शब्दके अर्थकी पीठिका कहते हैं। इन सात गाथाओंमेंसे दो गाथाओंमें इष्ट व मान्य व अधिकारप्राप्त देवताको नमस्काररूप मंगलाचरण है। फिर तीन गाथाओंसे पंचास्तिकायका संक्षेप व्याख्यान है। फिर एक गाथासे काल सहित पंचास्तिकायोंको द्रव्यसंज्ञा है। फिर एक गाथासे संकर व्यतिकर दोषका त्याग है। इस तरह समय शब्दार्थकी पीठिकामें तीन स्थलके द्वारा समुदायपातनिका कही है।

उत्थानिका-आगे आधी गाथासे समय शब्दको शब्द, ज्ञान व अर्थ रूपसे तीन प्रकार कहते हुए आगेकी आधी गाथासे

लोक अलोकका विभाग कहता हूं ऐसा अभिप्राय मनमें धारकर अगला सूत्र कहते हैं। इसी तरह आगे भी कहे जानेवाले विवक्षित या अविवक्षित सूत्रके अर्थको मनमें धारकर अथवा इस सूत्रके आगे यह सूत्र उचित है ऐसा निश्चय करके यह सूत्र कहते हैं ऐसी पातनिकाका लक्षण इसी क्रमसे यथासंभव सर्व ठिकाने इस ग्रन्थमें जानना चाहिये।

समवाओ पंचण्हं समउत्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं ॥३॥

समवायः पंचानां समय इति जिनोत्तमैः प्रज्ञप्तं।
स च एव भवति लोकस्ततोऽमितोऽलोकः खं ॥ ३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(पंचण्हं) पांच जीवादि द्रव्योंका (समवाओ) समूह (समउत्ति) समय है ऐसा (जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं) जिनेन्द्रोंने कहा है। ( सो चेव ) वही पांचोंका मेल या समुदाय (लोओ हवदि) लोक है। (तत्तो) इससे बाहर (अमिओ) अप्रमाण (अलोओ) अलोक (खं) मात्र शुद्ध आकाशरूप है।

विशेषार्थ–यहां समय शब्दको शब्द, ज्ञान, अर्थके भेदसे पहले ही तीन प्रकार व्याख्यान कहते हैं। पांच जीवादि अस्तिकायोंको प्रतिपादन करनेवाला वर्णपद वाक्यरूप जो पाठ है उसको शब्द समय या द्रव्यागम कहते हैं। मिथ्यादर्शनके उदयका अभाव होते हुए उन हीं पांचोंका संशय विमोह विभ्रम रहित यथार्थ अवाय, निश्चय, ज्ञान, या निर्णय उसे ज्ञानसमय, अर्थज्ञान, भावश्रुत या भावागम कहते हैं तथा उस द्रव्यागमरूप शब्दसमयसे कहने योग्य जो भावश्रुतरूप ज्ञान समय उससे जानने योग्य जो पांच अस्ति-

कार्योंका समूह सो अर्थ समय है, ऐसा कहा है। यहां शब्दसमयके आधारसे ज्ञानसमयकी प्रसिद्धिके लिये अर्थसमयके व्याख्यानका प्रारंभ है। इस ही अर्थसमयको लोक कहते हैं। वह इस तरह पर है कि जो कुछ ये पांचो इन्द्रियोंके ग्रहण योग्य दिखलाई पड़ता है वह सब पुद्गलास्तिकाय कहलाता है। जो कोई भी चैतन्य रूप है उसे जीवास्तिकाय कहते हैं। इन जीव और पुद्गलकी गतिमें निमित्तरूप धर्म है तथा स्थितिमें निमित्तरूप अधर्म है, अवगाहना देनेका निमित्त आकाश है तथा वर्तनामें निमित्तरूप काल है। जितने क्षेत्रमें ये हैं सो ही लोक है ऐसा ही कहा है—जहां जीवादि पदार्थ दिखलाई पड़ें सो लोक है, इसके बाहर अनन्त शुद्ध आकाश है सो अलोक है, ऐसा सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ—अस्तिकाय पांच हैं, क्योंकि कालको छोड़कर पांच द्रव्यबहु प्रदेशी हैं; इस लिये यहां इन पांचोंके समुदायको लोक कहा है, क्योंकि काल अप्रदेशी है तथा सब द्रव्योंकी वर्तनामें कारण है जैसा कि आचार्य आगे इसी ग्रन्थमें बताएँगे और लोकाकाशमें रत्नकी राशिके समान भिन्न २ असंख्यात द्रव्य हैं इसलिये उस काल द्रव्यको भी लोकके भीतर समझना चाहिये। आकाश एक अखंड द्रव्य है जो कि मर्यादा रहित अनन्त है उसके मध्यमें जितने क्षेत्रमें दूसरे पांच द्रव्य हर स्थानमें दिखलाई पड़ते हैं सो लोक या लोकाकाश है उसके बाहर शुद्ध आकाश अलोक या अलोकाकाश है। धर्म, अधर्म दो द्रव्य लोकाकाशमें एक एक होकर भी लोकाकाशके बराबर व्यापक हैं, पुद्गल परमाणु और स्कंध रूपसे सब जगह फैले हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति भी सर्वत्र व्याप्त हैं—जो देखनेमें आते हैं वादर एकेन्द्रिय व त्रस जीव सो सर्वत्र नहीं हैं परन्तु यथासंभव भरे हुए हैं—कालाणु अलग २ सर्व लोकाकाशको घेरे हैं, इस तरह कोई स्थान ऐसा लोकमें नहीं है जहां ये छः द्रव्य न हों ।

समय—शब्दका अर्थ आगम व पदार्थ भी है । आगमके दो भेद हैं-एक द्रव्य आगम जो शब्द रूप है, एक भाव आगम जो उन शब्दोंसे प्राप्त ज्ञान या भाव है । द्रव्यागम या भावागममें जो कुछ जानने योग्य है वह अर्थ आगम है इसीलिये हम कह सक्ते हैं शब्द समय, ज्ञान समय या भाव समय तथा अर्थ समय । अर्थ समय मात्र पदार्थोंका समुदाय है जिसको लोक कहते हैं । इस ग्रन्थमें इस ही अर्थ समयका व्याख्यान किया जायगा । श्री नेमिचंद सिद्धांत चक्रवर्तीकृत गोम्मटसारमें लोक व अलोकका स्वरूप इस भांति वताया है—

लोगागासपदेसा छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति ।
सव्वमलोगागासं अण्णेहिं विवज्जियं होदि ॥ ५८७ ॥
जीवा अणंतसंखाणंतगुणा पुग्गला हु तत्तो दु ।
धम्मतियं एक्केकं लोगपदेसप्पमा कालो ॥ ५८८ ॥
( जीवकांड )

भावार्थ—लोकाकाशके प्रदेश सर्व ही छः द्रव्योंसे सदा व्याप्त हैं । वहुरि अलोकाकाश सर्व ही अन्य द्रव्योंसे रहित है । लोकमें जीव द्रव्य अनंत हैं उनसे अनंतगुणे पुद्गल हैं, धर्म, अधर्म, आकाश एक एक द्रव्य है । लोकाकाशके प्रदेश जितने हैं उतने कालाणु हैं ।

उत्थानिका—आगे पांच अस्तिकायोंकी विशेष संज्ञा और इनमें सामान्य या विशेष अस्तित्व तथा कायत्व प्रगट करते हैं।

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ॥४॥

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ तथैव आकाशम्।
अस्तित्वं च नियता अनन्यमया अणुमहान्तः ॥ ४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जीवा) अनंतानंत जीव (पुग्गलकाया) अनंन्तानंत पुद्गलास्तिकाय (धम्माधम्मा) एक धर्मास्तिकाय एक अधर्मास्तिकाय (तहेव) तैसे ही (आयासं) एक अखंड आकाश ये सब (अत्थित्तम्हि) अपने अस्तित्वमें या अपनी सत्तामें (णियदा) निश्चित हैं (य) और (अणण्णमइया) अपनी सत्तासे अपृथग्भूत हैं या एकमेक हैं, और (अणुमहंता) प्रदेशोंमें अनेक हैं या बहु प्रदेशी हैं।

विशेषार्थ—सत्ताके दो भेद हैं—एक सत्ता सामान्य या महासत्ता, दूसरे सत्ताविशेष या अवान्तरसत्ता। ये जीवादि पांचों अस्तिकाय इन दोनों प्रकारकी सत्तामें स्थित हैं सो इस तरह नहीं हैं जैसे एक कुंडीमें और फल अलग २ हों किंतु वे पांचों अपनी २ सत्तासे एकमेक या अनन्य हैं। जैसे घटमें रूपादि व्यापक हैं या शरीरमें हाथ पग आदि हैं या खंभेमें उसका सार या गूदा है। इस कथनसे यह दिखाया कि आधार और आधेयके विना भी सत्ताका इनके साथ एकमेकपना कहा जाता है। अणुसे जानने योग्य प्रदेश होता है इसलिये यहां अणुशब्दसे प्रदेश लेना चाहिये, सो ये पांचों ही द्रव्य या अस्तिकाय अपने प्रदेशोंकी अपेक्षा बड़े हैं। इसलिये इनमें कायपना कहा गया। एक प्रदेशी परमाणुको कायपना

इस अपेक्षासे है कि वे परमाणु अपने स्निग्ध या रूक्षगुणके कारणसे स्कंध बननेके कारण हैं इसलिये उपचार या व्यवहारसे उनको कायपना है। कालाणुओंमें परस्पर बंधके कारण स्निग्ध या रूक्षपनेकी शक्ति नहीं है इसलिये उपचारसे भी उनमें कायपना नहीं है। इनमें इस शक्तिका अभाव इसीलिये है कि सर्व कालाणु अमूर्तीक हैं। इस तरह इस गाथामें पांच अस्तिकायोंके विशेष नाम व उनका अस्तित्त्व व कायपना बताया गया। इस सूत्रसे यह तात्पर्य लेना चाहिये कि इनमें एक शुद्ध जीवास्तिकाय ही ग्रहण करने योग्य है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने बताया है कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांच द्रव्य अपनी सत्तामें सदा निश्चल रहते हैं तथा ये बहु प्रदेशी हैं अर्थात् कायवान हैं। जो एक अणु मात्र आकाशका भाग है उसको प्रदेश कहते हैं। जिन द्रव्योंकी माप किये जानेपर एकसे अधिक प्रदेश हों उन सबको कायवान कहेंगे। पुद्गलका एक परमाणु यद्यपि उस समय एक प्रदेशका धारी है परन्तु वह कालांतरमें दूसरे परमाणुसे बंधकर स्कंध बन जाता है इसलिये पुद्गलमें कायवानपनेकी शक्ति है। सत्ता नामका सामान्यगुण सर्व द्रव्योंमें व्यापक है इसलिये सब द्रव्योंकी एक सत्ताको महासत्ता कहते । प्रत्येक जुदे २ द्रव्यकी जो सत्ता है उसको विशेष सत्ता कहते हैं। सत्ता द्रव्यमें व्यापक है, इसलिये दोनों एक ही जैसे सफेद वस्त्रमें सफेदी व्यापक है। सत्ता द्रव्यसे न कभी भिन्न थी, न भि होगी, न भिन्न है; इसलिये दोनों एक हैं। सत् रूप ही द्रव्य होता है तथा वह सत्पना द्रव्यके

परिणमन अर्थात् अवस्थाओंकी अपेक्षा उत्पत्ति विनाश करते हुए भी सदा बने रहनेकी दृष्टिसे कहा जाता है। ऐसा बतानेसे आचार्यने यह बात दिखलादी है कि ये सब सत् रूप द्रव्य सदासे हैं व सदा रहेंगे। इसी तरह इनका समुदायरूप जगत भी सदासे है और सदा रहेगा। जैसे ये सब द्रव्य अकृत्रिम हैं वैसे उनका समुदाय यह लोक भी अकृत्रिम है तथा इन द्रव्योंमें परिणमन शक्ति है इसीसे ये सब पदार्थ और उनका समूह अनेक अवस्थाओंको प्रगट करता रहता है।

श्री गोमटसारमें पांच अस्तिकायोंको इस भांति दिखाया है।

दव्वं छक्कमकालं पंचत्थीकायसण्णिदं होदि।
काले पदेसपचयो जम्हा णत्थित्ति णिद्दिट्ठं ॥६११॥ जी० का०

भावार्थ–छः द्रव्य कालके विना पांच अस्तिकाय कहलाते हैं क्योंकि कालके प्रदेश समुदाय नहीं है ऐसा कहा है।

उत्थानिका–आगे यह प्रकाश करते हैं कि पहली गाथामें जिस अस्तित्व व कायत्वको कहा गया है वह किस प्रकारसे संभव है–

जेसिं अत्थिसहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं।
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं ॥ ५ ॥

येषामस्तिस्वभावः गुणैः सह पर्यायैर्विविधैः।
ते भवन्त्यस्तिकायाः निष्पन्नं यैस्त्रैलोक्यम् ॥ ५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–( जेसिं ) जिन पांच अस्तिकायोंका (विविहेहिं) नाना प्रकारके (गुणेहिं पज्जएहिं सह) गुण और पर्यायोंके साथ (अत्थि..हाओ) अस्तिस्वभाव है (ते) वे (अत्थिकाय) अस्तिकाय (होंति) होते हैं। (जेहिं) जिन्होंके द्वारा (तिइलुक्कं) यह तीन लोक (णिप्पण्णं) रचा हुआ है।

विशेषार्थ—यहां अस्तिस्वभावको सत्ता, तन्मयपना या स्वरूप कहते हैं। जो द्रव्यके साथ साथ रहें उनको गुण कहते हैं। जो अलग २ क्रमसे हों उनको पर्याय कहते हैं। ये गुण और पर्याय अपने द्रव्यके साथ संज्ञा, लक्षण, संख्या, प्रयोजनादिकी अपेक्षा भेद रखते हुए भी प्रदेश रूपसे या सत्ता रूपसे भिन्न नहीं है, अभेद हैं। ये गुण और पर्याय नाना प्रकारके होते हैं। जैसे स्वभाव गुण, विभाव गुण या स्वभाव पर्याय, विभाव पर्याय तथा अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय। जीवके सम्बन्धमें कहते हैं कि केवलज्ञान आदि जीवके स्वभाव गुण हैं, मतिज्ञान आदि जीवके विभाव गुण हैं। सिद्धका स्वभाव सो स्वभाव पर्याय है। नरनारकादि रूप विभाव पर्याय है। पुद्गलके सम्बन्धमें कहते हैं—शुद्ध (अबंध) परमाणुमें जो वर्णादि हैं वे स्वभाव गुण हैं; दो अणुके स्कंध आदिमें जो वर्णादि हैं वे विभाव गुण हैं। शुद्ध परमाणु रूपसे रहना सो स्वभाव द्रव्य पर्याय है। शुद्ध परमाणुका वर्णादिसे अन्य वर्णादि रूप परिणमना सो स्वभाव गुण पर्याय है। परमाणुओंका दो अणु आदिके स्कंध रूप परिणमना सो विभाव द्रव्य पर्याय है उन ही द्विणुकादि स्कंधोंमें वर्णादिसे अन्य वर्णादि रूप पलटना सो विभाव गुण पर्याय है। ये जीव पुद्गलके विशेष गुण कहे गए। सामान्य गुण अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि हैं जो सर्व द्रव्योंमें साधारण पाए जाते हैं। धर्मादि द्रव्योंके विशेष गुण व पर्याय आगे जहां उनका कथन होगा कहेंगे। इस तरहके गुण पर्यायोंके साथ जिन पांच अस्तिकायोंकी सत्ता है इससे वे अस्ति रूप हैं। अब कायपनेको कहते हैं।

शरीरके समान जो हों उसे काय कहते हैं अर्थात् जिनमें बहुतसे प्रदेशोंका समूह हो इन ही पांच अस्तिकायोंके द्वारा तीन लोककी रचना है। तीन लोकमें जो कोई उत्पाद व्यय ध्रौव्यवान पदार्थ हैं वे ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप अस्तिपनेको सूचित करते हैं। क्योंकि सूत्रमें यह वचन है "उत्पादव्ययध्रौव्यरूपं सत्" जीव पुद्गल आदि तीन लोकमें भरे हुए तीन लोकके आकार परिणमन करनेवाले हैं। ये ऊपर, मध्य व अधो तीनों भागमें है। ये जीव और पुद्गल आदि पांच द्रव्य अवयव या अंश या प्रदेश सहित हैं। इसलिये इनमें कायपना इस रूपसे भी जानना चाहिये, केवल पूर्व कहे प्रमाण ही नहीं; काल द्रव्य एक प्रदेशी है इसलिये इसमें कायपना नहीं है। इस तरह अस्तित्व और कायत्व जानना चाहिये। इनमें जो शुद्ध जीवास्तिकायके अनंतज्ञानादि गुणोंकी सत्ता व उसकी सिद्धपर्यायकी सत्ता व उसका शुद्ध असंख्यात प्रदेश रूप कायपना है सो ग्रहण करना योग्य है।

इस तरह तीन गाथातक पंचास्तिकायका संक्षेप व्याख्यान करते हुए दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने दिखाया है कि द्रव्यका अस्तिपना द्रव्यके गुण और पर्यायोंके साथ रहता है। द्रव्यमें सदा साथ रहनेवाले गुण दो प्रकारके होते हैं। गुणोंका अमिट समुदाय ही द्रव्य है। ये गुण दो प्रकारके होते हैं-एक सामान्य दूसरे विशेष। जो सब द्रव्योंमें पाए जावें वे सामान्य हैं और जो एक जातिके द्रव्यमें ही पाए जावें वे विशेष हैं।

जिससे वस्तुकी सत्ता रहे वह अस्तित्व गुण है, जिससे

वस्तु कुछ कार्य कर सके सो वस्तुत्व गुण है, जिससे वस्तु कुछ न कुछ आकार रखता हो सो प्रदेशत्व गुण है, जिससे वस्तु सदा परिणमन करता रहे सो द्रव्यत्व गुण है, जिससे वस्तु किसी न किसीके ज्ञानका विषय हो सो प्रमेयत्व गुण है, जिससे वस्तु परिणमन करते हुए भी अपने सर्व गुणोंके समूहको अपनेसे कम व अधिक न करे, अखंड रूपसे बना रहे सो अगुरुलघु गुण है। ये छः गुण सामान्य गुण प्रसिद्ध हैं जो सब छहों द्रव्योंमें व्यापक हैं। जीवके विशेष गुण चेतना, वीर्य, सम्यक्त, सुख, चारित्र आदि हैं। पुद्गलके विशेष गुण स्पर्श रस गंध वर्णादि हैं। धर्मास्तिकायका विशेष गुण जीव और पुद्गलोंको गमनमें निमित्त होना, अधर्मास्तिकायका विशेष गुण जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें निमित्त होना व आकाशका विशेष गुण सर्व अन्य द्रव्योंको अवकाश देना तथा काल द्रव्यका विशेष गुण सर्व द्रव्योंके वर्तन व अवस्था पलटनमें निमित्त होना है। इन ही गुणोंमें जो समय समय परिणमन होता है अर्थात् उनकी अवस्थाएं बदलती हैं उनको पर्याय कहते हैं। ये पर्यायें यद्यपि एक एक गुणकी अनंत होती हैं तथापि एक समयमें एक पर्याय होती है तब पिछली पर्याय नष्ट होजाती है। यद्यपि द्रव्यमें अनंतगुण होनेसे उन सबकी अनंतपर्यायें एक कालमें रह सक्ती हैं तथापि समुदाय रूपसे उन सबको एक द्रव्य पर्याय कहते हैं। द्रव्यके आकार पलटनेको व्यंजन पर्याय व प्रदेशत्व गुणका विकार कहते हैं—प्रदेशत्व गुणके सिवाय अनंत गुणोंमें जो पर्यायें होती हैं उनको अर्थपर्याय कहते हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल सदा स्वभावमें रहते हैं इसलिये

इनके स्वाभाविक गुण होते हैं व इनमें स्वभाव पर्यायें ही होती हैं। जीव और पुद्गलोंमें परस्पर बंध होता है इसमें इनमें विभाव गुण व विभाव पर्यायें होती हैं, परन्तु शुद्ध जीवोंमें व शुद्ध पुद्गल परमाणुओंमें स्वभाव गुण व स्वभाव पर्यायें होती हैं—पुद्गलके परमाणु भी अपने स्निग्ध रूक्ष गुणके कारण परस्पर बंध जाते हैं, स्कंध बन जाते हैं, इन स्कंधोंमें विभाव गुण व विभाव पर्यायें होती हैं।

सर्व द्रव्योंमें साधारण गुण जो अगुरुलघु गुण है उसमें सदा ही बारह प्रकार परिणमन हुआ करता है—छः वृद्धिरूप व छः हानिरूप। इस गुणमें जितने गुणांश या अविभाग परिच्छेद हैं उनमें ही वृद्धि हानि समुद्रमें जलकी कल्लोलकी तरह हुआ करती हैं। उन बारह प्रकार वृद्धि हानिको अनंत भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि व अनंतगुणवृद्धि, अनन्तभागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि, असंख्यात गुणहानि व अनन्तगुणहानि कहते हैं। इस गुणके परिणमन द्वारा सर्व द्रव्योंके गुण या सर्व द्रव्य परिणमन करते रहते हैं—शुद्ध जीवादि द्रव्योंमें पर द्रव्यका बंधन होनेसे जो परिणमन होता है वह एकसा ही सदृश परिणमन होता है इसमे वास्तवमें द्रव्यके स्वभावकी हानि नहीं होती है। जैसे क्षीर समुद्रमें लहरें उठनेपर भी वे सब लहरें क्षीर जल रूप ही हैं इसी तरह शुद्ध द्रव्योंमें परिणमन समझना चाहिये जैसा कि आलापपद्धतिमें देवसेन आचार्यने कहा है—

**अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।**
**उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले॥**

भावार्थ–अनादि अनंत द्रव्यके भीतर प्रति समयमें स्वाभाविक पर्यायें समुद्रमें जलकी तरंगके समान उठती बैठती रहती हैं। सिद्ध भगवानमें जो केवलज्ञानादि व सुखादि गुण हैं वे घटते नहीं वैसेके वैसे परम शुद्ध व पूर्ण बने रहते हैं उन सबमें परिणमन अगुरुलघु गुणके द्वारा होता है। इसीको सदृश या एकरूप परिणमन कहते हैं। वास्तवमें इनका अनुभव होना कठिन है–आगम प्रमाणसे मानना योग्य है। हम केवल यह अनुमान लगा सक्ते हैं कि जब अशुद्ध द्रव्योंमें अर्थात् संसारी जीव व पुद्गल स्कंधोंमें हम क्षण क्षण अवस्थाका बदलना देखते हैं तब यह परिणमन स्वभाव द्रव्यका कभी मिट नहीं सक्ता। परद्रव्यके बंधके कारणसे ये पर्यायें अशुद्ध होती हैं परन्तु जहां बंध नहीं है वहां ये पर्यायें अशुद्ध होती हैं जैसे स्फाटिकमणिमें चमक सदा झलकती रहती है। यदि काले पीले डाकका निमित्त मिले तो काली पाली झलके। यदि निमित्त न मिले तो अपने स्वभाव रूप सफेदीमें सदा ही चमकती रहेगी। इसी शुद्ध चमकनेकी तरह शुद्ध जीवादि द्रव्योंमें शुद्ध परिणमन समझना चाहिये।

कर्मोंके उदयके निमित्तसे छोटा बड़ा शरीर पानेसे जीवोंके आकार शरीर प्रमाण बदलते रहते हैं तथा परमाणुओंके मिलने बिछुड़नेसे पुद्गलोंके स्कंध अनेक आकार रूप होते रहते हैं इसलिये आकार पलटने रूप व्यंजन पर्याय जीव पुद्गलोंमें ही उनकी अशुद्ध अवस्थामें होती है। शुद्ध अवस्थामें ये दोनों व धर्मादि चार द्रव्य सदा ही अपने आकारको बदलते नहीं हैं इसलिये तब उनमें अर्थ पर्याय या गुणोंकी स्वाभाविक सदृश पर्याय ही होती है, व्यंजन पर्याय नहीं होती है। ऐसा ही आलापपद्धतिमें कहा है—

धर्माधर्मनभःकालाः अर्थपर्यायगोचराः ।
व्यंजनेन तु सम्बद्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥

भावार्थ–धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें केवल अर्थपर्याय ही होती है, जीव और पुद्गलोंमें अर्थपर्यायके सिवाय व्यंजन पर्यायें भी होती हैं।

जो द्रव्य अखंड हैं व एक प्रदेशसे अधिक स्थान आकाशका घेरते हैं उनको बहु प्रदेशी या कायवान कहते हैं। धर्म, अधर्म अखंड व एक एक होकर लोकाकाश मात्रमें व्यापक हैं इसलिये काय हैं; आकाश अनंतानंत प्रदेशरूप होकर एक अखंड है इससे कायरूप है; प्रत्येक जीव निश्चयसे लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशी है, परंतु इसके प्रदेशोंमें कर्मोंकि उदयके निमित्तसे संकोच व विस्तार होनेकी शक्ति है इसलिये ये जीव समुद्घातके सिवाय सदा शरीरके प्रमाण रहते हैं। तौभी सबसे छोटा शरीर जो लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदियाका प्राप्त करते हैं वह यद्यपि घनांगुलके असंख्यातवें भाग छोटा है तथापि उसके प्रदेशोंकी माप असंख्यात ही आवेगी इससे संसारीजीव संकोच करते हुए भी असंख्यात प्रदेशी अवगाहसे कम नहीं धारण करते हैं। यह समझना चाहिये कि असंख्यातके असंख्यात ही भेद होते हैं। मुक्तावस्थामें भी जीव अंतिम छोड़े हुए शरीरमें जितना बड़ा था उतना बड़ा रहता है-विना कर्मके उदयके फैलता नहीं। जब केवली भगवान तेरहवें गुणस्थानमें केवल समुद्घात करते हैं उस समय ही लोकपूर्ण अवस्थामें यह जीव तीन लोक व्यापी होता है अन्य समयमें संकुचित रहता है। पुद्गलोंके भीतर ऐसी परस्पर

मिलनेकी शक्ति है कि उनके स्कंध बंधरूप ऐसे बन जाते हैं कि वे अखण्ड होजाते हैं, वे अखंड स्कंध कोई संख्यात कोई असंख्यात कोई अनन्त परमाणुओंके बंधसे बनते हैं इसलिये उनमें भी बहु प्रदेशीपना या कायपना होता है। एक महास्कन्ध पुद्गलोंका तीन लोक व्यापी है, वह असंख्यात प्रदेशी कायवान् लोकाकाशके बराबर है। यद्यपि छुटा हुआ शुद्ध परमाणु वास्तवमें एक प्रदेशवाला है, कायवान नहीं है तौभी उसमें दूसरे परमाणुसे मिलनेकी शक्ति है इसलिये वह काय बन सक्ता है परन्तु यह शक्ति कालाणुओंमें नहीं है इसलिये पुद्गल कायवान है परन्तु काल कायवान नहीं है।

तीन लोक सर्वत्र सूक्ष्म बादर जीवोंसे व पुद्गलके परमाणु और स्कंधोंसे भरा हुआ है। ये सब संसारी जीव चलते फिरते, जन्मते मरते, काम करते रहते हैं तथा पुद्गल भी चलते व अवस्था बदलते रहते हैं, स्वयं परस्पर मिलकर नाना वस्तुएं पैदा करते हैं। इनके कार्योंमें सहकारी शेष चार द्रव्य हैं। इस लोकमें प्रगट देखनेमें आता है कि कोई उपजता है तो कोई मरता है, कहीं कुछ बनता है कहीं कुछ बिगड़ता है, शरीर दिनपर दिन पुराना पड़ता जाता है। बालक दिन पर दिन छोटेसे बड़ा होता है। भावोंमें भी उपयोग पलटता रहता है। क्रोधसे मान, मानसे क्रोध, मायासे लोभ, लोभसे माया, कभी क्रोधसे क्षमा व शांति, कभी शांतिसे क्रोध, कभी अज्ञानसे ज्ञान, कभी ज्ञानसे अज्ञान। पुद्गलोंमें पानीसे भाफ बनना, भाफका पानी बनना, हवाओंको मिलकर जल बनना, मेघोंका बरसना, नदीका बढ़ना, सूर्यातापसे सूखना आदि। लोकमें संसारी जीवोंमें व पुद्गलोंमें उत्पत्ति विनाश बराबर देखनेमें आता है जिसका भाव यही है कि पुरानी

अवस्थाका बिगड़ना सो ही नई अवस्थाका जन्मना है। जैसे गेहूंका आटा बना लिया तब गेहूंकी दशाका नाश होना सो ही आटेका पैदा होना है। इस तरह लोककी सब द्रव्योंमें पर्यायें पलटती रहती हैं तथापि द्रव्य व गुण जिसमें पर्यायें होती हैं वह कभी नष्ट नहीं होते, ध्रौव्य रहते हैं। इसी लिये कहा है कि जितने सत् द्रव्य हैं वे सब उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हैं अथवा यह जगत् जो द्रव्योंका समुदाय है वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है अथवा यह कह सके हैं कि यह जगत् नित्य अनित्य दोनों रूप है। मूल द्रव्य कभी नहीं नष्ट होते-बने रहते हैं, इससे नित्य स्वरूप है। उनमें अवस्थाएं पलटती रहती हैं इससे यह अनित्य स्वरूप है। यहां इस गाथामें पांच अस्तिकायोंका ही वर्णन है इसलिये कहा है कि काल सिवाय पांच द्रव्य जो बहुप्रदेशी हैं वे अपने अस्तिपने और कायपनेको रखते हैं और उनहीसे तीनलोककी रचना हो रही है। तात्पर्य यह है कि इस जगतके नाटकको क्षणिक जान कर इसकी भिन्न२ अवस्थारूपी खेलोंमें व दृश्योंमें व अवस्थाओंमें मोहित होकर अज्ञानी न होना किन्तु नरनारकादि सर्व अवस्थाओंको क्षणभंगुर जानकर उनसे उदासीन रहकर अपने शुद्ध जीव स्वभावपर दृष्टि रखकर उसीके स्वरूपकी भावना करनी योग्य है। द्रव्यसंग्रहमें इनको अस्तिकाय कहा है—

संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेशा तम्हा काया य अत्थिकाया य॥

अर्थात्–ये पांच द्रव्य सत् रूप हैं इसलिये तो जिनेन्द्रोंने अस्ति कहा है तथा शरीरके समान बहुप्रदेशी हैं इसलिये इनको काय कहा है। अस्तिकायका यह स्वरूप है—

उत्थानिका–आगे पंचास्तिकायको और कालको द्रव्यसंज्ञा है ऐसा कहते हैं—

ते चेव अत्थिकाया तेकालियभावपरिणदा णिच्चा।
गच्छंति दवियभावं परियट्टणलिंगसंजुत्ता ॥ ६ ॥
ते चैवास्तिकायाः त्रैकालिकभावपरिणता नित्याः।
गच्छन्ति द्रव्यभावं परिवर्त्तनलिंगसंयुक्ताः ॥ ६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(ते चेव) ये ही ऊपर कहे (अत्थिकाया) पांच अस्तिकाय (परियट्टणलिंगसंजुत्ता) द्रव्योंका परिवर्त्तन करना है चिन्ह जिसका ऐसे काल सहित (तेकालियभावपरिणदा) तीनकाल सम्बन्धी पर्यायोंमें परिणमन करते हुए व (णिच्चा) अविनाशी रहते हुए (दवियभावं) द्रव्यपनेको (गच्छंति) प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ–जैसे धूम अग्निके बतानेके लिये कार्यरूप लिंग है वैसे ही जीव पुद्गलादि द्रव्योंका परिणमना या पलटना ही काल द्रव्यका चिन्ह, गमक, ज्ञायक तथा सूचनारूप है। अर्थात् द्रव्योंके पलटनेमें कोई भी जो निमित्त कारण है वही परिवर्तन लिंग कालाणु या द्रव्यकाल है। यहांपर कोई शंका करता है कि 'कालद्रव्यसंयुक्ता,' ऐसा क्यों नहीं कहा, परिवर्तन लिंग संयुक्ता ऐसा अस्पष्ट वचन क्यों कहा ? इसका समाधान यह है कि पंचास्तिकायके प्रकरणमें कालकी मुख्यता नहीं है। क्योंकि पदार्थोंका नएसे पुरानापना होता है इस परिणतिरूप कार्य लिंगसे ही कालका जानपना होता है इसीलिये ही इस बातकी सूचनाके लिये परिवर्तनलिंग ऐसा कहा है। इस कालद्रव्यसहित ये जीवादि पांचों ही अस्तिकाय यद्यपि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा तीन काल सम्बन्धी

पर्यायोंमें परिणमन करते हुए क्षणिक, अनित्य या विनाशीक हैं तोभी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा नित्य हैं। इस तरह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा एक ही समयमें नित्य तथा अनित्यरूप होते हुए द्रव्य नाम पाते हैं। इन छः द्रव्योंके मध्यमें देखे, सुने, अनुभव किये हुए आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदिकी इच्छारूप सर्व परद्रव्योंके आलम्बनसे उत्पन्न जो संकल्प विकल्प उनसे शून्य जो शुद्ध जीवास्तिकाय है उसका श्रद्धान, ज्ञान, व आचरणरूप अभेद रत्नत्रयमई जो विकल्प रहित समाधि या समभाव उससे उत्पन्न जो वीतराग सहज अपूर्व परमानंद उसरूप स्वसंवेदन ज्ञानसे प्राप्त होने योग्य व अनुभवने योग्य अथवा उससे भरपूर शुद्ध निश्चयनयसे अपने ही शरीरके भीतर प्राप्त जो जीव द्रव्य है वही ग्रहण करने व अनुभवने योग्य है।

भावार्थ—इस गाथामें यह बतलाया है कि यद्यपि जीवादि पांच अस्तिकाय हैं तथापि इनके भीतर जो समय समय परिणमन होता है उसका निमित्त कारण कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये। उसहीको कालद्रव्य कहते हैं। हरएक कार्यमें उपादान और निमित्त दो कारणोंकी आवश्यक्ता है। परिणमनरूप कार्य्यमें उपादान कारण तो द्रव्य आप स्वयं है तब निमित्त कारण अवश्य दूसरा चाहिये वह काल द्रव्य है। यह रत्नोंकी राशिके समान भिन्न २ असंख्यात ही लोकाकाशके प्रदेशोंपर असंख्यात कालाणु हैं। ये एक प्रदेशी हैं। तथापि इतने आवश्यक हैं कि इनके विना पांच अस्तिकायोंका परिणमन नहीं होसक्ता है। पदार्थोंका नएसे पुराना होना अनुभव सिद्ध है, यही कार्यरूप अनुमान

है इसीसे कालाणुका अनुमान होता है। इन कालाणुओंके साथ ये पांचों ही अस्तिकाय द्रव्य कहलाते हैं क्योंकि ये छहों द्रव्य सदा ही द्रवते या परिणमन करते रहते हैं। इनमें तीन काल सम्बन्धी परिणाम होते हैं—जो पर्याय होचुकी वह भूत है, जो होवेंगी वह भविष्य है व जो होरही है वह वर्तमान है। ये पर्यायें अनित्य हैं। इन परिणामोंको रखते हुए भी ये द्रव्य न कभी मूलसे नष्ट होते हैं न कभी मूलसे जन्मते हैं, किन्तु सदा बने रहते हैं, इसीलिये ये नित्य या अविनाशी हैं। जैसे ये छः द्रव्य एक कालमें नित्यानित्य स्वरूप हैं वैसे इनका समुदायरूप लोक नित्यानित्य स्वरूप है। जैन सिद्धांतने सत् रूप इन छः द्रव्योंको स्वीकार किया है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वार्थसारमें कहते हैं—

**धर्माधर्मावथाकाशं तथा कालश्च पुद्गलाः ।**
**अजीवाः खलु पञ्चैते निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥ २ ॥**
**एते धर्मादयः पञ्च जीवाश्च प्रोक्तलक्षणाः ।**
**षट् द्रव्याणि निगद्यन्ते द्रव्ययाथात्म्यवेदिभिः ॥ ३ ॥**

भावार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाच अजीव हैं ऐसा सर्वदर्शी भगवानने कहा है। इन पांचोंमें जीव द्रव्यको लेकर सब छः द्रव्य द्रव्यके यथार्थ ज्ञाता भगवानने कहे हैं।

इस तरह काल सहित पांच अस्तिकायोंको द्रव्यसंज्ञा है ऐसा कथन करते हुए गाथा पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ये छहों द्रव्य परस्पर अत्यन्त मिलाप रखते हुए भी अपने अपने स्वरूपसे गिरते नहीं हैं।

**अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।**
**मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥ ७ ॥**

अन्योऽन्यं प्रविशन्ति ददन्त्यवकाशमन्योऽन्यस्य ।
मिलन्त्यपि च नित्यं स्वकं स्वभावं न विजहन्ति॥ ७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—( अण्णोण्णं पविसंता ) अन्य क्षेत्रमें अन्य क्षेत्रमें परस्पर सम्बन्धके लिये आते हुए ( अण्णम् अण्णस्स ) एक दूसरेको (ओगासं) परस्पर अवकाश (दिंता) देते हुए (णिच्चं मेलंता वि य) और सर्वकाल परस्पर मिलते हुए भी (सगं सभावं) अपने अपने स्वभावको (ण विजहंति) नहीं छोड़ते हैं।

विशेषार्थ—ये छः द्रव्य परस्पर अवकाश देते हुए अपने २ ठहरनेके काल पर्यंत ठहरते हैं, परन्तु उनमें संकर व्यतिकर दोष नहीं आता है। एकमेक होजानेको संकर दोष कहते हैं, परस्पर विषय गमनरूप व्यतिकार दोष होता है अर्थात् एक द्रव्यका विषय दूसरे द्रव्यमें चला जावे जैसे जीवका गुण पुद्गलमें। इस गाथामें एक दूसरेमें प्रवेश करना जो वाक्य है वह क्रियावान या हलन चलन करनेवाले जीव और पुद्गलोंकी अपेक्षासे है, आए हुओंको अवकाश देना यह वाक्य सक्रिय द्रव्य जीव पुद्गलोंका निःक्रिय द्रव्य आकाशके मिलापकी अपेक्षासे है, नित्य सर्व काल मिलके रहते हैं यह वाक्य निःक्रिय द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और कालकी अपेक्षासे है। इस तरह छःद्रव्यके मध्यमें अपनी प्रसिद्धि, पूजा व लाभ व देखे सुने अनुभवे हुए कृष्ण, नील, कापोत तीन अशुभलेश्याको आदि लेकर सर्व परद्रव्योंके आलम्बनसे उत्पन्न जो संकल्पकी तरंगमाला उनसे रहित तथा वीतराग निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न परमानन्दरूप सुखरसका आस्वाद ऐसा जो परम समतारसमई भाव उस स्वभावसे अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञानसे

प्राप्त होने योग्य व उससे पूर्ण शुद्ध पारिणामिक परमभावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे या निश्चयनयसे अपने ही शरीरके भीतर प्राप्त जो शुद्ध जीवास्तिकायरूप जीव द्रव्य है सो ही ग्रहण करने योग्य है तथा दूसरे एकांतवादी जो राग, द्वेष, मोहसहित हैं उनके यहां वायुको रोकनेरूप इत्यादि जो सर्व शून्य ध्यानका व्याख्यान है या आकाशका ध्यान है सो सर्व व्यर्थ ही है ।

यहां संकल्पविकल्पका भेद कहते हैं–

बाहरी चेतन व अचेतन या मिश्र द्रव्यमें यह परिणाम करना कि यह मेरे हैं सो संकल्प है। भीतर हर्ष या विषादका यह परिणाम करना कि मैं सुखी हूं या दुःखी हूं सो विकल्प है। ऐसा संकल्प विकल्पका लक्षण जानना चाहिये। यहां कोई कहे कि वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें वीतरागका विशेषण निरर्थक है उसका समाधान करते हैं कि वीतराग विशेषण नीचे लिखे कारणोंसे निरर्थक नहीं हैं। एक तो इससे यह बताया है कि आर्त्त या रौद्रध्यानरूप जो विषय कषायके निमित्त अशुभ ध्यान है उसका यहां निषेध है। दूसरे इससे हेतु व हेतुमद्भावका कथन किया गया। तीसरे कर्मधारय समान है। चौथे भावनाके ग्रंथमें पुनरुक्त दोषको नहीं गिनते हैं। पांचवें स्वरूपका विशेषण है। छठे दृढ़ करनेका अभिप्राय है। ऐसा जहां कहीं वीतराग निर्विकल्पसमाधिका व्याख्यान हो वहां यही भाव सर्व स्थानोंमें जानना चाहिये। यदि वीतराग सर्वज्ञ निर्दोष परमात्मा शब्द या ऐसे ही और शब्द कहीं आवें और कोई ऐसा ही पूर्व पक्ष करे तो उसका समाधान इसी तरह कराना योग्य है। हेतु हेतुमद् भावका यह अर्थ है कि जिस कारणसे वीतराग है उस ही कारणसे निर्विकल्प समाधि है ॥

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि ये छः मूलद्रव्य कभी भी अपने द्रव्यपनेको नहीं छोड़ते हैं और न एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप होता है। अनादिसे ही संसारी आत्माओंमें पुद्गलोंसे रचे हुए तैजस और कार्मण शरीरोंका सम्बन्ध है। इन शरीरोंके बनने योग्य पुद्गलकी वर्गणाएं प्रवेश करती रहती हैं पिछली छूटती रहती हैं तथापि न वे कभी जीवद्रव्यमें बदल सक्ती हैं न जीव कभी उन रूप होता है। आकाशद्रव्य गमन करते हुए जीव पुद्गलोंको अवकाश देता रहता है व जो जीव पुद्गल स्थिर हैं उनको भी स्थान देता है। तथा निगोद शरीरमें अनंतानंत जीव एक क्षेत्रमें परस्पर मिलके रहते हैं व सिद्धका आत्मा अनंत सिद्धोंको अवकाश देता है। या आकाशका एक प्रदेश एक परमाणुको या सूक्ष्म अनंतपरमाणुओंको अवकाश देता है-तथा आकाशके साथ धर्म, अधर्म व काल सदा ही मिले रहते हैं। इस तरह छहोंद्रव्य सदा ही एक क्षेत्रमें तिष्टते हैं तथापि कोई भी द्रव्य अपने२ स्वभावको नहीं छोड़ता है, सर्व अपनी२ सत्ताको भिन्न२ बनाए रहते हैं। यदि द्रव्य परस्पर एक क्षेत्रमें रहते हुए कभी भी अन्य द्रव्यरूप हो जाते हों तो मूल छः द्रव्य हैं तथा वे सत्‌रूप हैं ये बात नहीं रह सक्ती है। ऐसा ही श्री उमास्वामी महाराजने तत्वार्थसूत्रमें कहा है। ये द्रव्य "नित्य अवस्थितानि" हैं अर्थात् सदा रहते हैं तथा अपने२ स्वरूप व संख्याको कभी छोड़ते नहीं हैं। इस कथनसे यह भी भाव लेना चाहिये कि जहां हमारे व आपके आत्माके प्रदेश हैं वहां अनंत तैजस वर्गणाओंसे बना तैजस शरीर है, कार्मण वर्गणाओंसे बना कार्मण शरीर है, आहारक वर्गणाओंसे बना औदारिक

शरीर है, मनोवर्गणासे बना मन है, भाषा वर्गणासे बनी भाषा है तथा अनेक कालाणु हैं और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय है और अन्य बहुतसे जीव और पुद्गलोंका सम्बन्ध है। इस तरह सब द्रव्योंके एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धमें हमारा या आपका जीव है तथापि यह आत्मा न अन्य पांच द्रव्यरूप कभी हुआ न हो सक्ता है और न वे पांच द्रव्य कभी जीवरूप हुए न कभी हो सक्के हैं। न एक जीव कभी अन्य जीवरूप हुआ न हो सक्ता हैं। भेद विज्ञानके द्वारा ज्ञानी जीवको अपने आत्माके स्वभावको पूर्ण शुद्ध सिद्ध परमात्माके समान शुद्ध बुद्ध आनन्दमय अमूर्तीक निश्चय करना और अनुभव करना योग्य है। अन्य पांचों द्रव्य वहीं हैं जहां इस आत्माके प्रदेश हैं तथापि वे अपने २ गुण पर्यायोंके साथ जीवके गुण पर्यायसे बिलकुल भिन्न हैं। इस तरह छहों द्रव्य परस्पर मिलते हुए भी अपने२ स्वभावका कभी त्याग नहीं करते हैं।

श्लोकवार्तिकमें श्री विद्यानंदिस्वामी कहते हैं—

द्रव्यार्थिकनयात्तानि नित्यान्येवान्वि तत्त्वतः।
अवस्थितानि सांकर्यस्यान्योन्यं शश्वदस्थितेः॥
ततो द्रव्यांतरस्यापि द्रव्यषट्कादभावतः।
तत्पर्यायानवस्थानान्नित्यत्त्वे पुनरर्थतः॥

भावार्थ—ये छः द्रव्य द्व्यार्थिक नयसे नित्य हैं, क्योंकि ज्ञानमें इनका सदा बराबर बने रहना सिद्ध है। तथा ये छः द्रव्य अवस्थित भी हैं क्योंकि ये कभी एक दूसरे रूप नहीं होसक्ते हैं, न छः के सात द्रव्य हो सक्ते हैं। पर्यायार्थिक नयसे ये छः द्रव्य अनित्य हैं। अर्थात् उनमें भिन्न २ अपने २ योग्य जो पर्यायें या

अवस्थाएं हुआ करती हैं वे क्षणिक हैं। एक अवस्था बिगड़कर दूसरी बनती रहती है तथापि मूलद्रव्य सब भिन्न२ सदा बने रहते हैं।

तत्वार्थ राजवार्तिकमें श्री अकलंकदेवने भी यही कहा है—

"धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वां नातिवर्तंते। ततोऽवस्थितानीत्युच्यंते अथवा धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवानां तुल्यासंख्येयप्रदेशत्त्वं। अलोकाकाशस्य पुद्गलानां चानंतप्रदेशत्त्वं कालस्याप्येकप्रदेशत्वमित्येतदियत्त्वं तस्यानतिवृत्तेः अवस्थितानीति व्यपदिश्यन्ते"

भावार्थ—ये धर्मादि छहों ही द्रव्य कभी भी अपने छःपनेकी संख्याको नहीं उल्लंघन करते हैं अथवा धर्म, अधर्म, लोकाकाश व एक जीवके असंख्यात असंख्यातप्रदेश हैं व अलोकाकाश व पुद्गलोंके अनंत प्रदेश हैं; कालका एक ही प्रदेश है। इस अपनी मर्यादाको कभी भी नहीं छोड़ते हैं। इस तरह छहों द्रव्य एक क्षेत्रमें रहते हुए भी सदा ही अपने२ स्वभावमें जमे रहते हैं। तात्पर्य यह है कि जलमें भिन्न कमलके समान ज्ञानी पुरुषको अपने ही शुद्ध जीवास्तिकायको सर्व अन्य जीव व सर्व पांचों द्रव्योंसे पृथक् विचार कर उस ही अपने स्वरूपमें लीन होकर स्वानुभव करना चाहिये जिससे परमानन्दकी प्राप्ति हो। किसी भी परद्रव्यसे रागद्वेष मोह न करना चाहिये।

यह गाथा हमें अपने स्वभावको भिन्न अनुभव करानेके लिये परम उपयोगी है।

वृत्तिकारने जो संकर व्यतिकर दोषोंके विना ये छः द्रव्य जगतमें रहते हैं ऐसा जो बताया है इसमें संकर दोषका प्रयोजन यह है कि एक द्रव्यमें अन्य द्रव्यके गुण धर्म आरोपित होनेपर भी

उसके असली गुण धर्मका कायम रहना जैसे जीवमें पुद्गलत्व आकाशत्व आदि धर्मोंका तथा पुद्गलमें जीवत्व आकाशत्व आदि धर्मोंका मिल जाना तथापि जीवका चेतन व पुद्गलका अचेतन गुण बना रहना सो संकर है। एक द्रव्यका अपना गुण धर्म छोड़कर दूसरे गुण व धर्मको ले लेना सो व्यतिकर है। जैसे धर्मास्तिकाय अपना गति सहायीपना छोड़कर स्थिति सहायीपना धारण कर लेवे अथवा जीवका चेतनत्व गुण नष्ट होकर उसमें जड़त्वका प्राप्त होजाना, यह व्यतिकर है।

वास्तवमें ये दोनों ही दोष छः द्रव्योंमें नहीं होते हैं। ये छहों द्रव्य एक आकाश क्षेत्रमें रहते हुए भी अपने गुण व धर्मको भिन्न२ लिये रहते हैं।

इस तरह संकर व्यतिकर दोषको हटाते हुए गाथा पूर्ण हुई। इस तरह स्वतंत्र दो गाथाओंसे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ। इस तरह पहले महाअधिकारमें सात गाथाओंके द्वारा व तीन स्थलोंसे समय शब्दके अर्थकी पीठिकाका विधानरूप प्रथम अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

आगे "सत्तासव्वपयत्था" इस गाथाको आदि लेकर चौदह गाथाओं तक पाठक्रमसे जीव पुद्गलादि द्रव्योंकी विवक्षा न करके सामान्य द्रव्यकी पीठिका कही जाती है। इन १४ गाथाओंके मध्यमें सामान्य व विशेष सत्ताका लक्षण कहते हुए "सत्तासव्वपयत्था" इत्यादि प्रथम स्थलमें गाथा सूत्र एक है फिर सत्ता और द्रव्यका अभेद है व द्रव्यशब्दकी व्युत्पत्तिके कथनकी मुख्यतासे "दवियदि" इत्यादि दूसरे स्थलमें सूत्र एक है। फिर द्रव्यके तीन लक्षण कहते हुए "दव्वं सल्लक्खणीयं" इत्यादि तीसरे स्थलमें सूत्र एक है। फिर

दो लक्षण कहते हुए "उप्पत्तीय विणासो" इत्यादि सूत्र एक है। फिर तीसरा लक्षण कहते हुए "पज्जय रहियं" इत्यादि गाथा दो हैं इस तरह समुदायसे तीन गाथाओंके द्वारा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक परस्पर अपेक्षा सहित दोनो नयोंको समर्थनकी मुख्यतासे चौथा स्थल है। पांचवें स्थलमें सर्व एकान्त मतोंके निराकरणके लिये प्रमाण सप्तभंगीके व्याख्यानकी मुख्यतासे "सिय अत्थि" इत्यादि सूत्र एक है। इस तरह चौदह गाथाओंमेंसे पांच स्थलके समुदायसे पहली सात गाथाएं हैं। फिर दूसरे सप्तकके मध्यमें पहले स्थलमें बौद्धमतका एकांत हटाते हुए द्रव्यके स्थापनकी मुख्यतासे "भावस्स णत्थि णासो" इत्यादि अधिकारकी गाथा सूत्र एक है। फिर इसीका विस्तार करनेके लिये चार गाथाएं हैं। इन चार गाथाओंके मध्यमें उसी ही अधिकार सूत्रके द्रव्यगुणपर्यायके व्याख्यानकी मुख्यतासे "भावा जीवादीया" इत्यादि सूत्र एक है। फिर मनुष्यादि पर्यायके विनाश व जन्म होनेपर भी ध्रुवपनेकी अपेक्षा विनाश नहीं है ऐसा कहते हुए "मणुअत्तणेण" इत्यादि सूत्र एक है। फिर इसीके ही दृढ़ करनेके लिये "सो चेव" इत्यादि सूत्र एक है। फिर इस तरह द्रव्यार्थिकनयसे सत्का विनाश व असत्का उत्पाद नहीं है, पर्यायार्थिक नयसे है। इस तरह दो नयोंके व्याख्यानके संकोचरूप 'जावं सदो विणासो' इत्यादि उपसंहार गाथा सूत्र एक है। इस तरह दूसरे स्थलमें समुदायसे गाथाएं चार हैं। फिर तीसरे स्थलमें सिद्धको पर्यायार्थिकनयसे असत उत्पाद है इसकी मुख्यतासे "णाणावरणादीया" इत्यादि सूत्र एक है। आगे इसी तरह चौथे स्थलमें द्रव्यरूपसे नित्यपना होनेपर भी पर्यायार्थिक

नयसे संसारीजीवके देवपना आदिके जन्म व नाशका कर्तापना है इस व्याख्यानके संकोचकी मुख्यतासे अथवा द्रव्यकी पीठिकाको समाप्त करते हुए "एवं भावं" इत्यादि गाथासूत्र एक है। इस तरह समुदायसे चार स्थलोंमें दूसरा सप्तक है। ऐसे चौदह गाथाओंसे व नव अंतर स्थलोंसे द्रव्यकी पीठिकामें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई। इसीका वर्णन करते हैं—

उत्थानिका—अब अस्तित्वका स्वरूप कहते हैं अथवा सत्ता रूप मूलगुणको रखनेवाले द्रव्य हैं ऐसा समझ कर पहले सत्ताका स्वरूप कह कर फिर द्रव्यका व्याख्यान करेंगे ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर भगवान् कुंदकुंद आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥८॥

**सत्ता सर्वपदस्था सविश्वरूपा अनन्तपर्याया।**
**भंगोत्पादध्रौव्यात्मिका सप्रतिपक्षा भवत्येका ॥ ८ ॥**

**अन्वय सहित सामान्यार्थ**—(सत्ता) अस्तिरूप सत्ता (सव्व पयत्था) सर्व पदार्थोंमें रहनेवाली है, (सविस्सरूवा) नाना स्वरूपको रखनेवाली है, ( अणंत पज्जाया ) अनंत पर्यायोंको धारनेवाली है (भंगुप्पादधुवत्ता) उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है (एक्का) एक है अर्थात् महासत्ताकी अपेक्षा एक है तथा (सप्पडिवक्खा ) अपने प्रति पक्ष सहित ( हवदि ) है।

**विशेषार्थ**—पांच विशेषणोंसे युक्त सत्ता अपने प्रतिपक्ष भावोंको रखनेवाली है। वह इस तरहपर है कि स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा जो सत्ता है उसीका प्रतिपक्ष या विरोध परद्रव्यादि चतुष्टयकी

अपेक्षा असत्ता है। सर्व पदार्थोंमें रहनेवाली महासत्ताका विरोधी एक पदार्थमें रहनेवाली अवान्तरसत्ता है। वह महासत्ता मूर्तीक घट, सुवर्णका घट, तामेका घट इत्यादि रूपसे नाना रूप है, उसीका विरोध एक घट रूप अवान्तर सत्ता है। अथवा किसी एक घटमें जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादिरूप अनेक तरहकी सत्ता है उसका प्रतिपक्ष विशेष एक गन्धादिरूप सत्ता है। तीनकालकी अपेक्षा अनन्त पर्यायरूप महासत्ताका प्रतिपक्ष एक विशेष पर्यायकी सत्ता है। उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपसे तीनलक्षणवाली सत्ताका प्रतिपक्ष विशेष एक उत्पादकी या एक व्ययकी या एक ध्रौव्यकी सत्ता है। एक महासत्ताकी अवान्तरसत्ता प्रतिपक्ष है। इस तरह शुद्ध संग्रहनयकी अपेक्षासे एक महासत्ता है, अशुद्ध संग्रहनयकी अपेक्षासे या व्यवहारनयकी अपेक्षासे सर्व पदार्थोंमें रहनेवाली नानारूप अवान्तरसत्ता है। यह सर्व प्रतिपक्ष सहित व्याख्यान नैगमनयकी अपेक्षासे जानना चाहिये। इस तरह संग्रह व्यवहार व नैगमनय इन तीन नयोंके द्वारा सत्ताका व्याख्यान समझना चाहिये। अथवा शुद्ध संग्रहनयसे एक महासत्ता है तथा व्यवहारनयसे सर्व पदार्थोंमें रहनेवाली अवान्तर सत्ता है ऐसे दो नयोंसे व्याख्यान करना योग्य है। यहां शुद्ध जीवास्तिकाय या शुद्ध जीव द्रव्यकी सत्ता ही उपादेय या ग्रहण योग्य है ऐसा भावार्थ है।

भावार्थ—आचार्यने पहले एक महासत्ताका व्याख्यान करके यह दिखलाया है कि ये सर्व जातके पदार्थ जो सत्‌रूप हैं उनमें सत्ता व्यापक है इससे सर्व जगतकी एक महासत्ता समझनी चाहिये। यह महासत्ता सर्वपदार्थोंमें रहती हुई भी नानारूप है। तीन कालकी

अपेक्षा अनन्त पर्यायवाली है व उत्पादव्यय ध्रौव्यरूप है। यह कथन संग्रहनयकी अपेक्षासे है। जब व्यवहार नयकी अपेक्षा देखेंगे तो जो सत्ता एक है वही अनेक अर्थात् भिन्न २ पदार्थोंमें व्यापनेवाली अवान्तर सत्ता अनेक है। जब महासत्ता सर्व पदार्थोंमें रहती है तब यह अवान्तर सत्ता भिन्न २ एक एक पदार्थमें रहती है। इस कथनसे यह बताया है कि द्रव्य एकांतसे न तो बिलकुल अभिन्न है न बिलकुल भिन्न है। जब सबको एक सतरूप ध्यानमें लेते हैं तब सब एक रूप दिखते हैं और जब भिन्न २ द्रव्योंकी सत्तापर लक्ष्य देते हैं तब अनेकरूप भासते हैं। महासत्ता क्योंकि एक समयमें भी अनंत पदार्थ व्यापिनी है इससे अनंत पर्यायवाली है तब अवान्तर सत्ता एक पदार्थ है इससे एक समयमें एक पर्यायवाली है। अथवा अनन्त तीन कालकी अपेक्षा महासत्ता जब अनन्त पर्यायवाली है तब एक कालकी अपेक्षा एक पर्यायवाली है। सत्ता जब उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है तब यदि हम मात्र तीन लक्षणोंको पृथक् २ एक एक करके देखें तो उत्पाद है सो व्यय नहीं है, व्यय उत्पाद है सो ध्रौव्य नहीं है—तीनोंका स्वरूप जुदा है। जिस अंश या पर्यायका प्रकटपना है वही उत्पाद है। जिस पूर्व पर्यायका व्यय हुआ वह व्यय है। जो सामान्यपना पूर्वोत्तर पर्यायोंमें चला आरहा है वह ध्रौव्य है। इस कथनसे आचार्यने यह झलकाया है कि जगतके पदार्थ अनेक हैं व वे सब नित्य अनित्य स्वरूप हैं। न मात्र एकान्तसे एकरूप हैं न मात्र एकान्तसे नित्य हैं या अनित्य हैं। किसी अपेक्षासे अर्थात् महा सत्ताकी अपेक्षासे एक व अवान्तर सत्ताओंकी अपेक्षा अनेक हैं।

ध्रौव्यकी अपेक्षा नित्य हैं, उत्पाद व्ययकी अपेक्षा अनित्य हैं। सदासे हैं व सदा रहेंगे व वे सदा परिणमनशील हैं इससे वे पदार्थ अनन्त पर्यायोंको रखते हैं। इस गाथासे अनेकांतके महत्वको भी बताया है कि महासत्तामें अपनी सत्ता है तथा अवान्तर सत्ताकी असत्ता है तथा नानारूप महासत्तामें एक रूप अवान्तर सत्ताकी असत्ता है। अनन्त पर्यायरूप महासत्तामें एक पर्यायरूप सत्ताकी असत्ता है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेकी सत्ता उत्पाद या व्यय या मात्र ध्रौव्यमें असत्ता है। वस्तु भावाभावरूप है। जिस स्वरूपसे जिसमें भावपना है उससे भिन्न स्वरूपसे उसीमें अभावपना है। जैसे बालकमें युवानपना नहीं है, युवानपनेमें बालकपना नहीं है। वर्णमें गन्ध नहीं है, गन्धमें वर्ण नहीं है। वर्णमें वर्णपनेकी सत्ता है जब कि गन्धपनेकी असत्ता है।

इस गाथामें भगवान कुन्दकुन्द महाराजने इस जगतके पदार्थोंको नित्य अनित्य विचित्र गुण और पर्यायोंका धारी बताकर अनादि अनंत सतरूप सिद्ध किया है—कोई भी पदार्थ असत् नहीं है।

पंचाध्यायीकारने भी यही कथन किया है—

अथवा सतो विनाशः स्यादिति पक्षोऽपि बाधितो भवति।
नित्यं यतः कथंचिद् द्रव्यं सुज्ञैः प्रतीयतेऽध्यक्षात्॥ १३॥
तस्मादनेकदूषणदूषितपक्षाननिच्छता पुंसा।
अनवद्यमुक्तलक्षणमिह तत्वं चानुमंतव्यम्॥ १४॥
किंचैवंभूतापि च सत्ता न स्यान्निरंकुशा किंतु।
सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह॥ १५॥

प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तद्यथा तथा चान्यत् ।
नानारूपत्वं किल प्रतिपक्षं चैकरूपतायास्तु ॥ २० ॥
एकपदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितेर्विपक्षत्त्वम् ।
ध्रौव्योत्पादविनाशैस्त्रिलक्षणायास्त्रिलक्षणाभावः ॥ २१ ॥
एकस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्याददो ह्यनेकत्वम् ।
स्यादप्यनंतपर्ययप्रतिपक्षस्त्वेकपर्ययत्वं स्यात् ॥ २२ ॥

भावार्थ—सत्‌का नाश कभी नहीं होता है। ऐसा जो पक्ष करे कि नाश होता है वह बाधाको प्राप्त है. क्योंकि द्रव्य कथंचित् नित्य है यह ज्ञानियोंको प्रत्यक्षमें प्रतीत होता है। यह वही है. यह ज्ञान वस्तुकी नित्यताका सूचक है इसलिये अनेक दोषोंके पक्षको जो नहीं चाहता है उस पुरुषको यही मानना चाहिये कि वस्तु सत्तारूप, स्वतः सिद्ध, अनादिनिधन असहाय और निर्विकल्प है।

जिस सत्ताको वस्तुका लक्षण कहा गया है वह सत्ता भी स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, अपने प्रतिपक्षके कारण प्रतिपक्षी भावको लिये हुए है। सत्ताका जो विरोधी है उसीके साथ उसका विरोध है अन्यके साथ नहीं। सत्ताकी प्रतिपक्षी असत्ता है अर्थात् महा-सत्ता या सामान्य सत्ताका विरोध अवान्तर सत्ता या विशेष सत्ता है जिसका भाव यह है कि महासत्तामें अवान्तर सत्ताकी असत्ता है। अवान्तर सत्तामें महासत्ताकी असत्ता है। यह महासत्ता नाना पदार्थोंमें रहनेसे नानारूप है। जो एक पदार्थमें रहनेवाली अवांतर सत्ताके एकरूपसे प्रतिपक्ष है। एक पदार्थकी सत्ता सर्व पदार्थोंकी सत्ताका विपक्ष है। उत्पादव्यय ध्रौव्यरूप तीन लक्षणवाली सत्ताका प्रतिपक्ष एक स्वरूप एक लक्षणवाली सत्ता है। एक सत्ताका प्रतिपक्ष अनेक है। अनन्त पर्यायका प्रतिपक्ष एक पर्याय है। इस

तरह वस्तुका स्वरूप समझकर हमें उचित है कि हम अपने आत्माको द्रव्यापेक्षा सत् मानकर उसका शुद्ध स्वभाव निश्चय करके उसीका मनन करें जिससे संसार संबंधी अनंत अशुद्ध पर्यायोंका उपजना न हो और यह अपने स्वाभाविक सत्तामें सदा रहकर अपनी ज्ञान चेतना हीमें परिणमन किया करे। इस तरह प्रथम स्थलमें सत्ता लक्षणकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हुए गाथा समाप्त हुई।

उत्थानिका—आगे यह दिखलाते हैं कि सत्ता और द्रव्यका अभेद है—

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥ ९ ॥
द्रवति गच्छति तांस्तान् सद्भावपर्यायान् यत्।
द्रव्यं तत् भणन्ति अनन्यभूतं तु सत्तातः ॥ ९ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—( जं ) जो ( ताइं ताइं ) अपने अपने ( सब्भावपज्जयाइं ) स्वभावरूप पर्यायोंको ( दवियदि ) द्रवण करें ( गच्छदि ) प्राप्त करें ( तं ) उसको ( दवियं ) द्रव्य ( भण्णंते ) कहते हैं ( तु ) परंतु वह द्रव्य ( सत्तादो ) सत्तासे ( अणण्णभूदं ) अभिन्न है।

विशेषार्थ—जो अपनी ही अवस्थाओंमें भूतकालमें परिणमन कर चुका है, वर्तमानकालमें परिणमन करता है तथा भविष्यमें परिणमन करेगा उसको द्रव्य कहते हैं। जीव पुद्गलकी अपेक्षासे जो विभाव पर्यायोंमें परिणमन करे वह द्रव्य है। यह द्रव्य अपनी सत्तासे निश्चयनयसे एकरूप है, क्योंकि संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादिकी अपेक्षासे सत्ता और द्रव्यका भेद होनेपर भी निश्च-

यनयसे सत्ता और द्रव्यका अभेद है इसीलिये इससे पहली गाथामें जो सत्ताका लक्षण कहा गया है वह सब लक्षण सत्तासे अभिन्न द्रव्यका भी जानना चाहिये। अर्थात् द्रव्यमें सर्व पदार्थ स्थितपना है, एक पदार्थ स्थितपना है, सर्वरूपपना है, एकरूपपना है, अनंत पर्यायपना है, एक पर्यायपना है, तीन लक्षणपना है, एक लक्षण-पना है, एकरूपपना है, अनेक रूपपना है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह दिखलाया है कि द्रव्य उसे कहते हैं जो सदा परिणमन करता रहे, वर्तन करता रहे, अर्थात् समय२ पर्यायोंको या अवस्थाओंको उत्पन्न करता रहे। जो कोई द्रव्यको कूटस्थ नित्य मानेगा उसकी मान्यतामें द्रव्यका लक्षण ही न बैठेगा। जिसमें कुछ कार्य हो सके वही द्रव्य हो सकेगा, कूटस्थ नित्यमें कुछ विकार या कार्य नहीं हो सक्ता। फिर वह द्रव्य अपनी सत्तासे प्रदेशोंकी अपेक्षा जुदा नहीं है अर्थात् जहां द्रव्य है वहीं उसका सत्तागुण है, गुण और गुणीमें प्रदेशोंकी अपेक्षा एकता है, यद्यपि संज्ञादिकी अपेक्षा भेद है, जैसे द्रव्य और सत्ताका नाम भिन्न२ है। संख्या एक या अनेक अपनी२ अपेक्षासे भिन्न२ है। लक्षणद्रव्यका गुणसमुदाय है, सत्ताका लक्षण अस्तिरूप है। द्रव्यका प्रयोजन जड़ या चेतन जैसा हो वैसा है, सत्ताका प्रयोजन सदा अस्तित्त्व बतानेका है। इसतरह भेद होकर भी सत्ता और द्रव्यका अभेद है। संग्रहनयसे एक द्रव्य मात्र कह सक्ते हैं व्यवहारनयसे उसीके अनेक भेद कह सक्ते हैं जैसे द्रव्य छः हैं। जो२ विशेषण सत्ताके कहे हैं वे सब द्रव्यमें भी घटित हो सक्ते हैं। जीव पुद्गलमें स्वभाव और विभाव दोनोंरूप पर्यायें होती हैं

जब कि धर्मादि चार द्रव्योंमें केवल स्वभावपर्यायें ही होती हैं। वास्तवमें इस गाथासे यह झलकाया है कि सत्तारूप द्रव्य सदा परिणमन करता रहता है। इस तरह दूसरे स्थलमें सत्ता और द्रव्यका अभेद व द्रव्यशब्दकी व्युत्पत्ति कथन करते हुए गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे द्रव्यका लक्षण तीन प्रकार कहते हैं।

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥

द्रव्यं सल्लक्षणकं उत्पादव्ययध्रुवत्वसंयुक्तं।
गुणपर्यायाश्रयं वा यत्तद् भणन्ति सर्वज्ञाः ॥१०॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(जं) जो ( सल्लक्खणियं ) सद् लक्षणवाला है, (उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं) उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित है, (वा) अथवा ( गुणपज्जयासयं ) गुण और पर्यायोंका आश्रयरूप है (तं) उसको (सव्वण्हू) सर्वज्ञ भगवान (दव्वं) द्रव्य ( भण्णंति ) कहते हैं।

विशेषार्थ—द्रव्यका लक्षण सत् रूप द्रव्यार्थिक नयसे किया गया है। इससे बौद्धमतका निषेध है जो सर्व वस्तुको असत् मानते हैं। पर्यायार्थिक नयसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य या गुणपर्यायवान लक्षण किया गया। इससे कूटस्थ नित्य माननेवाले सांख्य और नैयायिकका निषेध है। सत्ता लक्षण द्रव्य है ऐसा कहनेसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण या गुण पर्यायवान लक्षण नियमसे प्राप्त होता है। उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त है ऐसा लक्षण करनेसे सत्ता लक्षण या गुणपर्यायवान लक्षण नियमसे प्राप्त होता है। गुणपर्यायवान लक्षण करनेसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण या सत्ता लक्षण नियमसे प्राप्त

होता है। एक कोई लक्षणको कहते हुए अन्य दो लक्षण किस तरह प्राप्त होते हैं? इसका उत्तर यह है कि इन तीनों लक्षणोंमें परस्पर अविनाभाव है अर्थात् सब एक दूसरेमें गर्भित है। यहां यह भावार्थ है कि शुद्ध जीवद्रव्य उपादेय है जिसका शुद्ध सत्ता लक्षण है क्योंकि उसमें मिथ्यात्व व रागद्वेषादि नहीं हैं। उसीका पर्याय दृष्टिसे अगुरुलघु गुणके द्वारा षट् गुणी हानि वृद्धि होते हुए शुद्ध उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण है तथा अकृत्रिम ज्ञानादि अनन्तगुण रूप व सहज शुद्ध सिद्ध पर्यायरूप लक्षण है ऐसे तीन लक्षणोंको धारनेवाला शुद्ध जीवास्तिकाय है। इस व्याख्यानसे क्षणिक एकान्त मतके माननेवाले बौद्धका, नित्य एकान्त मतको माननेवाले सांख्यका, नित्य तथा अनित्य दोनोंका एकान्त माननेवाले नैयायिक और मीमांसक मतका निराकरण है। ऐसा ही कथन सर्व जगह अन्य मतके व्याख्यानके समय जानना चाहिये। क्षणिक एकान्तमतको क्यों दूषण देते हैं? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जिसने घट आदि बनानेकी क्रिया प्रारंभ की वह उस ही क्षणमें नष्ट होगया तब उससे घटकी क्रिया पूर्ण नहीं होसक्ती इत्यादि। इसी तरह नित्य एकांत माननेमें यह दूषण है कि जो बैठा है उसे बैठा ही रहना चाहिये, जो सुखी है वह सुखी ही रहेगा, जो दुःखी है वह दुःखी ही रहेगा इत्यादि टंकोत्कीर्ण कूटस्थ नित्य पदार्थ होनेसे उसमें अन्य पर्याय नहीं होसकेगी। इसी तरह परस्पर अपेक्षा विना द्रव्यपर्याय दोनोंका एकांत माननेसे पूर्वमें कहे हुए दोनों ही दोष प्राप्त होंगे। जैनमतमें परस्पर अपेक्षा सहित द्रव्यपर्याय माननेसे कोई दूषण नहीं आसक्ता है।

भावार्थ-द्रव्यका लक्षण इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट किया है। सामान्य और विशेषरूप कथनकी अपेक्षासे तीन लक्षण कहे गए हैं। सामान्यपने द्रव्यका लक्षण सत् है अर्थात् सदा बने रहना है। इससे यह बताया गया कि द्रव्य न कभी नया जन्मा है न कभी वह नष्ट होगा-द्रव्य अनादि अनंत है। जो विस्तारसे जानना चाहते हैं उनको इस द्रव्यका स्वरूप विशेषसे कहा गया कि जो सत् द्रव्य है वही उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है तथा वही गुणपर्यायरूप है। हरएक द्रव्य अपने द्रव्य नामके अर्थसे ही द्रवणशील, परिणमनशील है अर्थात् बदलनेकी शक्ति रखता है जिसका भाव यह है कि द्रव्यमें प्रत्येक समयमें नई नई अवस्थाएं होती रहती हैं। जिस समय जो अवस्था जन्मी उसी समय पिछली अवस्थाका नाश हुआ तौभी अवस्थावान द्रव्य बना रहा इसलिये हरएक द्रव्य हरएक समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। जैसे मिट्टीका डेला था उसको जिस समय पत्थरसे चूर्णकरडाला उसी समय डेलेका नाश होते हुए चूर्णका जन्म हुआ तौ भी मिट्टीपना नष्ट नहीं हुआ वह बराबर मौजूद है। सुवर्णकी डली थी उसको पीटकर जिस समय लम्बी सलाई बनाई तब ही सलाईका उत्पाद डलीका व्यय तथा सोनेका ध्रौव्यपना सिद्ध है। आत्मामें क्रोधभाव था, जिस समय शांतभाव पैदा हुआ उसी समय क्रोध भावका नाश हुआ, आत्मा पदार्थ ध्रौव्य या नित्य बना रहा। इस तरह हरएक द्रव्य जो इस जगतमें अपनी सत्ता रखता है वह न सर्वथा क्षणभंगुर है न सर्वथा कूटस्थ नित्य है किन्तु हरसमयमें वह नित्यानित्य स्वरूप है। अपनी पर्याय बदलनेकी अपेक्षा अनित्य स्वरूप

है तथा अपने स्वभावको न त्यागनेसे नित्यस्वरूप है। अपेक्षा सहित नित्य अनित्यपना द्रव्यमें है इसीको बतानेके लिये उत्पाद व्यय ध्रौव्यलक्षण सिद्ध है। संसारमें क्रिया करते हुए प्रत्यक्षमें संसारी आत्माएं व स्थूल पुद्गल दिखलाई पड़ते हैं। इनके हश्यको देखते हुए यह लक्षण बिल्कुल साफ२ प्रगट है। जो कोई द्रव्यको क्षणिक या नित्य एकांतमें मानेंगे उनके मतमें कोई कार्य बन नहीं सक्ता है। जैसा श्री समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है:-

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति।
परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥ ३९ ॥

भावार्थ-यदि द्रव्य सर्व प्रकारसे सत् ही माना जायगा तो जैसे सांख्योंमें पुरुष या आत्मा कूटस्थ नित्य होनेसे कुछ कार्य नहीं करता है-अकर्ता है वैसे ही द्रव्यसे कोई कार्य नहीं पैदा हो सक्ता है तब मिट्टीसे घड़ा नहीं हो सक्ता है। यदि परिणमन द्रव्यमें होते हैं ऐसा कहा जायगा अर्थात् मिट्टीसे घड़ा बनता है, गेहूंसे रोटी बनती है इत्यादि अवस्थाका बदलना माना जायगा तो अवश्य इस मतमें बाधा आजायगी कि द्रव्य सर्वथा नित्य एकान्तरूपसे है। इसी तरह जो द्रव्यको सर्वथा क्षणिक मानेंगे तो यह दूषण आयगा। जैसा वहीं कहा है:-

हिनस्त्यनभिसंधातृ न हिनस्त्यभिसन्धिमत्।
बद्ध्यते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥ ५१ ॥
अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः।
चित्तसन्ततिनाशश्च मोक्षो नाष्टांगहेतुकः ॥ ५२ ॥

भावार्थ-यदि द्रव्यको क्षणिक ही मानेंगे तो यह दोष होगा कि जिसने हिंसा करनेका अभिप्राय किया है वह हिंसा न कर

सकेगा, क्योंकि वह तो अभिप्राय करते हुए ही नष्ट होगया तथा जिसने हिंसा की वह व्यक्ति हुआ जिसने हिंसा करनेका विचार नहीं किया था तथा जो बांधा जायगा वह कोई तीसरा ही व्यक्ति होगा क्योंकि ये दोनों तो नष्ट होगए। जो बंधेगा वह भी नष्ट होजायगा वह छूटेगा नहीं। जो हिंसाका निमित्त है अर्थात् हिंसाका भाव करनेवाला है वह हिंसक नहीं होसकेगा, क्योंकि जब किसी प्राणीका नाश होगा तब उसके हेतु विना ही होगा—कारण कि अ-भिप्राय करनेवाला तो उसी ही क्षण नष्ट होगया। तथा चित्त अर्थात् रूप विज्ञानादिकी सन्ततिका नाश ही मोक्ष होगा जैसे दीपकका बुझ जाना तब क्षणिक द्रव्य माननेसे मोक्षमें कोई द्रव्य न रहेगा। और जब कार्य हेतुके विना होगा तब जो आठ कारणोंसे बौद्धने मोक्ष मानी है सो न बन सकेगी क्योंकि क्षणक्षण नाश होनेसे वे अपना कार्य न कर सकेंगे। वे आठ कारण हैं—सम्यक्त्व, संज्ञा, संज्ञान, वाक्कर्म, कायकर्म, अन्तर्व्यायाम, स्मृति, समाधि।

इसलिये जैन सिद्धांतने जो द्रव्यका लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य किया है वह बिलकुल बाधा रहित है।

इसीको और भी स्पष्ट करनेके लिये गुणपर्यायवान लक्षण किया है। गुणोंका समुदायक द्रव्य है। जितने गुण जिस द्रव्यमें होते हैं वे सब गुण द्रव्यमें व्यापक होते हैं तथा सदा उसके साथ रहते हैं—गुणोंका बराबर साथ रहना यही ध्रौव्यपने या नित्यपनेका बतानेवाला है तथा ये ही गुण समय २ पलटते रहते हैं। गुणोंमें जो विकार परिणति या पलटन होती है वही पर्याय है इसलिये गुणोंके साथ पर्यायें भी सदा द्रव्यमें होती रहती हैं, गुणपना बनारहता है

पर्याय पलट जाती है इसीसे पर्याय उत्पादव्यय स्वरूप है। जैसे एक फूलकी कलीको कल सफेद देखाथा आज उसे गुलावी पाया। तब यह पाया गया कि उस फूलके शरीरमें जो पुद्गल था उसमें वर्णगुण बराबर चला आरहा है परंतु उसकी अवस्था बदलते बदलते सफेदसे गुलावी होगई है उस फूलमें एक ही समयमें वर्णगुण है तथा उसकी सफेद या गुलावी पर्याय है। इसलिये यह लक्षण किया गया कि द्रव्य गुणपर्यायवान है।

आलापपद्धतिमें देवसेनाचार्यने कहा है। "सहभावाः गुणाः क्रमवर्तिनः पर्यायाः। गुण्यन्ते पृथक् क्रियन्ते द्रव्यं द्रव्यान्तैस्ते गुणाः। स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्यायः ॥

भावार्थ–जो द्रव्यके साथ साथ रहें वे गुण हैं व जो क्रमक्रमसे वर्तें सो पर्याय हैं। जो एक द्रव्यको दूसरे द्रव्योंसे पृथक् करें वे गुण हैं। स्वभाव या विभावरूपसे जो चली जावें या परिणमन करें सो पर्याय हैं। जैन सिद्धांतमें छः द्रव्योंकी जुदाई उनके विशेष गुणोंके द्वारा ही प्रगट होती है तथा इनमें संसारी जीव व पुद्गल विभाव पर्यायोंको करते रहते हैं जो हमको रात दिन प्रत्यक्ष है। जीवमें क्रोधसे मान, मानसे क्रोध, लोभसे मान व क्रोध, कभी रागसे वैराग, कभी वैरागसे राग होता रहता है। पुद्गलमें एक वर्णसे दूसरा वर्ण, एक गंधसे दूसरी गंध इत्यादि पर्यायें प्रगट हैं। शुद्ध जीव व शुद्ध एक परमाणु व धर्मादि चार द्रव्यमें स्वभावरूप पर्यायें होती हैं जो अगुरुलघु गुणके द्वारा होती हैं। इसको हमें आगम प्रमाणसे ही विश्वास करना होगा। शुद्ध परमाणुमें जब चिकना या रूखा गुण दो अधिक अंश रूप

होजायगा तब वह दूसरे परमाणुसे बंध योग्य होकर विभाव पर्याय रूप होजायगा परन्तु शुद्ध जीव कभी भी रागादि रूप नहीं होता है क्योंकि मोहनीय कर्मका बंध उदय सत्त्व सर्व ही नष्ट होगया है इसलिए सर्व संकल्प विकल्प छोड़कर एक शुद्ध जीव द्रव्य ही भावना करने योग्य है।

श्री अकलंकस्वामीने राजवार्तिकमें गुणपर्यायका स्वरूप इस भांति कहा है---द्रव्यस्य द्वावात्मानौ सामान्यविशेषश्चेति। तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वयः गुण इत्यनर्थांतरं। विशेषो भेदः पर्याय इति पर्याय शब्दः। तत्र सामान्यविषयो नयो द्रव्यार्थिकः। विशेषविषयः पर्यायार्थिकः। तदुभयं समुदितमयुतसिद्धरूपं द्रव्यमित्युच्यते।

भावार्थ–द्रव्यके दो स्वरूप हैं एक सामान्य दूसरा विशेष। सामान्यको उत्सर्ग, अन्वय या गुण कहते हैं, इन सबके एक अर्थ हैं। पर्यायको विशेष, भेद या पर्याय कहते हैं–उनमें जिसका विषय सामान्य है वह द्रव्यार्थिकनय है, जिसका विषय विशेष है वह पर्यायार्थिकनय है, उन दोनोंका समुदायरूप स्वभावसिद्ध द्रव्य कहा जाता है। गुण सदा एकसा अपने सब विशेषों या पर्यायोंमें चला जाता है इससे सामान्य है। पर्याय प्रतिसमय जुदी२ होती है इससे विशेष है। द्रव्य सामान्य विशेषरूप है इससे गुण पर्याय-वान है।

इस तरह तीसरे स्थलमें द्रव्यका सत्तादिलक्षण तीन प्रकार है इस सूचनाकी मुख्यतासे गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका–आगे आधी गाथा पूर्वार्द्धसे द्रव्यार्थिकनयके

द्वारा द्रव्यका लक्षण तथा दूसरी आधी उत्तरार्द्धसे पर्यायार्थिकनयके द्वारा पर्यायका लक्षण कहते हैं–

उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जायाः ॥ ११ ॥

उत्पत्तिर्वा विनाशो द्रव्यस्य च नास्त्यस्ति सद्भावः।
विगमोत्पादध्रुवत्वं कुर्वंति तस्यैव पर्यायाः ॥ ११ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–( दव्वस्स ) द्रव्यका (उप्पत्तीव विणासो) उपजना और विनसना (णत्थि) नहीं होता है (य) किंतु (सब्भावो) उसका सत्तामात्र अस्तिपना (अत्थि) है। (तस्सेव) उस-हीकी ( पज्जाया ) पर्यायें ( विगमुप्पादधुवत्तं ) व्यय उत्पाद तथा ध्रुवपना ( करेंति ) करती हैं।

विशेषार्थ–द्रव्य अनादि निधन है उसमें द्रव्यार्थिक नयसे उत्पत्ति और विनाश नहीं होता है, वह अपने अस्तित्वसे सदा बना रहता है इतना कहनेसे द्रव्य क्षणिक है इस एकान्त मतका निराकरण किया। उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना पर्यायोंका पर्यायार्थिक नयसे होता है। उसके दृष्टांत अनेक हैं। जैसे सुवर्ण एक द्रव्य है उसके कुंडल बनाए तब कुंडलका उत्पाद पूर्व सुवर्णकी अवस्थाका व्यय व सुवर्णके सामान्य गुणोंका ध्रुवपना रहा, गोरस एक द्रव्य है उसकी मलाई बनाई तब मलाईका उत्पाद, पतले दूधपनेका व्यय व गोरसके सामान्य गुणोंका ध्रुवपना है। मिट्टी एक द्रव्य है उसका घड़ा बनाया तब घड़ेका उपजना घड़ेकी पूर्वदशाका व्यय तथा मिट्टीपनेका ध्रुवपना है जो सर्व दशाओंमें बना रहता है। पुरुष एक व्यक्ति है वह बालकसे कुमार हुआ कुमारसे युवान व युवानसे

वृद्ध हुआ; इन अवस्थाओंमें जब आगेकी अवस्था पैदा हुई तब पिछली अवस्थाका व्यय हुआ, पुरुषपना ध्रुव रहा। इससे नित्य एकान्त मतका निराकरण दृढ़ किया गया। इस सूत्रमें शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे जो जीव द्रव्य नर नारक आदि विभाव पर्यायोंकी उत्पत्ति और विनाशसे रहित है वही पर्यायार्थिक नयसे वीतराग निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न जो सहज परमानन्द रूप सुखरसका आस्वादन रूप जो स्वसंवेदन ज्ञानमई पर्याय उसमें परिणमन करते हुए जो शुद्ध जीवास्तिकाय नामधारी शुद्ध जीव द्रव्य है वही उपादेय या ग्रहण योग्य है, यह सूत्रका तात्पर्य है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने द्रव्यके लक्षणको और भी दृढ़ कर दिया है। द्रव्यमें जब द्रव्यार्थिक नयसे जो सामान्य-पनेको ग्रहण करनेवाला गुण देखा जायगा तो वह सदा अनादिसे अनन्तकाल तक एक रूप बिना उत्पाद या विनाशके अपने स्वभा-वमें मौजूद है ऐसा ज्ञात होगा। जब उस हीको पर्यायार्थिक नयसे विचारा जायगा तो उसके विशेषोंपर दृष्टि जायगी। द्रव्यमें कई-एक परिणाम या अंश अविनाशी हैं व कई परिणाम या अंश विनाशीक हैं। जो गुणरूप सहभावीपनेके बतानेवाले अंश हैं वे तो अविनाशी हैं तथा जो क्रमवर्तीपर्यायके झलकानेवाले हैं वे विनाशीक हैं। जब द्रव्यमें परिणति हुई तब जो पर्याय या विशेष या भेद पैदा हुआ वह नया है इससे उसका उत्पाद हुआ, किसी पुराने विशेषका नाश भी हुआ उसीका व्यय हुआ तथा कुछ अंश ऐसे हैं जिनसे यह द्रव्य वही है ऐसा बोध हुआ यही उसमें ध्रुवपना है। इसलिये गाथामें कहा है कि पर्यायोंकी अपेक्षासे ही

उत्पाद व्यय ध्रुवपना है। सहभावी पर्याय ध्रुवपनेको व क्रमवर्ती पर्याय उत्पाद व्ययको बताती है। जब हम पर्याय या अंशपर दृष्टि न रक्खें केवल द्रव्य सामान्य पर अथवा गुण सामान्यपर दृष्टि रखें तो यह कहेंगे कि द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यगुणरूप है या अविनाशी एकरूप है, किन्तु पर्यायार्थिक नयसे कहेंगे तब उस ही द्रव्यको उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप कहेंगे। जिस अपेक्षासे जो कहा जाय व जानाजाय उसी अपेक्षासे वह समझा जाना चाहिये। इस कथनमें भी द्रव्य एक समयमें नित्य अनित्यरूप है ऐसा बताया है।

पंचाध्यायीकारने भी यही भाव बताया है। जैसे—

उत्पादस्थितिभंगाः पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः।
ते पर्याया द्रव्यं तस्माद्द्रव्यं हि तत्त्रितयम् ॥ २०० ॥

भावार्थ-उत्पाद, स्थिति, व्यय ये तीनों ही पर्यायोंके होते हैं द्रव्यके नहीं। उन पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है इसलिये द्रव्य ही उन तीन रूप है अर्थात् उत्पादव्यय ध्रौव्यरूप है।

इस तरह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी अपेक्षासे द्रव्यके लक्षणका व्याख्यान करते हुए गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका-आगे दिखाते हैं कि निश्चय नयसे द्रव्य और पर्यायोंका अभेद है।

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति॥ १२ ॥
पर्यायवियुतं द्रव्यं द्रव्यवियुक्ताश्च पर्याया न सन्ति।
द्वयोरनन्यभूतं भावं श्रमणाः प्ररूपयन्ति ॥ १२ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(पज्जयविजुदं) पर्यायोंसे रहित

(दव्वं) द्रव्य (य) और (दव्वविजुत्ता) द्रव्यसे रहित (पज्जया) पर्यायें (णत्थि) नहीं होती हैं। (समणा) मुनिगण (दोण्हं) दोनोंका (अणण्णभूदं) एक अभेदरूप (भावं) भाव (परूविंति) कहते हैं।

विशेषार्थ–जैसे दही, दूध आदि पर्यायोंके विना गोरस नहीं मिल सक्ता है वैसे पर्यायोंके विना द्रव्य नहीं होता है। अथवा जैसे गोरसके विना दही दूध आदि पर्यायें नहीं हो सक्तीं वैसे द्रव्यके विना पर्याय नहीं होती हैं इसीलिये दोनोंका अभेद है अथवा पिछली आधी गाथाका यह भी अर्थ है कि द्रव्य और पर्यायोंका एकी भावरूप पदार्थ है ऐसा श्रमण कहते हैं। भाव शब्दको पदार्थ कहते हैं जैसे कहा है "द्रव्यपर्यायात्मको भावः पदार्थो वस्त्वस्ति" अर्थात् द्रव्य पर्यायरूप भाव या पदार्थ या वस्तु होती है।

यहां शुद्ध निश्चयनयसे सिद्धरूप शुद्ध पर्यायसे अभिन्न शुद्ध जीवास्तिकाय नामका जो शुद्ध जीव द्रव्य है वही ग्रहण करने योग्य है यह भाव है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने द्रव्य और पर्यायोंका अविनाभाव सम्बन्ध बताया है कि कोई भी द्रव्य किसी भी समय पर्यायों या अवस्थाओंके विना नहीं रह सक्ता है। द्रव्यका स्वभाव द्रवण रूप या परिणमन रूप है इससे वह विना परिणामोंके कभी पाया नहीं जा सक्ता है। हम जब कभी पुद्गल द्रव्यको देखना चाहेंगे तो हम उसकी अनेक अवस्थाओंमें ही उसे वर्तन करता हुआ पाएंगे। गोरस दूध, दही, मट्ठा, मलाई आदि पर्याय रूप ही दीख पड़ेगा। सुवर्ण कड़ा, बाली, कंठी, जंजीर, पटरी, मोहर रूप ही मिलेगा, विना अवस्थाओंके द्रव्य नहीं मिल सक्ता है और

न पर्यायें द्रव्य विना हो सक्ती हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल व व शुद्ध जीवोंमें मात्र स्वभाव रूप शुद्ध सदृश पर्यायें समय समय हुआ करती हैं। विना पर्यायोंके वे कभी कूटस्थ नहीं पड़े रहते हैं। अशुद्ध संसारी जीवोंकी दशाएं हमारे प्रत्यक्ष प्रगट हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी तीन कालवर्ती अनंत पर्यायोंको लिये हुए है। उनहीमेंसे एक पर्याय एक समय प्रगट होती है दूसरी पर्यायोंका तिरोभाव या अप्रगटपना रहता है। एक मिट्टीमें घड़ा, सकोरा, प्याला, मटकना, दस्तरी, थाली, कलशा, सुराही आदि अनंत पर्यायोंमें पलटनेकी शक्ति है इनमेंसे एक पर्याय एक समयमें प्रगट होगी, दूसरी सब उसमें शक्तिरूप बनी रहेंगी। मिट्टीकी जितनी पर्यायें होंगी सब मिट्टी रूप ही होंगी इससे मिट्टी अपनी अवस्थाओंके विना नहीं और अवस्था मिट्टी विना नहीं मिल सक्ती। यह जीव भी निगोद पर्यायसे लेकर सिद्ध पर्याय तककी अवस्थाओंको अपनेमें शक्ति रूप रखता है। उनमेंसे एक समयमें एक अवस्था ही प्रगट होगी अन्य शक्ति रूप बनी रहेंगी। जब एकेन्द्री वृक्षकी पर्यायमें यह जीव है तब दूसरी पर्यायें गुप्त रूप हैं। जब वही पंचेन्द्री मनुष्य हो गया तब देवपना आदि अप्रगट है या सिद्ध पर्याय अव्यक्त है। जब वही जीव सिद्ध पर्यायमें आया तब अन्य सर्व पर्यायें अप्रगट हैं। एक जीवमें उसके योग्य अनंत पर्यायें मौजूद हैं उनमेंसे एक समयमें एक प्रगट होती है। जीव अपनी पर्यायोंके विना नहीं मिलेगा वैसे जीवकी पर्यायें जीव विना नहीं पाई जासक्ती हैं।

इस कथनसे आचार्यने यह साफ कर दिया है कि कोई भी

पर्याय या अवस्था विशेष विना मूल द्रव्यके नहीं हो सक्ती है। तथा मूलद्रव्य विना परिणमन किये निरर्थक नहीं पड़ा रह सक्ता है। इससे यह प्रगट है कि यह जगतमात्र चेतन तथा जड़ पदार्थोंकी अवस्थारूप दिखलाई पड़ता है, परन्तु जिनमें ये अवस्थाएं होती हैं वे चेतन व अचेतन द्रव्य सतरूप नित्य अविनाशी अकृत्रिम हैं तथा यह भी बताया है कि चेतनकी पर्यायें चेतनरूप व अचेतनकी अचेतनरूप होंगी, अमूर्तीक अखंड जीव द्रव्य अनंत होनेपर भी अनंत ही रहेंगे, न वे कभी एकमेंसे खंडरूप भये और न वे फिर मिलकर सब एक हो जांयगे क्योंकि वे सब भिन्न२ द्रव्य हैं। कालाणु असंख्यात हैं वे भो भिन्न२ ही रहते हैं, उनमें मिलनेकी शक्ति नहीं है। धर्म, अधर्म, आकाश तो एक एक ही अखंड अमूर्तीक द्रव्य हैं। मात्र पुद्गलमें परस्पर मिलकर स्कंध बननेकी तथा स्कंधमे छोटे स्कंध या परमाणुरूप होनेकी शक्ति है। क्रियावान् जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य हैं—जब यह कहा कि द्रव्य अपनी पर्यायोंसे अभेद है तब यह प्रगट है कि जीवसे पुद्गलकी पर्यायें व पुद्गलसे जीवकी पर्यायें नहीं बन सक्ती हैं। जीव द्रव्य अपनी पर्यायोंका उपादान कारण है। पुद्गल अपनी पर्यायोंका उपादान कारण है। इससे एक ही ब्रह्मचेतनसे चेतन अचेतनरूप जगतको माननेवालोंका तथा एक प्रकृति या जड़से चेतन अचेतनरूप जगतको माननेवालोंका निषेध किया गया—जो द्वैतरूप जगत है वह सदा द्वैतरूप था व द्वैतरूप ही रहेगा।

द्रव्यका अपनी पर्यायोंके साथ अन्योन्याभाव है किन्तु अन्य द्रव्य व उसकी पर्यायोंके साथ अत्यन्ताभाव है। द्रव्यमें अनंतप-

र्यायोंकी शक्ति है। जिस समय एक पर्याय है उस समय और पर्यायें नहीं हैं यह अन्योन्याभाव है, किन्तु अन्य कालमें जो पर्याय अव नहीं है वह हो जायगी। जैसे एक जीवमें मनुष्य होते हुए देवादि-पर्यायें नहीं हैं, परन्तु कालान्तरमें मनुष्यपर्याय देवपर्यायमें वदल सक्ती है। एक द्रव्य कभी दूसरे रूप नहीं होसक्ता है इसीको अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसा स्वामी समंतभद्रने आप्तमीमांसामें कहा है—

**सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यायोहव्यतिक्रमे।**
**अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा ॥ ११ ॥**

भावार्थ—यदि पर्यायोंमें परस्पर अन्योन्याभाव न मानेंगे तो वह द्रव्य सर्वरूप होना चाहिये सो ऐसा असंभव है। गेहूंका जव आटा वनाया गया तव गेहूंकी अवस्था न रही। आटेमें गेहूंकी अवस्थाका अभाव है यही अन्योन्याभाव है। एक चद्दरको तह करके छोटा थान कर लिया। अव थानमें फैली हुई चद्दरकी अवस्था नहीं है, परन्तु फिर उस थानको फैला दिया—चद्दरमें कर दिया तव पहलेकीसी अवस्था हो गई। इसलिये अन्योन्याभावमें पर्याय अनेक प्रकार चाहे वैसी ही चाहे अन्यरूप होती रहती है तथा यदि अत्यन्ताभाव न मानें तो सर्वथा सव एक होजावें अर्थात् तव जीव और पुद्गल अलग२ न रहें सो ये भिन्न२ द्रव्य कभी मिलकर एक नहीं होते हैं ये ही इनमें अत्यन्ताभाव है।

द्रव्य अपनी पर्यायोंसे अभेद है, पर्यायें द्रव्यसे अभेद हैं ऐसा कहनेसे हमें यह निश्चय करना चाहिये कि हमारा आत्मा इस मनुष्यपर्यायसे पहले अनंतपर्यायें धारण करचुका है तथा कर्म-वश आगे भी धारण करता रहेगा, किन्तु जो हम कर्मोंका नाश

करदेंगे तो यही हमारा जीव सिद्धपर्यायमें हो जायगा तब यह शुद्ध दशामें मात्र शुद्ध सदृशपर्यायमें ही परिणमन करेगा। फिर अशुद्ध व विभावपर्याय न होंगी, इससे हमको सिद्धपर्यायकी प्रगटताके लिये अपने ही शुद्ध जीव द्रव्यके शुद्ध स्वभावका ही मनन करना योग्य है। शुद्ध भावनासे ही शुद्धताकी प्राप्ति होती है।

वृत्तिकारका कथन है कि जिस वाक्यमें नय शब्दका उच्चारण न हों वहां या नयोंके द्वारा शब्दका व्यवहार करना चाहिये। क्रिया और कारक एक दूसरेसे सम्बन्ध रखते हैं, जहां एक न हों दूसरेको समझ सक्ते हैं अथवा स्यात् शब्दके समान जानना चाहिये। जहां स्यात् शब्द न कहें वहां भी समझ लेना चाहिये॥ १२ ॥

उत्थानिका—आगे निश्चयनयसे द्रव्य और गुणोंका अभेद है ऐसा दिखाते हैं—

**दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।**
**अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा॥ १३ ॥**

**द्रव्येण विना न गुणा गुणैर्द्रव्यं विना न संभवति।**
**अव्यतिरिक्तो भावो द्रव्यगुणानां भवति तस्मात्॥ १३ ॥**

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(दव्वेण) द्रव्यके (विणा) विना (गुणा ण) गुण नहीं हो सक्ते तथा ( गुणेहिं विणा ) गुणोंके विना (दव्वं) द्रव्य (ण संभवदि) नहीं संभव है (तम्हा) इसलिये (दव्वगुणाणं) द्रव्य और गुणोंका (अव्वदिरित्तो भावो) अभिन्नभाव (हवदि) होता है।

विशेषार्थ—वृत्तिकार पुद्गल द्रव्यपर घटाकर कहते हैं कि जैसे पुद्गल द्रव्यकी सत्ताके विना उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं पाए

जासक्ते वैसे द्रव्यके विना गुण नहीं होते हैं तथा जैसे वर्णादि गुणोंको छोड़कर पुद्गल द्रव्य नहीं मिलता है वैसे गुणोंके विना द्रव्य नहीं प्राप्त हो सक्ता है। द्रव्य और गुणोंकी सत्ता अभिन्न है-एक है, क्योंकि द्रव्यकी अपेक्षा वे अभिन्न हैं। द्रव्य और गुणोंके प्रदेश अभिन्न हैं-एक हैं, क्योंकि क्षेत्रकी अपेक्षा एकता है। द्रव्य और गुणोंका एक ही काल उत्पाद व्ययका अविनाभाव है क्योंकि कालकी अपेक्षा दोनों एक हैं। द्रव्य और गुण दोनों एक स्वरूप हैं क्योंकि उनका स्वभाव एक है। क्योंकि द्रव्य और गुणोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी अपेक्षा अभेद है इस लिये द्रव्य और गुण अभिन्न हैं एक हैं। अथवा दूसरा व्याख्यान करते हैं, कि भाव जो पदार्थ वह द्रव्य और गुणोंसे अभिन्न है अर्थात् द्रव्य गुण-रूप ही पदार्थ कहा गया है। निर्विकल्प समाधिके बलसे उत्पन्न जो वीतराग सहज परमानन्दमई सुख उसकी संवित्ति, प्राप्ति, प्रतीति व अनुभूतिरूप जो स्वसंवेदन ज्ञान है उसीहीसे जानने योग्य या प्राप्त होने योग्य जो रागादि विभावोंके विकल्प जालोंसे शून्य होकर भी केवलज्ञानादि गुणोंके समूहसे भरा हुआ शुद्ध जीवास्तिकाय नामका शुद्ध आत्मद्रव्य है उसीको ही मनसे ध्याना चाहिये, उसीको ही बचनोंसे कहना चाहिये व उसीका ही अनुष्टान या ध्यान कायसे करना चाहिये, यह इस सूत्रका तात्पर्य है।

भावार्थ-जैसे इसके पहलेकी गाथामें आचार्यने क्रमवर्ती होनेवाली पर्यायोंके साथ द्रव्यका अभेद बताया वैसे इस गाथामें उन्होंने द्रव्यके साथ सदा रहनेवाले गुणोंका द्रव्यसे एकत्त्व जनाया है। एक द्रव्य अनेक गुणोंका समुदाय है। इन गुणोंमें कुछ अस्ति-

त्व वस्तुत्व आदि सामान्य गुण है जो सर्व द्रव्योंमें साधारण है। कुछ विशेष गुण हैं जो उस द्रव्यकी जातिके सिवाय दूसरे विजातीय द्रव्यमें नहीं पाए जाते हैं। जैसे जीवमें चेतनपना, सुखपना, चारित्रपना आदि। पुद्गलमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णपना आदि। हरएक द्रव्य अपने भीतर संभव सामान्य तथा विशेष गुणोंका समुदाय है। वह द्रव्य जितना बड़ा है उतने ही बड़े उसके सर्व गुण हैं अर्थात् द्रव्यके प्रदेशोंमें सर्वगुण व्यापक हैं। इसीसे जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव द्रव्यका है वही गुणोंका है। जो अखंड पिंड द्रव्यका है वही गुणोंका है। जो क्षेत्र या आकार द्रव्यका है वही गुणोंका है। जो परिणमनका समय द्रव्यका है वही गुणोंका है। जो स्वभाव द्रव्यका है वही उसके गुणोंका है। द्रव्य और गुणोंमें केवल संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनकी अपेक्षा भेद करके उनको समझा या समझाया जाता है। निश्चयसे उन दोनोंकी कभी जुदाई न थी, न है, न कभी हो सक्ती है। इस कथनसे उनका मत निराकरण किया गया जो कहते हैं कि एक समय द्रव्य गुण विना होता है फिर समवाय पदार्थ उनका सम्बंध करदेता है। एक क्षण भी द्रव्य गुण विना नहीं और गुण द्रव्यके विना नहीं मिल सक्ते हैं। गुण उनको ही कहते हैं जो द्रव्यके साथ व्यापक हों।

इससे यह भी वताया गया कि जितने गुण जिस द्रव्यमें होते हैं उतने ही उसमें वने रहते हैं--न उनमेंसे कोई निकल जाता है न कोई वढ़जाता है। इसीसे जीवके गुण पुद्गलमें व पुद्गलके गुण जीवमें नहीं आसक्ते। जीव सदा जीव रहेगा व पुद्गल सदा पुद्गल रहेगा। तथा एक जीवके कभी दो जीव न होंगे, न दो जीव या

अनेक जीव मिलकर एक होजांयगे क्योंकि बंध होना व छुटना यह शक्ति पुद्गलके परमाणुओंमें है और किसी द्रव्यमें नहीं है। अमूर्तीक द्रव्य अपनी २ सत्ताको सदा भिन्न२ रखते हैं। अमूर्तिक द्रव्योंके वास्तवमें खंड नहीं होसक्ते हैं। जो आकाशके भेद घटाकाश पटाकाश कहना है सो मात्र व्यवहार है, कल्पनारूप है। वास्तवमें आकाशके खंड नहीं होते हैं। प्रत्येक जीव अपने२ भिन्न ज्ञानादि गुणोंको भिन्न२ रखता हुआ शुद्ध निश्चयसे सर्व शुद्ध सिद्ध समान है व वैसा ही मैं हूं ऐसी शुद्ध दृष्टि रखकर रागद्वेष त्याग हमें स्वस्वरूपमें गुप्त होना योग्य है। गुण कभी द्रव्यसे जुदे नहीं होते हैं इससे यह भी कहा गया कि मुक्त अवस्थामें जीव कभी निर्गुण नहीं होगा। मात्र उन गुणोंमें जो परद्रव्यके संयोगसे विकारता थी वह मिट जायगी। द्रव्य ज्योंका ज्यों बना रहेगा।

पंचाध्यायीकारने द्रव्य और गुणका अभेद इस तरह बताया है—

अथ चैष ते प्रदेशाः सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भणिताः।
अपि च विशेषाः सर्वे गुणसंज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः ॥३८॥
तेषामात्मा देशो न हि ते देशात्पृथक्त्वसत्ताकाः।
न हि देशे हि विशेषाः किन्तु विशेषैश्च तादृशो देशः ॥३९॥
अत्रापि च संदृष्टिः शुक्लादीनामियं तनुस्तन्तुः।
न हि तन्तौ शुक्लाद्याः किन्तु सिताद्यैश्च तादृशस्तन्तुः ॥४०॥
अथ चेद् भिन्नो देशो भिन्ना देशाश्रिता विशेषाश्च।
तेषामिह संयोगाद् द्रव्यं दण्डीव दंडयोगाद्वा ॥ ४१ ॥
नैवं हि सर्वसंकरदोषत्वाद्वासुसिद्धदृष्टांतात्।
तत्कि चेतनयोगादचेतनं चेतनं न स्यात् ॥ ४२ ॥
अथवा विना विशेषैः प्रदेशसत्त्वं कथं प्रमीयेत्।
अपि चान्तरेण देशैर्विशेषलक्ष्मावलक्ष्यते च कथम् ॥ ४३ ॥

अथ चैतयोः पृथक्त्वे हठाद्हेतोश्च मन्यमाने पि।
कथमिव गुणगुणिभावः प्रमोयते सत्समानत्वात् ॥ ४४ ॥
तस्मादिदमनवद्यं देशविशेषास्तु निर्विशेषास्ते।
गुणसंज्ञकाः कथंचित्परणतिरूपाः पुनः क्षणं यावत् ॥४५॥

भावार्थ–द्रव्योंके सर्व प्रदेश जितने जिस द्रव्यमें हैं वे सर्व गुणसहित हैं। गुणसहित उन प्रदेशोंको ही द्रव्य कहते हैं, उन प्रदेशोंमें रहनेवाले जो सर्व विशेष हैं उनहीको गुण कहते हैं। कालद्रव्य एक प्रदेशी है, शेष पांच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं उन गुणोंका समूह ही देश अर्थात् अखंड द्रव्य है वे गुणद्रव्यसे भिन्न अपनी सत्ता नहीं रखते हैं, और यह भी नहीं कह सक्ते हैं कि द्रव्यमें गुण रहते हैं जैसे टोकरीमें बेर व घरमें मनुष्य रहते हैं, किन्तु उन गुणोंके मेलसे ही वह द्रव्य कहलाता है अथवा जैसा व जितना बड़ा द्रव्य है वैसे व उतने बड़े उसके सर्व गुण हैं। अर्थात् हरएक गुण द्रव्यके सर्वांशमें ऐसा व्यापक है कि कभी पृथक् नहीं हो सक्ता है ॥ ३९॥

गुण गुणीमें अभेद है इसीमें दृष्टांत तागेका है। तागा शुक्ल गुण आदिका ही शरीर है, शुक्लादि गुणोंको छोड़कर तन्तु कोई और वस्तु नहीं है न ऐसा कहा जासक्ता है कि तन्तुमें शुक्लादि गुण हैं. किन्तु यही कह सक्ते हैं कि शुल्कादि गुणोंके सदृश ही तंतु हैं अर्थात् अपने गुणोंका अखंड समुदाय ही तंतु है। कोई भी तागेको उसकी सफेदी आदि गुणोंसे अलग नहीं पासक्ता है। दोनोंकी सत्ता अभिन्न है ॥ ४० ॥

यदि द्रव्यको भिन्न समझा जाय और द्रव्यके आश्रित रहनेवाले गुणोंको भिन्न समझा जाय तथा उन सबके संयोगसे द्रव्य कहलाने

लगे जैसे पुरुष भिन्न है दंड भिन्न है, दोनोंके संयोगसे दंडी कहलाता है तो क्या हानि है ॥ ४१ ॥ इसका उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं होसक्ता है क्योंकि ऐसा होनेसे सर्व संकर दोष होजायगा अर्थात् सर्व द्रव्य एकमेक होजावेंगे। यह बात प्रसिद्ध दृष्टांतसे सिद्ध है। यदि गुणोंको द्रव्यसे जुदा किसी भी काल मानेंगे तो फिर क्या अचेतन द्रव्य जड़ चेतना गुणके संयोगसे चेतन न होजायगा अर्थात् तब कोई नियमित भेद चेतन अचेतनका न रहेगा। कभी अचेतन चेतन होजायगा तथा कभी चेतन अचेतन होजायगा सो कभी नहीं होसक्ता। द्रव्य अपने गुणोंसे कभी अलग नहीं होसक्ता है, न गुण द्रव्यके विना अलग पाए जासक्ते हैं ॥४२॥ अथवा विना गुणोंके द्रव्यके प्रदेशोंकी सत्ता ही नहीं जानी जासक्ती है अथवा विना द्रव्यके प्रदेशोंके गुण भी नहीं जाने जासक्के अर्थात् गुण समूह ही द्रव्य है ॥ ४३ ॥ यदि हठपूर्वक विना किसी हेतुके गुण और द्रव्य भिन्न२ सत्तावाले जुदे माने जावें तो ऐसी अवस्थामें दोनोंकी सत्ता समान जुदी २ होगी, सत्ताकी समानता होनेपर यह गुण है यह गुणी है यह कैसे माना जासक्ता है अर्थात् तब दोनों ही समान हो जांयगे, कौनको गुण व कौनको गुणी कहें यह नहीं बन सकेगा ॥ ४४ ॥ इस लिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि द्रव्यके विशेष ही गुण कहलाते हैं। गुणोंमें गुण नहीं रहते हैं। वे गुण प्रतिक्षण परिणमनशील हैं, परन्तु उनका न कभी नाश होता है न वे द्रव्यकी सत्तासे जुदी सत्ता कभी रखते हैं। द्रव्य अनंत गुणोंका अखंड पिंड है। दोनोंका अमिट व अभेद तादात्म्य सम्बन्ध है।

इस तरह गुण पर्यायोंका लक्षण कहते हुए दो गाथाएं पूर्ण

हुई व उनके पूर्व सूत्रके साथ तीन गाथाके समुदायसे चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-आगे सर्व शंकाओंके दूर करनेके लिये प्रमाण सप्तभंगीका स्वरूप कहते हैं।

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणोय तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ १४ ॥
स्यादस्ति नास्त्युभयमवक्तव्यं पुनश्च तत्त्रितयं।
द्रव्यं खलु सप्तभंगमादेशवशेन सम्भवति ॥ १४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-( दव्वं ) द्रव्य ( खु ) प्रगटपने (आदेसवसेन) विवक्षा या प्रश्नोत्तरके कारणसे (सत्तभंगं) सात भेद-रूप (संभवदि) होता है जैसे (सिय अत्थि) स्यात् अस्ति (णत्थि) स्यात् नास्ति, (उहयं) स्यात् उभय अर्थात् अस्तिनास्ति (अव्वत्तव्वं) स्यात् अवक्तव्य ( पुणो य ) तथा ( तत्तिदयं ) अवक्तव्य तीनरूप अर्थात् स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य ॥

विशेषार्थ-अन्य ग्रन्थमें कहा है "एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाण-नयवाक्यतः सदादिकल्पना या च सप्तभंगी सा मता" अर्थ-एक ही पदार्थमें विना किसी विरोधके प्रमाण व नयके वाक्यसे सत आदिकी कल्पना करना सो सप्तभंगी कही गई है॥ जैसे (१) स्यात् अस्ति अर्थात् कथंचित् या किसी अपेक्षासे द्रव्य है अर्थात् द्रव्य अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुष्टयकी अपेक्षासे है। (२) स्यात् नास्ति अर्थात् कथंचित् या किसी अपेक्षासे द्रव्य नहीं है अर्थात् परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप पर चतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्य नहीं

है। (३) स्यात् अस्ति नास्ति अर्थात् कथंचित् द्रव्य है व नहीं दोनों रूप है। अर्थात् स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे है, परचतुष्टयकी अपेक्षा नहीं है। (४) स्यात् अवक्तव्य अर्थात् कथंचित् द्रव्य वचन-गोचर नहीं है अर्थात् एक समयमें यह नहीं कहा जासक्ता कि द्रव्य स्वचतुष्टयकी अपेक्षा है व परचतुष्टयकी अपेक्षा नहीं है क्योंकि कहा है—"क्रमप्रवृत्तिर्भारती" अर्थात् वाणी क्रम क्रमसे ही बोली जासक्ती है। (५) स्यात् अस्ति अवक्तव्य अर्थात् कथंचित् द्रव्य है और अवक्तव्य दोनो रूप है। अर्थात् स्वद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षासे है परन्तु एक साथ स्वपरद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा अवक्तव्य है। (६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य अर्थात् कथंचित् द्रव्य नहीं और अवक्तव्य दोनों रूप है अर्थात् परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा नहीं है परन्तु एक साथ स्वपरद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा अवक्तव्य है। (७) स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य अर्थात् किसी अपेक्षासे है व नहीं तथा अवक्तव्य तीनोंरूप है अर्थात् क्रमसे स्वचतुष्टयकी अपेक्षा है, परचतुष्टयकी अपेक्षा नहीं है परन्तु एक साथ स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षा अवक्तव्य है। इस तरह ये सात भंग प्रश्नके उत्तरके वशसे द्रव्यमें संभव हैं। अर्थात—(१) क्या द्रव्य है? (२) क्या द्रव्य नहीं है? (३) क्या द्रव्य दोनों रूप है? (४) क्या द्रव्य अवक्तव्य है? (५) क्या द्रव्य अस्ति और अव-क्तव्य दो रूप है? (६) क्या द्रव्य नास्ति और अवक्तव्य दो रूप है? (७) क्या द्रव्य अस्ति नास्ति और अवक्तव्य तीन रूप है? इन प्रश्नोंके किये जानेपर उनका सात प्रकार ही समाधान उत्तरमें किया जाता है। यह प्रमाण सप्तभंगीका स्वरूप कहा। एक ही

द्रव्य किस तरह सात भंगरूप होता है ? ऐसा प्रश्न होनेपर उसका समाधान करते हैं कि जैसे देवदत्त नामका पुरुष एक ही है वही मुख्य और गौणकी अपेक्षासे वहुत प्रकार है सो इस तरह पर है— कि वही देवदत्त अपने पुत्रकी अपेक्षासे पिता कहा जाता है। वही अपने पिताकी अपेक्षासे पुत्र कहा जाता है। मामाकी अपेक्षासे भानजा कहा जाता है, वही अपने भानजेकी अपेक्षासे मामा कहा जाता है। अपनी स्त्रीकी अपेक्षासे भर्तार कहा जाता है, अपनी वहनकी अपेक्षासे भाई कहा जाता है। अपने शत्रुकी अपेक्षा शत्रु कहा जाता है वही अपने इष्टकी अपेक्षा मित्र कहा जाता है इत्यादि। तैसे एक ही द्रव्य मुख्य और गौणकी अपेक्षाके वशसे सात भंग-रूप हो जाता है। इसमें कोई दोष नहीं है, यह सामान्य व्याख्यान है। यदि इससे सूक्ष्म व्याख्यान करें तो द्रव्यमें जो सत् एक नित्य आदि स्वभाव हैं उनमेंसे एक२ स्वभावके वर्णनमें सात भंग कहने चाहिये। वे इस तरह कि स्यात अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात अस्तिनास्ति, स्यात् अवक्तव्य इत्यादि या स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात एकअनेक, स्यात् अवक्तव्य इत्यादि या स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् नित्यानित्य, स्यात् अवक्तव्य इत्यादि। ये प्रत्येकके सात भंग इसी देवदत्तके दृष्टांतके समान होंगे। जैसे एक ही देव-दत्त (१) स्यात् पुत्र है अर्थात् अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है। (२) स्यात् अपुत्र है अर्थात् अपने पिताके सिवाय अन्यकी अपे-क्षासे वह पुत्र नहीं है। (३) स्यात् पुत्र अपुत्र दोनों रूप है अर्थात् अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है तथा अन्यकी अपेक्षा पुत्र नहीं है। (४) स्यात् अवक्तव्य है अर्थात् एक ही समय भिन्न२

अपेक्षासे कहें तो यह नहीं कहे सक्ते हैं कि पुत्र अपुत्र दो रूप है। ( ५ ) स्यात् पुत्र और अवक्तव्य है अर्थात् यह देवदत्त जब अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है तब ही एक समयमें कहने योग्य न होनेसे कि पुत्र है या अपुत्र है यह अवक्तव्य भी है। (६) स्यात् अपुत्र अवक्तव्य है अर्थात् जब यह देवदत्त अपने पितासे अन्यकी अपेक्षा अपुत्र है तब ही एक समयमें कहने योग्य न होनेसे अवक्तव्य है। (७) स्यात् पुत्र अपुत्र तथा अवक्तव्य है अर्थात् अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र, परकी अपेक्षा अपुत्र तब ही एक समयमें कहने योग्य न होनेसे अवक्तव्य है। इसी तरह सूक्ष्म व्याख्यानकी अपेक्षासे सप्तभंगीका कथन जान लेना चाहिये। स्यात् द्रव्य है इत्यादि, ऐसा पढ़नेसे प्रमाण सप्तभंगी जानी जाती है क्योंकि स्यात् अस्ति यह बचन सकल वस्तुको ग्रहण करनेवाला है इसलिये प्रमाण वाक्य है। स्यात् अस्ति एव द्रव्यम् ऐसा वचन वस्तुके एकदेशको अर्थात् उसके मात्र अस्तित्व स्वभावको ग्रहण करनेवाला है इससे नय वाक्य है। क्योंकि कहा है "सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति" अर्थात् वस्तुसर्वको कहनेवाला वचन प्रमाणके आधीन है और उसीके एक अंशको कहलानेवाला वचन नयके आधीन है। अस्ति द्रव्यं यह प्रमाण वाक्य है व अस्ति एव द्रव्यं यह नय वाक्य है। इस तरह प्रमाणादि रूपसे व्याख्यान जानना। यहां छः द्रव्योंके मध्यमेंसे सात भंगरूप जो शुद्ध जीवास्तिकाय नामका शुद्ध आत्मद्रव्य है वही ग्रहण करने योग्य है यह भावार्थ है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने सप्तभंगीका स्वरूप इसलिये बताया है कि जब पहले कहे चुके हैं कि द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य

स्वरूप है तब वह द्रव्य एक ही समयमें नित्य और अनित्य दोनों रूप सिद्ध होता है, इन दो विरुद्ध स्वभावोंको समझानेकी रीति सात तरहसे होती है। शिष्योंको शंका न रहे वे ठीक२ समझ जावें कि भिन्न२ अपेक्षासे दो विरुद्ध स्वभाव एक पदार्थमें हैं परन्तु उनका कथन एक समयमें वचनोंसे नहीं हो सक्ता है। जब हम कहेंगे कि द्रव्य है तब इस वचनका यह भाव होगा कि द्रव्यमें अपनेपनेकी सत्ता है या मौजूदगी है तब ही उस द्रव्यमें अपनेको छोड़कर अन्य सर्व द्रव्योंकी असत्ता है या मौजूदगी नहीं है। ये अस्ति नास्ति दो विरोधी स्वभाव हरएक द्रव्यमें मौजूद हैं जैसे किसीने प्रश्न किया वहां कौन बैठा है? हमने उत्तर दिया कि वहां रामसेवक बैठा है। फिर वह प्रश्न करता है क्या वहां रामचरण नहीं है? हम उसी रामसेवकपर लक्ष्य करके जवाब देते हैं कि यहां रामचरण नहीं है। हमारे इन दो वाक्योंके कहनेका यही भाव है कि रामसेवकमें रामसेवकपनेकी सत्ता या मौजूदगी है तथा उसी समय उसी रामसेवकमें रामचरण या अन्य किसी औरकी असत्ता या गैर-मौजूदगी है। इसीको कहेंगे स्यात् अस्ति रामसेवकः स्यात् नास्ति रामसेवकः फिर इनही बातोंको दृढ़ करनेके लिये पांच भंग और कहे जासकेंगे।

जिनका यह मत है कि वस्तु एकरूप ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है, अभावरूप ही है, भावरूप ही है, अर्थात् जो सर्वथा वस्तुको एक एक स्वभावरूप मानकर संतोष कर रहे हैं, उनको यह जैन सिद्धांत कहता है कि वस्तुका पूर्ण स्वरूप तुम नहीं कहते हो, वस्तुमें अनेक स्वभाव होते हैं उन अनेक स्वभाव-

रूप वस्तु है। वस्तु एक अखंडपिंडकी अपेक्षा एक रूप है जैसे एक आमका फल। वहीं वस्तु अपने भिन्न२ गुण, स्वभावकी अपेक्षा अनेक रूप है जैसे आममें चिकनापना, मीठापना, सुगन्धपना, पीतपना आदि स्वभाव भिन्न २ हैं इससे अनेक रूप है। वस्तु गुणोंको कभी त्यागती नहीं इस दृष्टिसे नित्य है परन्तु वस्तु पर्यायोंको समय२ बदला करती है इससे अनित्य है। इत्यादि। ऐसी दशामें कोई भी दो विरोधी स्वभावोंको समझानेके लिए सात भंग कहे जा सक्ते हैं।

यह स्याद्वादका सिद्धांत भिन्न २ एकांत मतोंमें जो विरोध है उसको मेटकर एकत्व करसक्ता है। जैसे कुछ अंधे पूर्ण हाथीको न देखकर उसकी सूंड़को पकड़ कोई कहता था कि सूंड़सा है, कोई पग पकड़ कर कहता पगसा है, कोई पूंछ पकड़ कर कहता कि पूंछ-सा है, इस तरह परस्पर झगड़ा कर रहे थे उस समय कोई देखने-वाला बीचमें आकर समझा देता है कि ये सब हाथीके अंग हैं। हाथी ही उसे कहते हैं जिसके चार पग हों, सूंड हो, पूंछ हो बस वे सब ठीक २ हाथीको समझ जाते हैं और झगड़ा मिट जाता है। इसी तरह भिन्न २ एकांतमतोंका विवाद जैनदर्शनके इस स्या-द्वाद सिद्धांतके समझनेसे मिट जासक्ता है।

इस स्याद्वाद तथा सप्तभंगीकी आवश्यका श्लोकवार्तिकमें प्रमाणनयैरधिगमः इस सूत्रकी व्याख्यामें भलेप्रकार की है। वहीं लिखा है—

तत्र प्रश्नवशात्कश्चिद्विधौ शब्दः प्रवर्तते।
स्यादस्त्येवाखिलं यद्वस्तुस्वरूपादिचतुष्टयात् ॥ ४९ ॥

स्यान्नास्त्येव विपर्यासादिति कश्चिन्निषेधने।
स्याद्द्वैतमेव तद्द्वैतादित्यस्तित्वनिषेधयोः ॥ ५० ॥
क्रमेण यौगपद्याद्वा स्यादवक्तव्यमेव तत्।
स्यादस्त्यवाच्यमेवेति यथोचितनयार्पणात् ॥ ५१ ॥
स्यान्नास्त्यवाच्यमेवेति तत एव निगद्यते।
स्याद्द्वयावाच्यमेवेति सप्तभंग्यविरोधतः ॥ ५२ ॥
स्याच्छब्दादप्यनेकांतसामान्यस्यावबोधने।
शब्दान्तरप्रयोगोऽत्र विशेषप्रतिपत्तये ॥ ५५ ॥

भावार्थ–कभी विधिमें यह शब्द कहा जाता है स्यात् अस्ति एव जो स्वरूपादि चतुष्टयसे वस्तुको 'है' कहता है, कभी निषेधमें स्यात् नास्ति एव कहा जाता है जिसका भाव है कि परस्वरूपादिकी अपेक्षासे वस्तुमें नास्ति या अभावपना है। कभी स्यात् अस्ति नास्ति एव कहते हैं जो क्रमसे दोनों स्वभावोंको बताता है। कभी स्यात् अवक्तव्य कहा जो एक समयमें कहने योग्य नहीं है, यह बताता है। इसी तरह क्रम तथा युगपत्‌की अपेक्षासे स्यात् अस्ति अवक्तव्य एव, स्यात् नास्ति अव[illegible]व्य एव, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य एव ऐसे कह सक्ते हैं [illegible]स तरह सात भंग विना किसी विरोधके कहे जासक्ते हैं।

स्यात् शब्द तो अनेक [illegible] सामान्यका बोध कराता है कि वस्तुमें अनेक स्वभाव हैं त[illegible] स्यात् शब्दके साथ अस्ति आदि शब्द विशेष भावको मुख्यतासे [illegible]नेवाला होता है।

इसी सूत्रकी व्याख्यामें राजवार्तिकमें भी अनेकांतका बढ़िया कथन किया गया है। घटकी [illegible] करते हुए बताया है कि घट अपने चिन्होंसे घट है, पट आदिके चिन्होंसे घट नहीं है। अर्थात्

घटमें घटपनेका अस्तित्व है जब कि पट आदिका नास्तित्व है इसीके सात भंग हो जाते हैं। लिखा है "स्वपरात्मोपादानापोहन व्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वं" अर्थात् वस्तुका वस्तुपना तब ही सिद्ध होगा जब उसमें यह व्यवस्था की जावे कि वह अपने ही स्वरूप करके है तथा पर स्वरूप करके नहीं है। स्याद्वादको लिखा है "स्याद्वादो निश्चितार्थापेक्षितयाथातथ्यवस्तुवादित्वात् अनुन्मत्तवचनवत्"

अर्थात् निश्चित पदार्थमें अपेक्षासे यथार्थ वस्तुका कहनेवाला स्याद्वाद सिद्धांत है जैसे उन्मत्तता रहित चतुर पुरुषके वचन।

पंचाध्यायीकारने भी स्याद्वादका स्वरूप विस्तारसे दिखाया है, कुछ श्लोक हैं—

**तत्र विवक्ष्यो भावः केवलमस्ति स्वभावमात्रतयः।**
**अविक्षितपरभावाभावतया नास्ति सममेव ॥ २८५ ॥**

भावार्थ—उसी समय वस्तुके समान्य विशेष भावोंमें जो भाव विवक्षित होता है वही केवल वस्तुका अपना भाव समझा जाता है। उसी स्वभावकी अपेक्षासे वस्तुमें अस्तित्व कहा जाता है परन्तु जो भाव वक्ताको नहीं कहना है वही परभाव कहलाता है। जिस समय स्वभावकी विवक्षा की जाती है उस समय परभावकी विवक्षा न होनेसे उसका वस्तुमें अभाव समझा जाता है इसलिये परभावकी अपेक्षा नास्तित्व आता है। अस्तित्व नास्तित्व दोनों एक कालमें ही वस्तुमें घटित होते हैं।

**तस्माद्विधिरूपं वा निर्दिष्टं सन्निषेधरूपं वा।**
**संहृत्यान्यतरत्वादन्यतरे सन्निरूप्यते तदिह ॥ ३०२ ॥**

भावार्थ—इसलिये पदार्थ विधिरूप भी है व निषेधरूप भी

है तब कभी वह विधिरूप कहा जाता है कभी निषेधरूप कहा जाता है तब एक दूसरेका गौणपना रहता है। आप्तमीमांसामें स्वामी समंतभद्राचार्यने बहुत जानने योग्य कथन स्याद्वादका किया है। कहा है—

कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥ १४ ॥

भावार्थ—हे भगवन्! आपके मतमें वस्तु किसी अपेक्षासे सत् रूप ही है अर्थात् अपने स्वरूपादिसे सत्रूप ही है व किसी अपेक्षासे असत या अभावरूप ही है अर्थात् पर वस्तुके स्वरूपादिका उस वस्तुमें अभाव है। यदि दोनोंको क्रमसे कहें तो वस्तु दोनों सत् असत् या भाव अभावरूप है। यदि एक समय कहने लगें तो वस्तु अवक्तव्य हो जाती है। इसी तरह अवक्तव्यके तीन भङ्ग हो जाते हैं। वस्तु सर्वथा एक स्वभाव नहीं है। किंतु वक्ताके अभिप्राय या नयके वशसे वस्तु अनेकरूप है।

इस तरह जो वस्तुको भिन्न२ अपेक्षासे अनेक स्वभावरूप जानकर हठ छोड़ देता है और मध्यस्थ हो जाता है वही सच्चे वस्तुके स्वरूपको पाता है—वही निज आत्माको पर आत्मासे भिन्न जानकर तथा निज आत्माको अनंत स्वभावोंका अखंडपिंड मानकर उसीमें लय होजाता है, वही परम समाधिका लाभ उठाता है। समयसारकलशोंमें स्वामी अमृतचंद्र कहते हैं—

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन्स्वयम्।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥ १७ ॥
नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमितिप्रविलोकयन्तः।

स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो
ज्ञानी भवन्ति जिननीतिमलंघयन्तः ॥१६॥

भावार्थ—इस तरह तत्वकी व्यवस्था अनेक नयोंसे करके आत्माको स्वयं स्थापित करके यह अनेकांत रूप अलंघ्य जैन शासन प्रसिद्ध है। जो लोग अनेकांतमई दृष्टिसे स्वयं ही वस्तु तत्वकी व्यवस्थाको देखनेवाले हैं वे संत पुरुष जिनेन्द्रकी नीतिको न उल्लंघन करते हुए अधिक स्याद्वादकी शुद्धिको प्राप्त होकर ज्ञानी हो जाते हैं।

अतएव जिस तरह बने अपने शुद्ध स्वभावका अनुभव करके सुख शांतिका लाभ करना चाहिये, यह तात्पर्य है।

इस तरह एक सूत्रसे सप्तभंगीका व्याख्यान किया गया। इस तरह १४ गाथाओंमेंसे पांच स्थलोंसे पहली सात गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे बौद्ध मतानुसारी शिष्यने यह शंका की या पूर्व पक्ष किया कि यदि धर्मी कोई हो तो उसके धर्म या स्वभावोंका विचार करना चाहिये। यदि द्रव्य ही नहीं है तो सात भंग किसके होंगे? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि द्रव्यार्थिकनयसे सत् पदार्थका नाश नहीं है और न असत् पदार्थकी उत्पत्ति है। इस तरह बौद्धोंके क्षणिक एकांत मतका निषेध करते हैं—

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥ १५ ॥

भावस्य नास्ति नाशो नास्ति अभावस्य चैव उत्पादः।
गुणपर्यायेषु भावा उत्पादव्ययान् प्रकुर्वंति ॥ १५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—( भावस्स ) सत्‌रूप पदार्थका

(णासो) नाश (णत्थि) नहीं होता है, (चेव) वैसे ही (अभावस्स) अभावका या अवस्तुका या असत्‌का (उप्पादो) उत्पाद या जन्म (णत्थि) नहीं होता है। (भावा) पदार्थ (गुणपज्जयेसु) अपने गुणोंकी पर्यायोंमें (उप्पादवए) उत्पाद व व्यय (पकुव्वंति) करते रहते हैं।

विशेषार्थ—जैसे गोरस एक द्रव्य है उसका अपने गोरस नामके द्रव्यरूपसे न उत्पाद है न नाश है तथापि गोरसके वर्ण, रस, गंध, स्पर्श गुणोंमें अन्य वर्ण, रस, गंध, स्पर्शरूप परिणमन होते हुए उस गोरसकी जब नवनीत नामकी पर्याय नाश होती है तब घृत नामकी पर्याय उपजती है तैसे ही सत्‌रूप सदा रहनेवाले जो जीव आदि छः द्रव्य हैं उनका द्रव्यार्थिकनयसे कभी नाश नहीं होता है और जो असत् या नहीं विद्यमान जीवादि पदार्थ हैं उनका द्रव्यार्थिकनयसे द्रव्यरूपसे कभी उत्पाद नहीं होता है तथापि गुणोंकी पर्यायोंके अधिकरणमें जीव आदि छहों द्रव्य पर्यायार्थिकनयसे यथासंभव उत्पादव्यय करते रहते हैं। जैसे जीवोंमें नर नारकादि पर्यायें, पुद्गलोंमें द्विणुक स्कंध आदि पर्यायें होती हैं व धर्ममें गति सहकारीपना, अधर्ममें स्थिति सहकारीपना, आकाशमें अवगाह सहकारीपना तथा कालमें वर्तना सहकारीपना होनेसे पर्यायें होती हैं। यहां छः द्रव्योंके मध्यमें शुद्ध पारिणामिक परमभावको ग्रहण करनेवाली शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे अथवा निश्चयनयसे क्रोध, मान, माया, लोभ तथा देखे सुने व अनुभव किये हुए भोगोंकी इच्छा रूप निदान बंध आदि पर भावोंसे शून्य होनेपर भी अथवा उत्पाद व व्यय रहित होनेपर भी अनादि अनंत चिदा-

नंद मई एक स्वभावसे भरे हुए शुद्ध जीवास्तिकाय नामके शुद्ध आत्मद्रव्यको ध्याना चाहिये, यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि इस लोकालोकमें जो द्रव्य पाए जाते हैं उनका कभी सर्वथा द्रव्य रूपसे नाश नहीं होता है और न कोई नया द्रव्य 'जिसकी सत्ता नहीं है' कभी उपजके अपनी सत्ता कर सक्ता है। अनादिसे अनंतकाल तक जितने जीवादि छः द्रव्य सदासे हैं वे सदा बने रहेंगे। इससे यह स्पष्ट कर दिया है कि यह द्रव्यसमुदाय जगत कभी नया बना नहीं, न कभी इनका प्रलय होकर विलय हो जायगा या एक रूप हो जायगा-जीव सदा ही जीव रहेंगे। पुद्गल सदा ही पुद्गल रहेंगे। इसी तरह अन्य चार द्रव्य बराबर बने रहेंगे। जब द्रव्य बने रहते हैं तब उपजना या विनशना किसमें होता है? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि द्रव्योंमें जो गुण होते हैं उनमें सदा परिणमन हुआ करते हैं-उन गुणोंकी नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं व प्राचीन पर्याएं नष्ट होती हैं अर्थात् द्रव्यार्थिकनयसे सर्व द्रव्य नित्य हैं, पर्यायार्थिक नयसे उनमें पर्याय पलटा करती हैं इससे वे अनित्य हैं। जीव निगोदसे ले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, द्वेन्द्रियादि त्रस तिर्यंच, मनुष्य, नारकी, देव आदि पर्यायोंमें भ्रमण करता हुआ जीव ही बना रहता है। अवस्थाएं उपजती विनशती हैं। पुद्गल अणुसे स्कंध व स्कंधसे अणु बनते रहते हैं तथापि वह पुद्गल ही रहता है, मात्र अवस्थाओंमें बदलाव हुआ करता है। यह कहकर आचार्यने बौद्ध मतधारी शिष्यको सम्बोधा है कि पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक माननेसे

कोई भी कार्य नहीं हो सक्ता है इसलिये मात्र परिणमनकी अपेक्षा ही क्षणिकपना है, परन्तु मूल द्रव्य जिनमें परिणमन होता है वे नित्य हैं-सदा बने रहते हैं। श्री अमृतचंद्र आचार्यने तत्वार्थसारमें कहा है—

न च नाशोस्ति भावस्य न चाभावस्य सम्भवः ।
भावाः कुर्युर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च ॥ १३ ॥
द्रव्याण्येतानि नित्यानि तद्भावान्न व्ययन्ति यत् ।
प्रत्यभिज्ञानहेतुत्वं तद्भावेस्तु निगद्यते ॥ १४ ॥

भावार्थ-न तो भाव रूप पदार्थका नाश होता है, न अभावका जन्म होता है। पदार्थ अपने गुणपर्यायोंमें उत्पाद व्यय करते रहे हैं। ये छहों द्रव्य नित्य हैं, क्योंकि अपने मूल स्वभावको नहीं त्यागते हैं। उनमें तद्भावपना ही प्रत्यभिज्ञानका कारण है अर्थात् उसीसे यह बोध होता है कि यह द्रव्य वही है जो पहले था। इस तरह दूसरे स्थलमें बौद्धोंके लिये द्रव्यकी स्थापना करते हुए सूत्र कहा।

उत्थानिका-आगे पहली गाथामें जिन गुण और पर्यायोंको कहा है उन हीको प्रगट करते हैं-

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगो ।
सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा ॥ १६ ॥

भावा जीवाद्या जोवगुणाश्चेतना चोपयोगः ।
सुरनरनारकतिर्यञ्चो जोवस्य च पर्यायाः बहवः ॥ १६ ॥

अन्वय सहितसामान्यार्थ-(भावा) सत्‌रूप पदार्थ (जीवादीया) जीव आदि छः हैं। उनमें (जीवगुणा) जीवके गुण (चेदणा) चेतना (य) और (उवओगो) उपयोग हैं (य) और (सुरणरणार-

यतिरिया) देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च ये (जीवस्स) जीवकी ( वहुगा ) वहुतसी (पज्जया) पर्यायें हैं ।

विशेषार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छः द्रव्य हैं, उनमें धर्मादि चार द्रव्योंके गुण पर्याय आगे यथास्थान विशेषरूपसे कहेंगे । यहांपर पहले जीवके गुण कहते हैं । जीवके गुण, चेतना और उपयोग हैं । यह संग्रह वाक्य, समुदाय कथन, तात्पर्य कथन या संपिंडितार्थ कथन जानना । चेतनाके दो भेद हैं—शुद्धचेतना और अशुद्धचेतना, तथा उपयोगके दो भेद हैं—ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग । ज्ञानचेतनाको शुद्धचेतना कहते हैं । कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाको अशुद्धचेतना कहते हैं । इन तीन प्रकार चेतनाके स्वरूपको आगे चेतनाके अधिकारमें विस्तारसे कहेंगे । ज्ञानोपयोग सविकल्प है, दर्शनोपयोग निर्विकल्प है । ज्ञानोपयोगके आठ भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल पांच सम्यग्ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, विभंगज्ञान ये तीन अज्ञान इनमें केवलज्ञान सर्व आवरण रहित शुद्ध है । बाकीके सात ज्ञान मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक हैं, आवरण सहित हैं तथा अशुद्ध हैं । दर्शनोपयोग चार प्रकारका है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन । उनमें केवलदर्शन क्षायिक है आवरण रहित है तथा शुद्ध है । चक्षु आदि तीन क्षायोपशमिक हैं, आवरणसहित हैं तथा अशुद्ध हैं । अब जीवकी पर्यायें कहते हैं—देव, मनुष्य, नारकी, तिर्यंच ये जीवकी विभाव द्रव्यपर्यायें बहुत प्रकारकी होती हैं । पर्यायोंके दो भेद हैं द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय । द्रव्यपर्यायका लक्षण कहते हैं—अनेक द्रव्यस्वरूपकी एकताके ज्ञानका जो कारण हो उसे

द्रव्यपर्याय कहते हैं जैसे अनेक वस्तुओंसे बनी हुईको एक यान या वाहन कहना। यह द्रव्यपर्याय दो प्रकारकी है-एक समान जातीय, दूसरी असमान जातीय। समान जातीय उसे कहते हैं कि दो, तीन, चार आदि पारमाणुरूप पुद्गलद्रव्य मिलकर जो स्कंध हो जाते हैं वे अचेतनके साथ अचेतनके संबन्धसे होते हैं इसलिये समान जातीय द्रव्यपर्याय कहलाते हैं। अब असमान जातीयको कहते हैं—जीव जब दूसरी गतिको जाता है तब नवीन शरीररूप नोकर्म पुद्गलोंको लेता है उससे मनुष्य देव आदि पर्यायकी उत्पत्ति होती है। चेतनरूप जीवके साथ अचेतन रूप पुद्गलके मिलनेसे जो पर्याय हुई यह असमान जातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है। ये समान जातीय तथा असमान जातीय अनेक द्रव्योंकी एकरूप द्रव्य पर्यायें जीव और पुद्गलोंमें ही होती हैं तथा ये अशुद्ध ही होती हैं, क्योंकि अनेक द्रव्योंके परस्पर मिलनेसे हुई हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें परस्पर मिलनेरूप कोई पर्याय नहीं होती है न परद्रव्यके सम्बन्धसे कोई अशुद्ध पर्याय होती है।

अब गुण पर्यायोंको कहते हैं। वे भी दो प्रकार हैं—स्वभाव गुणपर्याय, विभाव गुण पर्याय। गुणके द्वारा अन्वयरूप एकताके ज्ञानका कारण रूप जो पर्याय हो उसे गुण पर्याय कहते हैं, वह एक द्रव्यके भीतर ही होती है जैसे पुद्गलका दृष्टांत आमके फलमें है कि उसके वर्णगुणकी हरी पीली आदि पर्यायें होती हैं। हरएक पर्यायमें वर्णगुणकी एकताका ज्ञान है इससे यह गुणपर्याय है। जीवके मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदिरूपसे ज्ञानका अन्यज्ञानरूप होना सो ज्ञान गुणकी पर्यायें हैं। हरएक

पर्यायमें ज्ञान गुणकी एकताका बोध है। ये जीव और पुद्गलकी विभाव गुण पर्यायें जाननी चाहिये। स्वभाव गुण पर्यायें अगुरुलघु गुणकी षट्गुणी हानि वृद्धिरूप हैं जो सर्व द्रव्योंमें साधारण पाई जाती हैं। इस तरह स्वभाव विभाव गुणपर्यायोंको जानना चाहिये। अथवा दूसरी तरहसे पर्यायोंके दो भेद हैं-अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय। इनमें अर्थपर्यायें अत्यन्त सूक्ष्म क्षणक्षणमें होकर नष्ट होनेवाली होती हैं जो वचनके गोचर नहीं होती है। व्यंजनपर्यायें जो स्थूल होती हैं वे देरतक रहनेवाली वचन गोचर व अल्पज्ञानीको दृष्टिगोचर भी होती हैं। ये विभावरूप व्यंजनपर्यायें जीवकी नर नारक आदि हैं तथा स्वभाव व्यंजनपर्याय जीवकी सिद्ध अवस्था है। अशुद्ध अर्थपर्याय जीवके कषायोंकी हानि वृद्धि होनेसे विशुद्धिरूप तथा संक्लेशरूप या शुभ अशुभरूप छः लेश्याके स्थानोंमें होनेवाली जाननी चाहिये। पुद्गलकी विभाव अर्थपर्यायें दो अणु आदिके स्कंधोंमें वर्णादिसे अन्य वर्णादिरूप होनेरूप हैं। पुद्गलकी विभाव व्यंजनपर्याय दो अणु आदिके स्कंध हैं जो चिरकालतक रहनेवाले हैं। शुद्ध अर्थपर्यायें अगुरुलघुगुणकी षट्गुणी हानि वृद्धिरूप हैं जिनको पहले ही स्वभावगुणपर्यायके व्याख्यानके समय सर्व द्रव्योंमें कह चुके हैं। ये अर्थपर्यायें और व्यंजनपर्यायें पहले कही हुई "जेसिं अत्थि सहाओ" इत्यादि गाथामें जो जीव पुद्गलकी स्वभाव विभाव द्रव्य पर्यायें तथा स्वभाव विभाव गुणपर्याय कही गई हैं उनमें ही गर्भित हैं तथा यहां इस गाथामें जो द्रव्यपर्यायें और गुणपर्यायें कहीं हैं उनके मध्यमें भी तिष्ठती हैं तब फिर अलग क्यों कही गई हैं? इसका समाधान यह है कि अर्थ पर्यायें

मात्र एक समय रहनेवाली कही गई हैं तथा व्यंजनपर्यायें चिर-काल रहनेवाली कही गई हैं इस कालकृत भेदको बतानेके लिये कही गई हैं। यहां यह भाव है कि सिद्धरूप शुद्ध पर्यायमें परिणमन करनेवाले शुद्ध जीवास्तिकाय नामके शुद्धात्म द्रव्यको ही ग्रहण करना योग्य है।

भावार्थ—यहां आचार्यने बताया है कि जो पदार्थ सत् हैं, अनादि अनंत हैं, अविनाशी हैं वे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल हैं। इनमेंसे जीवका विशेष गुण चेतना और उपयोग है। शुद्ध निश्चयनयसे जीव आप अपनी शुद्ध ज्ञान चेतना हीको चेतता है अर्थात् अपनी ज्ञान परिणतिमें ही मग्न रहता है तथा शुद्ध निर्मल ज्ञान दर्शन उपयोगका धारी है। अशुद्ध निश्चयनयसे यह जीव रागद्वेष रूप कर्मचेतनाको तथा मैं सुखी मैं दुःखी इस भावरूप कर्मफलचेतनाको अनुभव करता है तथा मति ज्ञानादि व चक्षु दर्शनादि उपयोगोंका धारी है। जीव द्रव्यकी पुद्गलके संयोगसे असमान जातीय नर नारक मनुष्य देवगतिमें नाना प्रकारकी विभाव पर्यायें होती हैं। शुद्ध निश्चयनयसे जीव सिद्ध पर्यायका धारी है अथवा जब पुद्गलका संयोग नहीं रहता है तब यह सिद्ध पर्यायमें अनन्त काल तक रहता है। प्रयोजन यह है कि अपने ही आत्माको निश्चयसे शुद्ध सिद्धसम निश्चय करके उसी हीकी भावना करनी चाहिये। यही सुख शांति पानेका मार्ग है।

पंचाध्यायीकारने जीव द्रव्यका वर्णन इस प्रकार किया है—

अस्ति जीवः स्वतस्सिद्धोऽनाद्यनंतोप्यमूर्तिमान्।<br>
ज्ञानाद्यनंतधर्मादि रूढत्वाद् द्रव्यमव्ययम् ॥ ३० ॥

साधारणगुणोपेतोऽप्यसाधारणधर्मभाक् ।
विश्वरूपोप्यविश्वस्थः सर्वापेक्षोपि सर्ववित् ॥ ३१ ॥
असंख्यातप्रदेशोपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोऽपि तन्मध्ये संस्थितोपि च ॥ ३२ ॥
अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोपि यः ।
स्याद् द्विधा सोपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः ॥ ३३ ॥

भावार्थ–जीवद्रव्य स्वतः सिद्ध है–अनादि अनंत है, अमूर्तीक है, ज्ञानादि अनन्त स्वभावका धारी है, अविनाशी है। यह जीव साधारण अस्तित्व आदि गुणोंका धारी है तथापि चेतना, वीर्य, सुख, चारित्र आदि विशेष असाधारण गुणोंका भी धारी है। प्रदेशोंकी गणनाकी अपेक्षा लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशी है अथवा सर्व विश्वमें ज्ञानकी अपेक्षा व्यापक है तथापि विश्वमें फैला नहीं है। सर्वसे उदासीन होकर भी सर्वको जाननेवाला है। यद्यपि असंख्यात प्रदेशी है तथापि इसके प्रदेश खण्डरूप नहीं होते–यह अखण्ड द्रव्य है। सर्व द्रव्योंसे भिन्न सत्ता रखने पर भी सर्व द्रव्योंके मध्यमें स्थित है। शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे यह जीव शुद्ध स्वरूप है, एकरूप है तथापि पर्याय दृष्टिसे यह जीव दो प्रकार है–एक मुक्त जीव, दूसरा संसारी जीव।

उत्थानिका–आगे यह समर्थन करते हैं कि यद्यपि पर्यायार्थिक नयसे द्रव्यमें उत्पत्ति और विनाश होते हैं तौ भी द्रव्यार्थिक नयसे उत्पत्ति और विनाश नहीं होते हैं–

मणुसत्तणेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा ।
उभयत्त जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो ॥१७॥

मनुष्यत्वेन नष्टो देहो देवो भवतीतरो वा।
उभयत्र जीवभावो न नश्यति न जायतेऽन्यः ॥ १७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(देही) यह देहधारी संसारी जीव (मणुसत्तणेण) मनुष्यपनेकी पर्यायसे (णट्ठो) नष्ट होता हुआ (देवो) देव (वा) अथवा (इदरो) दूसरा कोई (हवेदि) पैदा होजाता है। (उभयत्त) दोनोंही अवस्थाओंमें (जीवभावो) जीव द्रव्य (ण णस्सदि) न तो नाश होता है (ण अण्णो जायदे) न दूसरा कोई उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ-यह संसारी जीव यदि मनुष्य देहमें हो और मरे तब यह पुण्यके वशसे देव अथवा अपने २ कर्मके वशसे दूसरा कोई नारकी, तिर्यंच या मनुष्य होजाता है। यद्यपि पर्यायकी अपेक्षा मनुष्य भवका नाश हुआ परंतु द्रव्यकी अपेक्षा जिसने मनुष्यभव धारा था उस जीवका नाश नहीं हुआ, तैसे ही यद्यपि पर्यायार्थिक नयसे देव पर्याय उत्पन्न हुई तथापि द्रव्यार्थिक नयसे कोई दूसरा अपूर्व नहीं पैदा हुआ, किन्तु वही जीव है जो पहले मनुष्य पर्यायमें था, इसलिये यह बात सिद्ध है कि पर्याया-र्थिक नयसे उत्पाद व्यय होनेपर भी द्रव्यार्थिक नयसे उत्पाद व्यय नहीं होते हैं। इस व्याख्यानसे क्षणिक एकांत मतका तथा नित्य एकांत मतका निषेध किया गया।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने जीव द्रव्यका दृष्टांत देकर यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि द्रव्य नित्यानित्य स्वरूप है-न वह सर्वथा कूटस्थ बना रहता है और न वह क्षण क्षणमें नष्ट होता है और दूसरा ही पैदा होजाता है। यह संसारी जीव

पर्यायोंके बदलनेकी अपेक्षा मरता या जन्मता है, परंतु द्रव्यरूपसे सदा ही अपनी सर्व शक्तियोंको लिये हुए बना रहता है। अनंत पर्यायोंको धारण करे तौभी वहीका वही रहता है। जो जीव संसार अवस्थामें निगोद पर्यायमें था वही जीव किसी समय सिद्ध पर्यायमें पहुंच जाता है। कर्म बंधनके कारण इस जीवने अनेक पौद्गलिक घरोंको बदला, परंतु जो बदलनेवाला है वह वही बना रहा। इसलिये द्रव्य द्रव्यपनेकी अपेक्षा नाश नहीं होता है, न जन्मता है, किन्तु पर्यायकी अपेक्षासे नाश होता वा जन्मता है। जैसे सुवर्णका कड़ा तोड़कर उससे जंजीर बनाली तब यद्यपि कड़ेकी पर्याय नष्ट होगई और जंजीरकी पर्याय पैदा होगई तथापि सुवर्ण तो वही बना रहा-वह अपने स्वभावसे न बना न बिगड़ा। इसी लिये द्रव्यका लक्षण सत् कहा है कि वह अपनी परिणतियोंमें परिणमता हुआ भी सदा ज्योंका त्यों सत्‌रूप बना रहता है। श्लोकवार्तिकमें कहा है—

सद्द्रव्यलक्षणं शुद्धमशुद्धं सविशेषणं।
प्रोक्तं सामान्यता यस्मात्ततो द्रव्यं यथोदितं ॥ १ ॥

भावार्थ-द्रव्यका लक्षण सत् सामान्यपने कहा गया है। वह शुद्ध है या अशुद्ध है, यह विशेषता द्रव्यमें पर्यायकी दृष्टिसे है।

इसलिये हमें उचित है कि हम अपने ही आत्माको नित्य उत्पाद व्यय रहित एक रूप सामान्यपने वीतराग परमानंदमई जानकर व सर्व रागद्वेष छोड़कर उसीका ही अनुभव करें।

उत्थानिका-आगे इस ही अर्थको दो नयोंसे फिर भी दृढ़ करते हैं—

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसुत्ति पज्जाओ॥ १८॥
स च एव याति मरणं याति न नष्टो न चैवोत्पन्नः।
उत्पन्नश्च विनष्टो देवोमनुष्य इति पर्यायः॥ १८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-( सो चेव जादि ) वही जीव उत्पन्न होता है जो (मरणं जादि) मरणको प्राप्त होता है (ण णट्ठो) वास्तवमें जीव न नष्ट हुआ (ण चैव उप्पण्णो) और न पैदा हुआ, (देवो मणुसुत्ति पज्जाओ) देव या मनुष्य पर्याय (उप्पण्णो य विणट्ठो) ही उत्पन्न और नाश हुई है।

विशेषार्थ-पर्यायार्थिक नयसे वही जीव देवपर्याय रूपसे उत्पत्तिको प्राप्त होता है जो पहले मनुष्य पर्याय रूपसे नष्ट होता है। द्रव्यार्थिक नयसे न कोई जीव नष्ट हुआ न पैदा हुआ है, तब फिर कौन नष्ट हुआ व कौन पैदा हुआ? इसके लिये कहते हैं कि पर्यायार्थिकनयसे देवपर्याय उत्पन्न हुई और मनुष्य पर्याय नष्ट हुई। यहां कोई शंका करता है कि यदि पदार्थमें उत्पत्ति और विनाश होता है तब वह नित्य किस तरह रहा और यदि पदार्थ नित्य है तो उसमें उत्पाद व्यय किस तरह हैं, ये दोनों बातें विरुद्ध हैं जैसे शीत और उष्णका विरोध है? इस पूर्व पक्षके करनेपर आचार्य इसका समाधान करते हैं कि जिनके मतमें सर्वथा एकांतसे पदार्थ नित्य ही है या क्षणिक ही है उनके मतमें यह दूषण आसक्ता है, क्योंकि जिस अपेक्षासे नित्यपना है उसी ही अपेक्षासे अनित्यपना नहीं घट सक्ता है तथा जिस अपेक्षासे अ-नित्यपना है उस ही अपेक्षासे नित्यपना नहीं घट सक्ता है, क्योंकि

उनके मतमें वस्तु एक रूप ही मानी है। जैनमतमें पदार्थको अनेक स्वभाव रूप माना है, इसलिये द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यपनेकी अपेक्षा वस्तुमें नित्यपना घटता है और पर्यायार्थिक नयसे पर्यायकी अपेक्षा वस्तुमें अनित्यपना घट जाता है। ये द्रव्य पर्याय दोनों परस्पर अपेक्षा सहित हैं। वह सापेक्षपना पहले ही इस गाथामें "पज्ज-यरहियं दव्वं दव्वविमुत्ता य पज्जया णत्थि" कहा जा चुका है। इस कारणसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयसे परस्पर मुख्य गौण भावसे व्याख्यान करनेसे एक ही द्रव्यमें नित्य और अनित्यपना दोनों घट जाते हैं जैसे एक देवदत्तमें ही पिता व पुत्रपना सिद्ध है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

भावार्थ—ऊपरके कथनको समर्थन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो मरता है वही जन्मता है अर्थात् पर्यायको बदलनेवाला बना रहता है, केवल अवस्था बदल जाती है। जैसे कोई नाटकका खेलनेवाला ब्राह्मण कभी राजाका भेष रखकर राजाकी अवस्थामें होजाता है, कभी सिपाहीका रूप रखके सिपाहीकी अवस्थामें होजाता है, परंतु वह ब्राह्मणपनेको नहीं नष्ट करता है। वास्तवमें वह ब्राह्मण ही है। इसही तरह यह जीव अपने आयु कर्मके क्षय होने-पर मनुष्य पर्यायको छोड़ देता है और देव आयुके उदय होनेपर देव पर्यायमें जन्मता है, परंतु अपने जीव द्रव्यपनेको कभी छोड़ता नहीं है।

वास्तवमें शरीर बदले गए, जीव वही रहा। इसलिये यह निश्चय रखना चाहिये कि द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता है अर्थात् द्रव्य नित्य है और पर्याय नष्ट होकर उपजती रहती है इससे

अनित्य है। ये दोनों ही स्वभाव द्रव्यमें विना किसी विरोधके पाए जाते हैं। यदि ऐसा नहीं मानें तो द्रव्य कुछ भी काम इस जगतमें नहीं कर सक्ता है। पदार्थ द्रव्यार्थिक नयसे नित्य और पर्यायार्थिक नयसे अनित्य है यही इस गाथाका भाव है।

श्री विद्यानंदिस्वामीने पात्रकेशरी नामके स्तोत्रमें इसी वातको झलकाया है—

परैरपरिणामकः पुरुष इष्यते सर्वथा।
प्रमाणविषयादितत्त्वपरिलोपनं स्यात्ततः॥
कषायविरहान्न चाऽस्य विनिवन्धनं कर्मभिः।
कुतश्च पारनिर्वृतिः क्षणिकरूपतायां तथा॥

भावार्थ—पर जो वैशेषिक आदि उन्होंने आत्माको सर्वथा अपरिणामी या नित्य मान लिया है, ऐसा माननेसे प्रमाणका विषय आदि रूप तत्व नहीं होसक्ता अर्थात् जो परिणामी होगा उसीमें यह संभव है कि आत्मा अप्रमाणको त्यागे, प्रमाणताको ग्रहण करे तथा जो आत्मा सर्वथा अपरिणामी होगा उसमें कषाय नहीं पैदा होसक्ती, कषाय न होनेसे उसके कर्मोंका वंध नहीं होसक्ता। जब कर्मवंध नहीं होगा तब मुक्ति किससे होगी। जैसे सर्वथा नित्य माननेसे वन्ध व मोक्ष नहीं हो सक्ता वैसे सर्वथा अनित्य माननेसे भी नहीं बन सक्ता। इसी बातको आगे और स्पष्ट किया है—

पृथग्जनमनोनुकूलमपरैः कृतं शासनं।
सुखेन सुखमाप्यते न तपसेत्यवश्येन्द्रियैः॥
प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेष्यते।
ननु स्वमतलोकलिंगपरिनिश्चयैर्व्याहतम्॥ २३॥

भावार्थ—दूसरे क्षणिकवादी इंद्रियोंको वशमें न रखनेवाले

बौद्धोंने यह शासन बना दिया कि काय क्लेश विना सुखी रहनेसे पारलौकिक सुख मिलता है तपसे नहीं, परन्तु इन बौद्धोंका यह सिद्धांत है कि सर्व पदार्थ क्षणभंगुर हैं जो अपने ही मतसे विरोधरूप पड़ता है, क्योंकि क्षणभंगुर पदार्थके लिये शिर मुंडनकर ब्रह्मचर्यादि धारना सर्व निरर्थक है। यदि पदार्थ बना रहे तो उनका साधु होना आदि सार्थक हो तथा लोकसे भी यह बात विरोधरूप है। लोग कहते हैं कि जो तप करते हैं उनको सिद्धि होती है, अनुमानसे भी बाधा आती है, क्योंकि ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है कि यह वही है; क्षणभंगुर पदार्थमें ऐसा नहीं होसक्ता। इसलिये यही सिद्धांत सर्वज्ञ वचन है कि द्रव्य द्रव्यकी अपेक्षा नित्य व पर्यायकी अपेक्षा अन्य अन्य रूप या अनित्य है।

हमको संसारकी अनित्य पर्यायोंमें ममता न करके व अपने नित्य शुद्ध द्रव्यपर भावना दृढ़ करके परमानंदका लाभ करना चाहिये।

उत्थानिका-आगे यह निश्चय करते हैं कि द्रव्यार्थिक नयसे सत्का विनाश नहीं है और न असत्का उत्पाद है। यही बात सिद्ध है-

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।
तावदिओ जीवाणं देवो मणुसोत्ति गदिणामो ॥ १९ ॥

एवं सतो विनाशोऽसतो जीवस्य नास्त्युत्पादः।
तावज्जीवानां देवो मनुष्य इति गतिनामः ॥ १९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-( एवं ) इस तरह जैसा पहले कह चुके हैं (सदो जीवस्स) सत् पदार्थ जीवका (विणासो) नाश

और (असदो) असत् पदार्थ जीवका (उप्पादो) जन्म (णत्थि) नहीं होता है। (जीवाणं) संसारी जीवोंकी (तावदिओ) जो इतने प्रमाण स्थिति है सो (देवो मणुसोत्ति गदिणामो) उनके देव या मनुष्य-गति नाम कर्मके उदयका विपाक है।

विशेषार्थ—पहले तीन गाथाओंमें यह कह चुके हैं कि यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे जीव पदार्थका नरनारक आदि रूपसे उत्पाद और विनाश घटता है तथापि द्रव्यार्थिकनयसे सतूरूप जो विद्यमान पदार्थ उसका विनाश नहीं होता है और न असतूरूप अविद्यमान पदार्थका जन्म होता है। यहां कोई शंका करता है कि यदि जीवका जन्ममरण नहीं होता है तो फिर यह व्याख्यान कैसे सिद्ध होता है कि यह जीव तीन पल्य प्रमाण भोगभूमिमें ठहरकर फिर मरता है अथवा तेतीस सागर प्रमाण देवगति या नरकगतिमें रहता है फिर मरता है? इसका उत्तर यह है कि यह जो तीन पल्य आदिकी स्थिति जीवोंकी कही गई है सो देव या मनुष्यगति नामा नाम-कर्मके उदयसे उत्पन्न जो देव या मनुष्यकी पर्याय उसकी स्थितिका परिमाण है, न कि जीवद्रव्यका। वांसकी लकड़ीमें दृष्टांतसे इसमें कोई विरोध नहीं है। जैसे वहुत वड़े वांसकी लकड़ीके वहुत गांठे अपने२ स्थानपर विद्यमान हैं वे ही गांठे परस्पर दूसरी गांठोंपर नहीं मौजूद हैं अर्थात् प्रत्येक गांठ या पर्व भिन्न२ अपनी सत्ता रखती है परन्तु वांसकी लकड़ी सर्व ही पर्वोंमें अन्वयरूपसे विद्य-मान है तौ भी जैसी पहली पर्वमें है वैसी दूसरी पर्वके स्थानमें नहीं है यह भी कह सके हैं; तैसे ही वांसकी लकड़ीके समान इस जीव नामा पदार्थमें पर्वोंके समान नरनारक आदि अनेक पर्यायें

अपने अपने आयुकर्मके उदयके कालमें विद्यमान रहती हैं। ये ही पर्यायें परस्पर एक दूसरेके पर्यायके कालमें विद्यमान नहीं हैं—सर्व पर्यायें भिन्न२ हैं तथा यह जीव अन्वयरूपसे सर्व पर्वोंके समान अपनी सर्व पर्यायोंमें विद्यमान है तौभी मनुष्यादि पर्यायके रूपसे देवादि पर्यायोंमें नहीं है ऐसा भी कह सक्ते हैं अर्थात् वही जीव नित्य है वही जीव अनित्य है यह सिद्ध होता है। किस तरह सो कहते हैं—जैसे एक देवदत्तको जब पुत्रकी अपेक्षासे देखा जायगा तब उसमें पितापनेकी अपेक्षा गौणपना है, जब उसे पिताकी अपेक्षासे देखेंगे तब उसमें पुत्रकी अपेक्षाको गौण करना होगा; तैसे ही एक जीवद्रव्यको द्रव्यार्थिकनयसे जब नित्यकी अपेक्षा करेंगे तब उसमें पर्यायार्थिकनयसे अनित्यपना गौणरूप रहेगा और जब पर्यायरूपसे अनित्यपनेकी अपेक्षा करेंगे तब द्रव्यरूपसे नित्यपना गौण रहेगा, क्योंकि जिसकी विवक्षा होती है वह मुख्य हो जाता है यह वचन है। यहां यह तात्पर्य है कि जो पर्यायरूपसे अनित्य है, परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे अविनाशी, अनन्तज्ञानादिरूप शुद्ध जीवास्तिकाय नामका शुद्ध आत्मद्रव्य है उसहीको रागादि भावोंको त्यागकर ग्रहण करना चाहिये व उसहीकी भावना करनी चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह स्पष्ट किया है कि सत् पदार्थका नाश नहीं होता है तथा जो मूलमें द्रव्य नहीं है उसका कभी जन्म नहीं होता है अर्थात् सर्व विद्यमान द्रव्य नित्य हैं। द्रव्य अविनाशी होनेपर भी परिणमनशील हैं अर्थात् उनमें परिणाम या अवस्थाएं सदा हुआ करती हैं। वे अवस्थाएं होकर मिटती रहती हैं तौभी द्रव्य उन अपनी सर्व अवस्थाओंमें बना रहता है।

इसी लिये यहां कहा है कि यह जीव अपनी नरनारक आदि पर्यायोंमें नष्ट नहीं होता है—वही रहता है, मात्र नरनारक आदि पर्यायें बदल जाती हैं। जब द्रव्यकी अपेक्षा देखें तब वही द्रव्य नित्य दीखेगा, जब पर्यायकी अपेक्षा देखें तब वही द्रव्य अनित्य दीखेगा। वास्तवमें द्रव्य अपने भीतर होने योग्य अनंतानंत पर्यायोंका समुदाय है। जब एक पर्याय प्रगट होती है तब अन्य पर्यायें शक्तिरूप बनी रहती हैं। पर्यायोंका प्रगट होना और फिर अप्रगट हो जाना यही उत्पत्ति और नाश है। हरएक प्रगट पर्यायमें पर्याय जिसमें हुई वह द्रव्य अपने उन गुणोंको झलकाता रहता है जो उस द्रव्यमें बराबर अनादिसे अनंतकालतक बने रहते हैं। जैसे सुवर्ण द्रव्यमें कड़ा, कंठी, बाली, भुजबंद, तगड़ी, मुंदरी आदि अनेक अवस्थाओंमें बदलनेकी शक्ति है। जब उसके कड़े बनाएंगे तब कंठी आदि अवस्थाएं छिपी रहेंगी। जब कड़ेको तोडेंगे और कंठी बनाएंगे तब कंठीकी अवस्था प्रगट होगी और कड़े आदिकी अवस्थाएं अप्रगट हो जावेंगी। जितनी भी अवस्थाएं वह सुवर्ण बदलेगा उन सबमें सुवर्णपना बना रहेगा। सर्व ही भिन्न२ अवस्थाओंमें यही ज्ञान होगा कि यह वही सुवर्ण है जो कड़ेके रूपमें था व जो इस समय कंठीके रूपमें झलक रहा है। मोतीकी मालाका भी दृष्टांत ले सक्ते हैं; माला अपने भीतर परोए हुए भिन्न२ प्रकारके मोतियोंका समूहरूप है। माला द्रव्य अपने सर्व मोतियोंमें व्यापक है। जब एक मोतीको देखते हैं तब दूसरे मोतीसे परस्पर भिन्नता है तौभी हरएक मोतीके वहां मालापना है। इस ही तरह द्रव्य अनंतपर्यायोंका समूह है हरएक पर्यायमें द्रव्यपना व्यापक है।

यह जीव अपनी आयुकर्मके अनुसार भिन्न२ पर्यायमें ठहरता है आयुके क्षयको मरण व अन्य आयुके उदयके प्रारम्भको जन्म कहते हैं। वास्तवमें जन्म मरण कर्माश्रित शरीरका होता है, आत्माका नहीं–आत्मा तो वही बना रहता है।

द्रव्यदृष्टिसे द्रव्यका मनन करना अपने आत्माके नित्य स्वभावपर बुद्धिको जमानेवाला है और वीतरागतापर चढ़ानेवाला है। निश्चय यह रखना चाहिये कि यद्यपि पुद्गलकी संगतिसे मैं अनेक पर्यायोंमें भ्रमा हूं–निगोदसे लेकर चारों ही गतियोंमें मैं चक्कर लगा चुका हूं, परन्तु हूं मैं वही आत्मा। मेरा आत्मापना, मेरा जीव द्रव्यपना, मेरा मेरेमें सदा बना है वह कभी नष्ट नहीं हुआ। मैं स्वभावसे शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनंदमय हूं यही भावना करनी योग्य है। पंचाध्यायीकारने भी यही बात दिखलाई है–

उत्पादव्ययोरपि भवति यदात्मा स्वयं सदेवेति।
तस्मादेतद्द्वयमपि वस्तु सदेवेति नान्यदस्ति सतः॥ २४६॥

भावार्थ–उत्पाद और व्यय दोनोंका जो आत्मा है व मूल पदार्थ है वह स्वयं सत्‌रूप ही है इसलिये ये दोनों ही सत्‌स्वरूप ही हैं सतसे भिन्न कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। भावार्थ सत् पदार्थकी ही अवस्थाएं उत्पाद व्यय हैं। यदि सत् पदार्थ सदा विद्यमान न रहे तो उसमें अवस्थाएं नहीं हो सक्तीं।

इस तरह बौद्धमतको निराकरण करनेके लिये एक सूत्र गाथा प्रथम स्थलमें पहले कही थी उसीके विशेष वर्णनके लिये दूसरे स्थलमें चार गाथाएं कहीं।

उत्थानिका–आगे दिखलाते हैं कि यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिक

नयसे यह जीव सदा ही शुद्ध रहता है तथापि पर्यायार्थिक नयसे सिद्ध पर्यायका असत् उत्पाद होता है अर्थात् जो सिद्ध अवस्था पहले कभी प्रगट नहीं थी उसका प्रकाश होता है अथवा यह बताते हैं कि जैसे मनुष्यपर्यायके नष्ट होते हुए व देवपर्यायके जन्मते हुए वही जीव रहता है तैसे मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि परिणामोंके चले जानेपर संसारपर्यायके नाश होते हुए व सिद्धपर्यायके जन्म होते हुए जीवका जीवपनेकी अपेक्षा नाश नहीं हुआ है अर्थात् दोनों ही संसार या सिद्ध अवस्थामें वही जीव है। अथवा यह कहते हैं कि परस्पर अपेक्षा सहित पूर्वोक्त द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंसे तत्वको समझकर फिर जो संसार अवस्थामें ज्ञानावरणादि कर्मोंके बंधके कारण मिथ्यात्त्व व रागादि परिणाम थे उनको छोड़कर शुद्ध भावोंमें परिणमन करता है उसको मोक्ष होती है। इस तरह तीन पातनिकाओंको मनमें धरकर आगेका सूत्र वर्णन करते हैं।

णाणावरणादीया भावा जीवेण सुट्ठु अणुबद्धा।
तेसिमभावं किच्चा अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो ॥ २० ॥

ज्ञानावरणाद्या भावा जीवेन सुष्ठु अनुबद्धाः।
तेषामभावं कृत्वाऽभूतपूर्वो भवति सिद्धः ॥ २० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जीवेण) इस संसारी जीवद्वारा (णाणावरणादीया) ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार (भावा) कर्मकी अवस्थाएं (सुट्ठु) गाढ़ रूपसे (अणुबद्धा) बांधी हुई हैं (तेसिम्) उन सबका (अभावं किच्चा) नाश करके (अभूदपुव्वो) अभूतपूर्व अर्थात् जो पहले कभी नहीं हुआ ऐसा (सिद्धो) सिद्ध (हवदि) हो जाता है।

विशेषार्थ-इस संसारी जीवने अनादि कालसे द्रव्य कर्मकी प्रकृतियोंको बांध रक्खा है अर्थात् प्रवाह रूपसे इसके सदा ही आठ कर्म बंधे हुए पाए जाते हैं। जब कोई भव्य जीव काल आदि लब्धिके वशसे भेद रत्नत्रय स्वरूप व्यवहार मोक्षमार्गको और अभेदरत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्षमार्गको प्राप्त करता है तब वह उन ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंकी द्रव्य और भावरूप अवस्थाओंका नाश करके पर्यायार्थिक नयसे सिद्ध भगवान होजाता है अर्थात् जो सिद्ध पर्याय कभी प्रगट नही की थी उस सिद्ध पर्यायको प्राप्त कर लेता है। द्रव्यार्थिक नयसे तो पहले ही से यह जीव स्वरूपसे ही सिद्ध रूप है। जैसे एक बड़ा बांस है उसके पहले आधे भागमें नाना प्रकार चित्र बने हुए हैं तथा उसके ऊपरका आधा भाग विचित्र चित्रोंके विना शुद्ध ही है। तब वहां जब कोई देवदत्त नामका पुरुष अपनी दृष्टिसे उस चित्रित भागको देखता है और उस शुद्ध भागको नहीं देख पाता है तब वह अपने भ्रांति रूप ज्ञानसे उस सर्व बांसको विचित्र चित्रोंसे चित्रित अशुद्ध जानकर उसके आधे ऊपरके भागमें भी अशुद्धता मानलेता है तैसे यह जीव संसारकी अवस्थामें मिथ्यात्व व रागद्वेष आदि विभाव परिणामोंके वशसे व्यवहारनयसे अशुद्ध हो रहा है, परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे अपने भीतरी स्वभावमें केवलज्ञानादिरूपसे शुद्धरूप ही विराजमान है। जब यह रागादि परिणामोंमें परिणमन करता हुआ विकल्प रूप इंद्रियज्ञानके द्वारा विचार करता है तब जैसे बाहरी भागमें रागादि रूप अशुद्ध आत्माको देखता है तैसे ही भीतरमें भी केवलज्ञानादि स्वरूप होते हुए भी अपने भ्रामक ज्ञान या मिथ्याज्ञानसे अशुद्धता मान

लेता है । जैसे वांसमें नाना प्रकार चित्रोंसे मिश्रितपना मिथ्याज्ञानमें कारण है तैसे इस जीवमें मिथ्यात्व व रागादिरूपपना मिथ्याज्ञानका कारण है । जैसे वह वांस विचित्र चित्रोंके धोए जानेपर शुद्ध होजाता है वैसे यह जीव भी जब श्रीगुरुओंके पासमें शुद्ध आत्म स्वरूपके प्रकाश करनेवाले परमागमको जानता है और यह समझता है जैसा कि कहा है "एकोहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । वाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वदा ॥ अर्थात् मैं एक अकेला हूं, मेरा परपदार्थ कोई नहीं है । मैं शुद्ध हूं, ज्ञानी हूं, योगीश्वरोंके द्वारा अनुभवगम्य हूं, सर्व ही परके संयोगसे पैदा होनेवाले भाव सदा ही मेरे स्वरूपसे वाहर हैं" इत्यादि । तैसे ही अपने अनुमान ज्ञानसे जानता है कि यह देहादि और आत्मा परस्पर विलकुल भिन्न हैं क्योंकि दोनोंका भिन्न २ लक्षण है । जैसे जल अग्नि भिन्न२ लक्षण रखनेसे विलकुल भिन्न२ हैं । इसी ही तरह वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा अनुभव करता है । तब इस तरह आगम, अनुमान और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञानके प्रतापसे शुद्ध होजाता है । यहां यह तात्पर्य है कि अभूतपूर्व सिद्धपना अथवा शुद्ध जीवास्तिकाय नामका शुद्ध आत्मद्रव्य ही ग्रहण करने योग्य है ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने वताया है कि इस जीवके स्वभावमें सिद्धपना या शुद्धपना या परमात्मापना या निज स्वभावपना सदासे ही सत् रूप विद्यमान है, परन्तु उसका प्रकाश अवतक नहीं हुआ है क्योंकि ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका वंध इस जीवके अनादिकालसे पाया जाता है। यह जीव निरन्तर ही पुराने

कर्मोंके फलोंको भोगकर उनको अपनेसे हटाता है और नए कर्मोंको बांधता रहता है। इससे जब कभी इसको पर्यायकी दृष्टिसे या व्यवहारनयसे देखा जाय तब यह कर्मोसे बद्ध अशुद्ध रागादि रूप ही परिणमन करता हुआ झलकता है। यद्यपि बद्ध अवस्थामें भी जब अपने आत्माको स्वभावकी अपेक्षा शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे देखा जाय तब यह बिलकुल शुद्ध सिद्ध समान ही झलकता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव शुद्धनयके विषयभूत शुद्ध आत्माका ज्ञान व श्रद्धान न रखते हुए अपने आपको सर्व प्रकारसे अशुद्ध व रागद्वेषादि रूप ही अनुभव करते रहते हैं इससे निरन्तर गाढ़ कर्मोंके बन्धनमें पड़े हुए संसारमें अनेक भावोंको धारते हुए भ्रमण करते रहते हैं। जब यही जीव किसी सम्यग्ज्ञानी गुरुके उपदेशसे अपने असली स्वभावका निश्चय करता है और रागादिको परकृत जानता है तब संसारकी अवस्थाओंसे उदासीन होकर अपने शुद्ध आत्मासे प्रेम करके उसका ही ध्यान करते करते वीतरागता पूर्ण आत्मध्यानकी अग्निसे सर्व आठ कर्मोंको जलाकर साक्षात् जैसा था वैसा होजाता है अर्थात् परम शुद्ध सिद्ध होजाता है। यह सिद्ध पर्याय शक्तिरूपसे तो आत्मामें विराजमान थी, परंतु व्यक्तिरूपसे नहीं थी सो अब व्यक्त या प्रगट होगई है इसीसे इसको अभूतपूर्व या बिलकुल नई पर्याय कहते हैं।

पंचाध्यायीकारने भी कहा है—

जीवः शुद्धनयादेशादस्ति शुद्धोपि तत्त्वतः।
नासिद्धश्चाप्यशुद्धोपि बद्धाबद्धनयादिह ॥ १३३ ॥

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे जीव वास्तवमें शुद्ध है परन्तु

व्यवहार नयसे यह जीव अशुद्ध भी है। इसकी यह अशुद्धता असिद्ध नहीं है। क्योंकि यह व्यवहारमें कर्मोंसे बन्धा हुआ ही कर्मोंसे मुक्त होता है।

तत्वार्थसारमें अमृतचन्द्रजी कहते हैं—

ततो निर्जीर्णनिःशेषपूर्वसंचितकर्मणः।
आत्मनः स्वात्मसम्प्राप्तिर्मोक्षः सद्योऽवसीयते ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब सर्व पूर्व बांधे कर्म क्षय होजाते हैं तब यह आत्मा अपने आत्म स्वरूपकी प्राप्ति कर लेता है इसीको मोक्ष कहते हैं। मोक्षका ही नाम सिद्ध पर्याय है। यह अनादिकालसे कर्मोंके बंधके कारण रुकी हुई थी सो कर्मोंके छूटते ही तुरन्त प्रगट होजाती है।

इस तरह तीसरे स्थलमें पर्यायार्थिक नयसे सिद्धके अभूत पूर्व पर्यायका उत्पाद होता है, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे यह प्रकाश करते हैं कि यह जीव अपने भीतर विद्यमान पर्यायके नाश तथा अविद्यमान पर्यायके उत्पादका कर्ता है तथा इस व्याख्यानको संकोचते भी हैं—

एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च।
गुणपज्जयेहिं सहिदो संसरमाणो कुणदि जीवो ॥२१॥

एवं भावमभावं भावाभावमभावभावं च।
गुणपर्ययैः सहितः संसरन् करोति जीवः ॥ २१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(एवं) इसी तरह (गुणपज्जयेहिं सहिदो जीवो) अपने गुण और पर्यायोंके साथमें रहता हुआ यह जीव (संसरमाणो) इस संसारमें भ्रमण करता हुआ (भावं) उत्पाद, और (अभावं) नाशको (भावाभावं) विद्यमान पर्यायके अभावके

प्रारम्भको ( अभावभावं ) अविद्यमान पर्यायके सद्भावके प्रारम्भको ( कुणदि ) करता रहता है।

विशेषार्थ—जैसा पहले कह चुके हैं कि यह जीव द्रव्यार्थिक नयसे नित्य है तौभी पर्यायार्थिक नयसे पहलेकी विद्यमान मनुष्य पर्यायका नाश करता है फिर देवगतिमें उत्पत्तिके समयमें देव पर्यायका उत्पाद करता है फिर भी देवपर्यायके छूटनेके कालमें विद्यमान देवपर्यायका नाश प्रारम्भ करता है तथा मनुष्य पर्यायकी उत्पत्तिके कालमें अविद्यमान मनुष्य पर्यायकी उत्पत्तिको प्रारम्भ करता है। जो ऐसा करता है वह जीव कुमति ज्ञानादि विभाव गुण व नर नारकादि विभाव पर्याय सहित होता है। जो जीव केवलज्ञानादि स्वाभाविक गुण और सिद्धमई शुद्ध पर्याय सहित होता है वह इस तरह गतियोंमें भ्रमण नहीं करता है क्योंकि केवलज्ञानादिके प्रकाशकी अवस्था होते हुए नरनारक आदि विभाव पर्यायोंकी उत्पत्ति असंभव है, किंतु शुद्ध सिद्ध पर्यायमें भी यह जीव अगुरुलघु गुणके द्वारा षट् गुणी हानिवृद्धि रूप स्वभावपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व नाश आदि करता रहता है। इसमें कोई विरोध नहीं है। जब अशुद्ध होता है तब यह जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच प्रकार संसारमें भ्रमण करता रहता है। इस सूत्रमें यह दिखाया है कि जब यह जीव साक्षात् ग्रहण करने योग्य विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव रूप शुद्ध जीवास्तिकायका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रयमई परम सामायिकको न प्राप्त करता हुआ देखे सुने व अनुभव किये हुए आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओंको आदि लेकर सर्व परभावोंके परिणामोंमें मूर्छित,

मोहित या आसक्त होता हुआ नर नारकादि विभाव पर्यायोंमें उत्पाद और व्यय करता रहता है तब इस जीवको शुद्ध आत्म द्रव्यका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुभव या ध्यान निरन्तर जिस तरह बने करना योग्य है जिससे विभावोंमें भ्रमण न हो, यह तात्पर्य है।

भावार्थ—यहां आचार्यने ऊपर कहे हुए सर्व कथनका सार कह दिया है कि यह जीव सहभावी गुण और क्रमवर्ती पर्यायोंको सदा रखता है। जब यह शुद्ध होता है तब अपने स्वाभाविक गुणोंको और स्वाभाविक सदृश पर्यायोंको रखता है। जब कर्मबंध सहित अशुद्ध होता है तब विभाव गुण और विभाव पर्यायोंको रखता है। पर्यायोंमें यह नियम है कि पूर्व समयकी पर्यायका जो नाश होना वही उस समयकी पर्यायका जन्म होना है। एक ही समयमें अविद्यमान पर्यायका उत्पाद व जो विद्यमान थी उसका नाश होता है। अर्थ पर्याय या गुण पर्यायकी अपेक्षा यह सूक्ष्म परिणमन द्रव्यके हरएक गुणमें हर समय हुआ करता है। हम अल्पज्ञानियोंकी दृष्टि स्थूल है इसलिये जब बहुत अधिक परिवर्तन हो जाता है तब हमको भासता है कि पर्याय बदली। जैसे चावलको जिस समय अग्नि सहित चूलेके ऊपर एक वर्तनमें पानीके साथ रख दिया जाता है उसी समयसे उसकी अवस्था बदलनी शुरू हो जाती है। जब वह गलने लगता है व गल जाता है तब हमको भासता है कि यह चावल बदलकर भात होगया। वृत्तिकारने स्थूल व्यंजन पर्यायकी अपेक्षा दृष्टान्त दिया है कि जब मनुष्य पर्यायका नाश हुआ तब देवपर्यायका जन्म हुआ—अर्थात् जीवके पर्यायकी अपेक्षा मनुष्य पर्यायका अभाव हुआ और देवपर्यायका सद्भाव

हुआ। इस तरह यही जीव अपनी पर्यायोंमें भाव व अभाव किया करता है। मूल गाथामें जो भावाभाव व अभाव भावका कर्ता कहा गया है उसका भाव एक तो यह झलकता है कि जो मनुष्यपर्याय है उसका यह जीव समय २ आयु कर्मके क्षय होते हुए अभाव करता रहता है तथा जब वह पर्याय पूर्णपने आयुके नष्ट होते हुए नष्ट होगई तब ही से देवायुका उदय होजाता है। विग्रह गतिमें व अपर्याप्त अवस्थामें देवका शरीर अभी बना नहीं है किंतु वह जीव देवगतिमें जारहा है व देव शरीरको बना रहा है इसलिये वह अभावका सद्भाव कर रहा है। जब देवशरीर बन गया तब देवपर्यायका पूर्ण भाव होगया। दूसरा भाव यह है कि पहले तो भाव और अभावका कर्ता जीवको कहा है वह स्थूल पर्यायको छोड़ने व ग्रहण करनेकी अपेक्षा कहा है तथा आगे जो भावका अभाव व अभावका भाव कहा है वह समय समय सूक्ष्म पर्यायके पलटनेकी अपेक्षासे कहा है क्योंकि हर समय पूर्व भाव रूप पर्यायका अभाव तथा जिसका पूर्वमें अभाव था उस पर्यायका सद्भाव होना द्रव्यमें सिद्ध है।

यहां यह तात्पर्य है कि द्रव्यार्थिक नयसे या द्रव्यकी अपेक्षा जीव सत् पदार्थ है, अविनाशी है, सदा अपने स्वभावमें बना रहता है, उसीको जब पर्यायकी अपेक्षा विचार करें तब वह क्षण क्षणमें पर्यायोंको बदलता रहता है। संसारकी अवस्थामें चारों ही गतियोंमें घूमता हुआ त्रस स्थावरकी नाना प्रकार पर्यायोंको धारता है व छोड़ता है। इस तरह पर्यायोंका अभाव तथा भाव करता रहता है। यह संसारका संसरण उस समय तक नहीं मिट सक्ता

है जबतक यह जीव रागद्वेष मोहको नहीं त्यागे। अतएव भव-भ्रमणमें जीवपनेकी दुर्दशा व दुःखोंकी परम्परा समझकर ज्ञानी भव्य जीवको उचित है कि वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई अभेद रत्नत्रय स्वरूप निज स्वभावमें परिणमन करनेका पुरुषार्थ करे तो यह संसार पर्यायका अभाव करके सिद्ध पर्यायका सद्भाव कर देगा। इस गाथामें यह भी भाव बता दिया है कि यह जीव आप ही अपनी संसारकी पर्यायोंको करता है व आप ही अपनी सिद्ध पर्यायोंको करता है। न तो दूसरा कोई इस जीवको नारकी, पशु, मनुष्य या देव बना सक्ता है न इसे सिद्ध गतिमें पहुंचा सक्ता है। जीव अपने ही अशुद्ध भावोंसे आप ही कर्म बांध आप ही उस बंधके उदयके निमित्तसे नाना अवस्थाओंमें बदलता रहता है व जब यह आप ही अपने स्वभावको पहचानकर व उसका श्रद्धावान होकर उसके मननमें तन्मय होता है तब यह आप ही कर्मोंसे छूटकर परम पवित्र सिद्ध परमात्मा होता है।

सारसमुच्चयमें कुलभद्रजी कहते हैं—

चतुर्गतिनिबन्धेऽस्मिन् संसारेऽत्यन्तभीतिदे।
सुखदुःखान्यवाप्तानि भ्रमता विधियोगतः ॥ १४८ ॥
आत्मकार्यं परित्यज्य परकार्येषु यो रतः।
ममत्वरतचेतस्कः स्वहितं भ्रंशमेष्यति ॥ १५७ ॥
रागादिवर्जितं स्नानं ये कुर्वंति दयापराः।
तेषां निर्मलता योगे न च स्नातस्य वारिणा ॥ ३१३ ॥

भावार्थ—इस जीवने स्वयं कर्मोंके सम्बन्धसे इस अत्यन्त भयानक चार गति रूप संसारमें भ्रमण करते हुए अनेक सुखदुःख पाए हैं। जो अपने आत्म कार्यको छोड़कर शरीर संबंधी कार्योंमें

लीन होजाता है वह ममताके आधीन अपना चित्त करता हुआ अपने हितका नाश करता है, परन्तु जो दयावान प्राणी रागद्वेषादि भाव रहित वीतराग भावमें स्नान करते हैं उनहीके शुद्धता होती है। पानीमें स्नान करनेसे मनकी शुद्धि नहीं हो सक्ती है।

श्री कुंदकुंदाचार्यने द्वादशभावनामें स्पष्ट कहा है कि यह जीव आप ही अकेला अपने संसारका कर्ता है।

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि यदीह संसारे।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को॥ १४॥

भावार्थ-यह जीव आप अकेला कर्मोको करता है, आप ही उन कर्मोके उदयसे दीर्घ संसारमें भ्रमता फिरता है, आप ही अकेला मरता है, आप ही जन्मता है व आप ही अपने कर्मोका फल भोगता है। अतएव अपने उद्धारका उपाय हमें आप ही करते हुए आत्म-समाधिमें रत होना योग्य है। इस तरह द्रव्यार्थिक नयसे नित्य होनेपर भी पर्यायार्थिक नयसे इस संसारी जीवके देव मनुष्यादि पर्यायोंके उत्पाद या नाशका कर्तापना है। इस व्याख्यानके संकोचकी मुख्यतासे चौथे स्थलमें गाथा पूर्ण हुई। इस तरह चार स्थलोंसे दूसरा सप्तक पूर्ण किया। इस प्रकार पहली गाथा सप्तकमें जो पांच स्थल कहे थे उनको लेकर नव अंतर स्थलोंसे चौदह गाथाओंके द्वारा प्रथम महा अधिकारमें द्रव्यपीठिका नामका दूसरा अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

उत्थानिका-आगे कालद्रव्यके कहनेकी मुख्यतासे पांच गाथाएं कही जाती हैं, इन पांच गाथाओंके मध्यमें छः द्रव्योंमेंसे जीवादि पांच द्रव्यांको अस्तिकाय संज्ञा है यह बतानेके लिये "जीवा

पुग्गलकाया" इत्यादि एक सूत्र है। फिर निश्चयकालको कहते हुए "सब्भावसहावाणं" इत्यादि सूत्र दो हैं व टीकाके अभिप्रायसे सूत्र एक है। फिर समयादि व्यवहार कालकी मुख्यतासे "समओ" णिमिसो इत्यादि गाथा दो हैं। इस तरह तीन स्थलद्वारा तीसरे अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका कही।

अब सामान्यपने जिनका लक्षण कह चुके ऐसे छः द्रव्योंके नाम स्मरणके लिये व उनका विशेष व्याख्यान करनेके लिये अथवा पांच द्रव्योंको अस्तिकायपना स्थापन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

जीवा पुग्गलकाया आयासं अत्थिकाइया सेसा।
अमया अत्थित्तमया कारणभूदा हि लोगस्स ॥२२॥

जीवाः पुद्गलकायाः आकाशमस्तिकायौ शेषौ।
अमया अस्तित्वमयाः कारणभूता हि लोकस्य ॥२२॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जीवा) अनंत जीव (पुग्गलकाया) अनंतपुद्गलकाय (आयासं) एक आकाश (सेसा अत्थिकाइया) शेष दो अस्तिकाय धर्म और अधर्म द्रव्य ये पांच अस्तिकाय (अमया) अकृत्रिम हैं, (अत्थित्तमया) अपनी सत्ताको रखनेवाले हैं तथा (हि) निश्चयसे (लोगस्स) इस लोकके (कारणभूदा) कारणरूप हैं।

विशेषार्थ—जीवादि पांच अस्तिकाय हैं। इनको किसी पुरुषविशेषने बनाया नहीं है। ये अपनी सत्तासे ही विद्यमान हैं। यह लोक इन पांच अस्तिकायोंका व काय रहित एक प्रदेशी काल द्रव्यका इस तरह छः द्रव्योंका समुदाय है। जैसा कहा है—जीवादि षड्द्रव्याणां समवायो मेलापको लोक इति" तथा यह लोक उत्पादव्यय व ध्रौव्य स्वरूप है इसीसे इस लोकका अस्तित्व देखा जाता है, क्योंकि कहा

है " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् इति " तथा यह लोक ऊर्ध्व, मध्य, अधो इन तीन अंशोंको रखनेवाला अवयवसहित है इससे इसको बहु प्रदेशी या कायपना कहा गया है। यह सूत्रका भाव है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने पांच अस्तिकायोंके नाम बताए हैं। जिनकी सत्ता सदा बनी रहे व जो बहुप्रदेशी हों उनको अस्तिकाय कहते हैं। वे जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश हैं। काल द्रव्य एक प्रदेश मात्र ही सदा रहता है। कालमें मिलनेकी भी शक्ति नहीं है इससे उसे किसी भी तरह काय नहीं कह सक्ते जब कि पुद्गलके एक परमाणुमें दूसरे परमाणुसे मिलनेकी शक्ति है। यही कारण है जो एक परमाणु एक प्रदेशवाला होते हुए भी व्यवहारमें काय कहलाता है। काल सहित छः द्रव्य अनादि अनंत सत् रूप अकृत्रिम हैं। लोक या जगत इन ही छः द्रव्योंके समूहका नाम है। इससे यह लोक भी अनादि अनंत सत् रूप अकृत्रिम है। यह नियम है जैसा पहले समझा चुके हैं कि सत् या विद्यमान द्रव्यका कभी अभाव होता नहीं और असत् या अविद्यमान किसी द्रव्यका सद्भाव होता नहीं। इसलिये ये छः द्रव्य सदासे विद्यमान हैं व सदा बने रहेंगे। जो द्रव्य सदासे होगा उसमें किसी कर्ताकी आवश्यक्ता नहीं पड़ती है। इनको कभी किसीने बनाया नहीं इस लिये जैसे ये अकृत्रिम हैं वैसे इनका समुदाय लोक भी अकृत्रिम है। ये छहों द्रव्य सत् रूप होकर उत्पादव्यय ध्रौव्य सहित हैं। अर्थात् ये अपने सहभावी गुण और स्वभावोंसे सदा बने रहते हैं तौ भी इनमें समय समय सदृश या विसदृश स्वाभाविक या वैभाविक यथायोग्य परिणाम हुआ करते हैं। समय समय एक

परिणाम नया नया होता है। इस परिणमनके नाश और उत्पादकी अपेक्षा ये छहों द्रव्य अनित्य हैं तब इनका समुदाय यह लोक भी अनित्य है । वास्तवमें द्रव्य नित्य अनित्य दोनोंरूप है इसलिये उनका समूह यह लोक भी नित्य अनित्य दोनों रूप है। इस गाथासे यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी अनादि ईश्वर या ब्रह्माने कभी अपनी इच्छासे किसी द्रव्यको रचा नहीं है-ये सब द्रव्य वस्तुस्वभावसे ही स्थित हैं। श्लोकवार्तिकमें स्वामी विद्यानंदिजी कहते हैं—

द्रव्यार्थिकनयात्तानि नित्यान्येवान्वितत्वतः ।
अवस्थितानि सांकर्यस्यान्योन्यं शश्वदस्थितेः ॥ १ ॥
ततो द्रव्यान्तरस्यापि द्रव्यषट्कादभावतः ।
तत्पर्यायानवस्थानान्नित्यत्वे पुनरर्थतः ॥ २ ॥

भावार्थ—ये छहों द्रव्य द्रव्यार्थिक नयसे नित्य हैं क्योंकि इनका अन्वयरूप बोध होता है तथा ये अवस्थित हैं, कभी अपनी संख्या कम व अधिक नहीं करते हैं। यदि परस्पर मिल जाते तो ये छहों अविनाशी नहीं रह सक्ते वे इसलिये न कम होते हैं और न कोई अन्य द्रव्य इनसे बनके सात आठ द्रव्य होते हैं। ये ही द्रव्य पर्यायार्थिक नयसे अनित्य हैं।

राजवार्तिकमें इन छहों द्रव्योंको नित्य कह कर नित्यका लक्षण किया है।

"येन भावेन उपलक्षितं द्रव्यं तस्य भावस्याव्ययो नित्यत्वमुच्यते । धर्मादीनि द्रव्याणि गतिहेतुत्वादिविशेपलक्षणद्रव्यार्थादेशात् अस्तित्वादिसामान्यलक्षणद्रव्यार्थादेशाच्च कदाचिदपि न व्ययंतीति नित्यानि ॥"

भावार्थ—जिस भावसे द्रव्य लक्षित होता है उस भावका कभी नाश नहीं होता है उसको नित्य कहते हैं। धर्मादि छहों द्रव्य अपने गतिहेतुपना आदि विशेष लक्षण और अस्तित्वादि सामान्य लक्षणको द्रव्यकी अपेक्षा कभी नहीं छोड़ते हैं इसीलिये इनको नित्य कहते हैं।

श्री गोमट्टसारमें सम्यक्त मार्गणामें कहा है—

**छद्दव्वाणं सरिसं तियकालअत्थपज्जाये।**
**वेंजणपज्जाये वा मिलिदे ताणं ठिदित्तादो ॥ ५८० ॥**
**पयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि।**
**तोदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ॥ ५८१ ॥**

भावार्थ—अवस्थान नाम स्थितिका है सो छः द्रव्यनिका अवस्थान समान है। काहे तें सो कहिये हैं। सूक्ष्म वचन अगोचर क्षणस्थायी ऐसे तो अर्थपर्याय और स्थूल वचनगोचर चिरस्थायी ऐसे व्यंजन पर्याय सो त्रिकाल सम्बन्धी अर्थ पर्याय व व्यंजन पर्याय मिलें तिनि सर्व ही द्रव्यनिकी स्थिति होय है तातैं सर्व द्रव्यनिका अवस्थान कहा। सर्व द्रव्य अनादि निधन हैं। एक द्रव्य विषै जे गुणनिके परिणमनरूप षट् स्थान पतित वृद्धि हानी लीए अर्थपर्याय बहुरि द्रव्यके आकारादि परिणमन रूप व्यंजन पर्याय ते अतीत अनागत अपि शब्द हैं। वर्तमान सम्बंधी यावन्मात्र हैं तावन्मात्र द्रव्य जानना जाते द्रव्य तिनतैं जुदा है नाहीं। सर्व पर्यायनिका समूह सोई द्रव्य है। इस तरह यह बात अच्छी तरह निश्चय रखना योग्य है। यह छः द्रव्य या उनका समुदाय लोक सदासे है व सदा रहेगा तथा द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। इन छहों द्रव्योंके मध्यमें अपना एक शुद्ध

आत्मा ही ग्रहण योग्य है, ध्यान योग्य है, प्राप्त करने योग्य है यह भावार्थ है।

इस तरह छः द्रव्योंके मध्यमें जीवादि पांच द्रव्यको अस्तिकाय संज्ञा है ऐसी सूचना करते हुए गाथा पूर्ण की।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस पंचास्तिकाय प्रकरणमें अस्तिकायके नामसे जिस काल द्रव्यको नहीं कहा है तौभी पंचास्तिकायके प्रकरणकी सामर्थ्यसे कालद्रव्य प्राप्त होता है।

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ॥ २३ ॥

सद्भावस्वभावानां जीवानां तथा च पुद्गलानां च।
परिवर्त्तनसंभूतः कालो नियमेन प्रज्ञप्तः ॥ २३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(सब्भावसभावाणं) सत्तारूप स्वभावको रखनेवाले (जीवाणं) जीवोंके (तह य पोग्गलाणं) तैसे ही पुद्गलोंके (च) और अन्य धर्म अधर्म आकाशके (परियट्टणसंभूदो) परिणमनमें जो निमित्त कारण हो सो (णियमेण) निश्चय करके (कालो) काल द्रव्य (पण्णत्तो) कहा गया है।

विशेषार्थ—द्रव्योंके नएसे जीर्ण होनेको परिवर्तन या परिणमन कहते हैं सो जिससे होता है वह कालाणु रूप द्रव्य काल है ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है। यहां शिष्य शंका करता है कि आपने यह पातनिका की थी कि इस पंचास्तिकायके व्याख्यानको करते हुए निश्चयकाल द्रव्यको न कहने पर भी भावसे उसको ग्रहण करलेना चाहिये सो किस तरह सिद्ध होता है? इस प्रश्नका समाधान आचार्य करते हैं कि ये पांचों जीवादि अस्तिकाय परण-

मन करते रहते हैं। परिणमन करनेसे परिणाम या पर्याय रूप कार्य होता है। सो कार्य कारणकी अपेक्षा रखता है। यद्यपि उपादान शक्ति द्रव्योंमें स्वयं परिणमनेकी है परन्तु निमित्त कारणकी आवश्यक्ता है सो द्रव्योंके परिणमनमें निमित्तरूप कालाणुरूप द्रव्यकाल है। इसी युक्तिकी सामर्थ्यसे काल द्रव्य झलकता है। शिष्य फिर यह पूर्व पक्ष करता है कि पुद्गल परमाणुके गमनसे उत्पन्न जो समयरूप सूक्ष्मकाल वही निश्चय काल कहा जाता है तथा घड़ी घंटा आदिरूप स्थूलकाल सो व्यवहार काल कहा जाता है सो व्यवहार काल घड़ी घंटे आदिके निमित्त कारण जल भरने, भाजन व वस्त्र व काष्ठ बनानेमें जो पुरुषोंके हाथोंकी व्यापार रूप क्रिया विशेष होती है उसीसे उत्पन्न होता है। द्रव्य कालसे कोई व्यवहार काल नहीं होता है। इसीका आचार्य समाधान करते हैं कि यद्यपि समयरूप सूक्ष्म व्यवहारकाल पुद्गल परमाणुकी मंदगतिसे प्रगट होता है या जान पडता है तथा घड़ी घंटा आदि रूप जो व्यवहारकाल है तो घटिका आदिके निमित्त कारण जल वर्तन वस्त्र आदि द्रव्यविशेषकी क्रियासे जाना जाता है तथापि समय या घटिका आदि पर्याय रूप जो व्यवहारकाल है उस ही का उपादान कारण कालाणु रूप द्रव्यकाल है ऐसा मानना ही चाहिये, क्योंकि यह आगमका बचन है कि कार्य उपादान कारणके समान होगा। जैसे जो घट रूप कार्य कुंभार, चक्र, चीवर आदि बाहरी निमित्त कारणोंसे बनता है उसका उपादान कारण मिट्टीका पिंड है। अथवा जो पट या कपड़ा रूप कार्य कुविंद, तुरी, वेम, सलाका आदि बाहरी निमित्त कारणोंसे बनता है उसका उपादान

कारण तागोंका समूह है। अथवा इंधन, अग्नि आदि बाहरी निमित्त कारणोंसे उत्पन्न जो भात रूप कार्य है उसका उपादान कारण चावल या तंदुल है अथवा कर्मोंके उदयके निमित्तसे होने-वाली नर नारक आदि पर्याय रूप कार्यका उपादान कारण जीव है। इसी तरह वस्तुओंकी क्रियाविशेषसे प्रगट जो व्यवहार काल है उसका उपादान कारण कालाणु रूप निश्चय काल द्रव्य है।

भावार्थ—इस गाथामें निश्चय काल द्रव्यकी सिद्धि की गई है। हरएक कार्य उपादान और निमित्त दो कारणोंसे होता है जैसे जीव और पुद्गल स्वयं चलने, ठहरने व अवकाश लेनेमें उपादान कारण हैं और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व आकाश उनके इन तीन प्रकारके कार्योंमें क्रमसे निमित्त कारण हैं इसी तरह सत्तारूप पांचों ही अस्तिकायोंमें जो समय२ पर्यायें होती हैं उनके उपादान कारण वे स्वयं हैं परन्तु निमित्त कारण कालद्रव्य है। कालाणुरूप कालद्रव्यके परिणमनमें निमित्त कारण पुद्गलके परमाणुका एक का-लाणुसे निकटवर्ती कालाणुपर गमन करना है। इस परमाणुकी चलन क्रियासे कालाणुका वर्तन होकर समय पर्याय प्रगट होती है। इन्हीं समयोंके समूहको पल, घड़ी, घंटा, पहर, दिन, रात आदि कहते हैं यह व्यवहार काल हम सबको प्रगट है। इसका जो कोई उपादान कारण है वही निश्चय कालद्रव्य है। विना उपादानके कोई कार्य हो नहीं सक्ता। यह व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्याय है। इसका विस्तारसे वर्णन श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्रवचनसारकी ज्ञेय-तत्त्वदीपिका नाम टीकामें किया गया है। उसे पढ़कर विशेष जानना योग्य है।

श्री गोमटसारकी सम्यक्त मार्गणामें कालद्रव्यका कार्य इस तरह बतलाया है।

कालं अस्सिय दव्वं सगसगपज्जायपरिणदं होदि।
पज्जायावट्ठाणं सुद्धणये होदि खणमेत्तं ॥ ५७० ॥
वत्तणहेदू कालो वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु।
कालाधारेणेव य वट्टंति हु सव्वदव्वाणि ॥ ५६७ ॥

भावार्थ—कालका निमित्तरूप आश्रय पाय सर्व द्रव्य अपनी अपनी पर्यायोंमें पलटते हैं। तिस पर्यायके ठहरनेका काल शुद्ध ऋजुसुत्रनयसे एक समयमात्र है। सर्व द्रव्योंमें वर्तन करनेका गुण जानो उनके वर्तनमें निमित्त काल है अर्थात् कालके आधारसे ही सर्व द्रव्य आप ही वर्तन करते हैं—पलटते रहते हैं।

अवरा पज्जायठिदी खणमेत्तं होदि तं च समओत्ति।
दोण्हमणूणमदिक्कमकालपमाणं हवे सो हु ॥ ५७२ ॥

भावार्थ—द्रव्योंकी जघन्य पर्यायकी स्थिति क्षणमात्र है सो क्षण नाम समयका है। समीप तिष्ठती दोय परमाणु मंद गमन रूप परिणई जैताकाल विषैं परस्पर उल्लंघन करैं तिसकाल प्रमाणका नाम समय है।

कालोत्ति य ववएसो सब्भावपरूवओ हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥ ५८० ॥

भावार्थ—काल ऐसा जो लोकमें कहना है सो मुख्य या निश्चय कालके अस्तित्त्वको कहनहारा है। मुख्य विना गौण नहीं होता हैं। सो यह निश्चयकाल द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है। उसीकी पर्याय व्यवहार काल हैं सो उत्पन्न होता है और नष्ट होता हैं अर्थात् यही समयका उपजना निश्चय कालकी पर्याय है

सो क्षण क्षण बदलती रहती है इसी व्यवहार कालको अतीत अनागत कालकी अपेक्षा समझे तो दीर्घ काल तक रहनेवाला है।

श्लोकवार्तिकमें कालद्रव्यका वर्णन इस भांति किया है—

लोकाकाशप्रभेदेषु कृत्स्नेष्वेकैकवृत्तितः।
प्रतिप्रदेशमन्योन्यमबद्धाः परमाणवः ॥ ४४ ॥
मुख्योपचारभेदैस्तेऽवयवैः परिवर्जिताः।
निरंशा निष्क्रिया यस्मादवस्थानात् स्वदेशवत् ॥ ४५ ॥
अमूर्तास्तद्वदेवेष्टाः स्पर्शादिरहितत्वतः।
कालाख्या मुख्यतो येऽस्तिकायेभ्योऽन्ये प्रकाशिताः ॥४६॥
व्यवहारात्मकः कालः परिणामादिलक्षणः।
कालवर्त्तनया लब्धकालाख्यस्तु ततोऽपरः ॥ ४७ ॥

भावार्थ—लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें भिन्न२ अबद्धकालाणु व्याप्त हैं उनके और प्रदेश नहीं होते हैं इसलिये वे अप्रदेशी हैं। अपने ही स्थानपर जमें रहते हैं इसलिये वे क्रियारहित हैं। उनके मुख्य व उपचार भेद हैं अर्थात् निश्चयकाल और व्यवहार काल भेद हैं। वे स्पर्शादिसे रहित हैं इससे अमूर्तीक हैं ऐसे जो असंख्यात-कालाणु हैं जो पांच अस्तिकायोंसे भिन्न हैं वे मुख्य या निश्चय कालद्रव्य हैं। कालद्रव्यके वर्तनसे जो समय नामा पर्याय होती है वह परिणाम क्रिया आदिसे जानने योग्य व्यवहारकाल है। इस तरह कालद्रव्यका निश्चय करके मेरा शुद्ध स्वभाव कालद्रव्यसे भिन्न है, ऐसा ध्यानमें लेकर शुद्धात्माका अनुभव करना योग्य है।

उत्थानिका—आगे और भी निश्चयकालका स्वरूप कहते हैं,

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति ॥२४॥

व्यपगतपञ्चवर्णरसो व्यपगतद्विगन्धाष्टस्पर्शश्च ।
अगुरुलघुको अमूर्तो वर्त्तनलक्षणश्च काल इति ॥ २४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(ववगदपणवण्णरसो) जो पांच वर्ण पांच रससे रहित है (ववगददोगंधअट्ठफासो य) व जो दो गंध व आठ स्पर्शसे रहित है। (अगुरुलहुगो) अगुरुलघु गुणके द्वारा षट् गुणी हानि वृद्धिसहित है (अमुत्तो) अमूर्तीक होनेसे सूक्ष्म है इंद्रियगोचर नहीं है (वट्टणलक्खो य) तथा जो वर्तनालक्षण है (कालोत्ति) ऐसा यह कालद्रव्य है।

विशेषार्थ-यह अमूर्तीक कालद्रव्य सर्व द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त है। जैसे शीतकालमें स्वयं पढ़ते हुए पुरुषको अग्नि सहकारी कारण है या स्वयं घूमते हुए कुम्भकारके चाकको नीचेकी शिला सहकारी कारण है तैसे ही निश्चयसे स्वयं परिणमन करते हुए सर्व द्रव्योंके परिणमनमें बाहरी निमित्त कारण वर्तना लक्षण धारी काल द्रव्य है। यही निश्चय काल है।

यहां शिष्यने प्रश्न किया कि लोकाकाशके बाहर काल द्रव्य नहीं है तब बाहरके आकाश द्रव्यमें परिणति कैसे होगी? इसका उत्तर आचार्य कहते हैं कि:-जैसे लम्बी बड़ी रस्सीके या लम्बे बड़े बांसके या कुंभारके चाकके एक स्थानको हिलाते हुए सर्व ठिकाने हलन चलन हो जाता है अथवा जैसे मनको इष्ट रसना इंद्रियके पदार्थको एक स्थानमें स्पर्श कराते हुए रसना इंद्रियमें तथा सर्वांगमें सुखका अनुभव होता है अथवा जैसे सर्पके एक स्थानपर काटते हुए व घाव आदिके एक स्थानपर होते हुए सर्व अंगमें दुःखकी वेदना होती है तैसे ही लोकमें ही काल द्रव्य है तौभी सर्व

आकाशमें परिणतिको कारण है क्योंकि आकाश एक अखंड द्रव्य है।

दूसरा प्रश्न यह है कि दूसरे द्रव्योंके परिणमनमें सहकारी कारण काल द्रव्य है तब काल द्रव्यके परिणमनका सहकारी कारण क्या है ? इसका समाधान यह है कि:—जैसे आकाशका आधार आकाश है व ज्ञान, रत्न या दीपक स्वपर प्रकाशक हैं ऐसे ही काल द्रव्यकी परिणतिको काल ही सहकारी कारण है। फिर शिष्य प्रश्न करता है कि यदि काल द्रव्य अपनी परिणतिमें आप ही सहकारी कारण है वैसे ही सर्व द्रव्य अपनी अपनी परिणतिमें सहकारी कारण हो जांयगे, कालद्रव्यसे कोई प्रयोजन न रहेगा।

इसका समाधान यह है कि सब द्रव्योंको साधारण परिणमनमें सहकारी कारणपना होना यह कालका ही गुण है। जैसे आकाशका गुण सर्वको साधारण अवकाश देना है, धर्मद्रव्यका गुण सर्व साधारणको गमनमें कारणपना है तथा अधर्मद्रव्यका सर्वसाधारणको स्थितिमें सहकारीपना है। यह इसलिये कि एक द्रव्यके गुण दूसरे द्रव्यके गुणरूप नहीं किये जासक्ते हैं। यदि ऐसा हो तो संकर व्यतिकर दोष आजावे। यदि सर्व द्रव्य अपनी२ परिणतिके उपादान कारण होते हुए सहकारी कारण भी हो जावें तो फिर गति, स्थिति, अवगाहके कार्योंमे धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्योंके सहकारी कारणसे कुछ प्रयोजन न रहे, स्वयं ही गति, स्थिति, अवगाह हो जावे। यदि ऐसा हो तो यह दूषण हो जायगा कि जीव पुद्गल दो ही द्रव्य रह जांयगे। आगममें इसमें विरोध आवेगा।

यहां यह भावार्थ है कि:—यह जीव विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावधारी, शुद्ध जीवास्तिकायकी प्राप्ति न करके, गत अनंतकालसे संसा-

रचक्रमें भ्रमता चला आया है, इस कारण अब इसे वीतराग निर्विकल्प समाधिमें ठहरकर सर्व रागद्वेषादिरूप संकल्प विकल्पोंकी लहरोंको त्याग करके उसी शुद्ध जीवको सदा ध्याना चाहिये ॥

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने कालको द्रव्य सिद्ध किया है कि वह अमूर्तीक है, वर्तना लक्षणका धारी है तथा स्वाभाविक अर्थ पर्याय जो अगुरुलघु गुणकेद्वारा होती हैं उनको रखनेवाला है। वृत्तिकारने ऊपर लिखित विशेषार्थमें यह प्रगट किया है कि सब अन्य द्रव्योंके परिणमनमें उपादान कारण वे द्रव्य आप हैं किन्तु निमित्त कारण काल द्रव्य है। काल द्रव्य इतना आवश्यक है कि इसके सहकारी कारण विना द्रव्योंमें परिणमन नहीं हो सक्ता है। परन्तु इस प्रश्नका कि कालद्रव्यके परिणमनमें कौन सहकारी है यह उत्तर दिया है कि काल स्वयं ही निमित्त है व स्वयं ही उपादान है। इस कथनमें शंकाकारको यह शंका फिर रह जाती है कि जैसे काल परिणमनमें स्वयं ही निमित्त व उपादान है वैसे ही सर्व द्रव्य स्वयं ही निमित्त मान लिये जावें, कालकी आवश्यक्ता नहीं है। इसका समाधान आगम प्रमाणसे दिया है, परन्तु यहां मूल गाथामें इसका कोई वर्णन नहीं है। श्री प्रवचनसारमें आचार्यने ज्ञेयतत्व अधिकारमें इस भांति दिखलाया है,

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥ ४६ ॥
वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो ।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥४७॥

भावार्थ—इसीकी जो संस्कृतवृत्ति जयसेनाचार्यने दी है उसीका भाव यह है कि समयपर्यायका उपादान कारण कालाणु द्वितीयादि

प्रदेश रहित है सो कालाणु पुद्गल परमाणुके मंद गमनरूप सहकारी कारणसे वर्तन करता है। अविभागी पुद्गलपरमाणु मंदगतिसे कालाणुसे व्याप्त निकटवर्ती आकाशके प्रदेशपर जाता है यही गमन कालकी वर्तनामें सहकारी कारण है ॥ ४६ ॥ इस तरह कालाणु व्याप्त आकाशके प्रदेशको मंदगतिसे परमाणुके गमनमें जो समय लगता है उसहीके बराबर समय है। जो कालाणु द्रव्यकी सूक्ष्म समय नामकी पर्याय है इसीको व्यवहारकाल कहते हैं। इस समय पर्यायके आगे पीछे जो कोई रहनेवाला है वह कालद्रव्य है सो ध्रौव्य है। समय उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाला है। इस तरह कालका पर्यायस्वरूप व द्रव्यस्वरूप जानना चाहिये। इस कथनसे स्पष्ट प्रगट है कि कालके परिणमनमें पुद्गलपरमाणुका हिलना ही निमित्त कारण है। गोमटसार जीवकांडकी गाथा ५९३में यह वर्णन है कि लोक व्याप्त सर्व परमाणु चल हैं, हिलते रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि सर्व कालाणु पुद्गल परमाणुओंके हिलनेके निमित्तसे वर्तन करते हुए अपनी समयपर्यायको प्रगट करते हैं। ऐसा माननेसे फिर इस नियममें कोई बाधा नहीं आती है कि उपादान और निमित्त दो भिन्न२ कारणोंसे द्रव्योंका गमन, स्थितपना, अवकाश तथा परिणमन होता है। तब यह कथन कि काल अपने वर्तनमें स्वयं ही निमित्त है अप्रयोजनीय हो जाता है। यहां वृत्तिकारने किस अपेक्षा ऐसा लिखा है उसे विद्वज्जन विचार लेवें।

इस तरह निश्चय कालके व्याख्यानकी मुख्यतासे दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-आगे यह प्रगट करते हैं कि समय घटिका

आदि व्यवहार काल है सो यद्यपि निश्चयसे निश्चयकालकी पर्याय है तथापि जीव तथा पुद्गलोंकी नवीन व जीर्ण परिणति आदिसे प्रगट होता है इसलिये किसी अपेक्षा पराधीन है ।

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती ।
मासोदुअयणसंवच्छरोत्ति कालो परायत्तो ॥२५॥
समयो निमिषः काष्ठा कला च नाली ततो दिवारात्रि ।
मासर्त्वयनसंवत्सरमिति कालः परायत्तः ॥ २५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(समओ) समय (णिमिसो) निमिष (कट्ठा) काष्ठा (कला) कला (य णाली) और घड़ी (तदो) तिससे बने (दिवारत्ती) दिनरात (मासोदु) मास, व (अयण) अयन (संवच्छरोत्ति) संवत्सर आदि (कालो) काल (परायत्तो) पराधीन है ।

विशेषार्थः-जो पुद्गलके परमाणुकी एक कालाणुसे दूसरे कालाणुपर मंद गतिसे परिणमनके निमित्तसे प्रगट हो वह समय है । आंखकी पलक मारनेसे जो प्रगट हो व जिसमें असंख्यात समय वीत जाते हैं वह निमिष है । पन्द्रह निमेषोंकी एक काष्टा होती है, तीस काष्टाओंकी एक कला होती है, कुछ अधिक बीस कलाकी एक घटिका या घड़ी होती है । दो घटिकाका एक महुर्त्त होता है. तीस महुर्तका दिनरात होता है । तीस दिनरातका एक मास होता है, दो मासकी एक ऋतु होती है, तीन ऋतुका एक अयन होता है दो अयनका एक वर्ष होता है, इत्यादि पल्योपम, सागर आदि व्यवहारकाल जानना चाहिये । जो मंदगतिरूप परिणमन करते हुए पुद्गलके परमाणुसे प्रगट हो वह समय है । जो जलके वर्तन आदि बाहरी निमित्तभूत पुद्गलकी क्रियासे प्रगट हो

वह घड़ी है। सूर्यके विम्बके गमन आदि क्रिया विशेषसे प्रगट हो वह दिवस आदि व्यवहारकाल है। जैसे कुंभार, चाक आदि बाहरी निमित्त कारणोंसे उत्पन्न घट मिट्टीके पिंडरूप उपादान कारणसे पैदा हुआ है, ऐसे ही निश्चयनयसे यह व्यवहारकाल द्रव्यकालाणुसे उत्पन्न हुआ है तोभी व्यवहारसे पुद्गलादिके गमनका निमित्त होनेसे पराधीन है। यहां कोई शंका करता है कि जो अन्यकी क्रिया विशेषसे अर्थात् सूर्यादिके गमनादिसे जाना जावे व जो अन्य उत्पन्न हुए पदार्थोंके जनावनेका कारण हो वही काल है, दूसरा कोई द्रव्य या निश्चयकाल नहीं है। इसका उत्तर कहते हैं कि ऐसा नहीं है कि जो पहले कहे प्रमाण समय आदिकी पर्यायरूप व सूर्यकी गति आदिसे प्रगट होता है वह व्यवहार काल है परन्तु जो सूर्य आदिकी गतिके परिणमनमें सहकारी कारण हो वह द्रव्य काल या निश्चय काल है। फिर शंकाकार कहता है कि सूर्यके गमन आदि परिणतिमें धर्म द्रव्य सहकारी कारण है, काल द्रव्यका यहां क्या काम है? आचार्य उत्तर देते हैं कि नहीं। गमनरूप परिणमनमें धर्म द्रव्य सहकारी कारण है वैसे काल द्रव्य भी सहकारी कारण है। सहकारी कारण बहुतसे भी हो सक्ते हैं जैसे घटकी उत्पत्तिमें कुंभार चाक चीवर आदि अनेक कारण हैं व मछली आदिके लिये जल आदि व मनुष्योंके लिये शकट आदि, व विद्याधरोंके लिये मंत्र औषधि आदि, व देवोंके लिये विमान गमनमें सहकारी कारण हैं वैसे काल द्रव्य भी गमनमें सहकारी कारण है।

कहीं पर कहा है कि पुद्गलके द्वारा बने हुए स्कंध व पुद्गल

सहित जीव कालके निमित्तसे ही क्रियावान होते हैं। इसे आगे कहेंगे भी।

शंकाकार यह शंका करता है कि जितने कालमें एक प्रदेशका उल्लंघन पुद्गल परमाणु करता है वह समय है ऐसा कहा गया है। वही परमाणु जब एक ही समयमें चौदह राजू चला जाता है तब जितने प्रदेश चौदह राजूके हैं उतने ही समय हुए एक ही समय कैसे लगा। आचार्य समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है। जब मंदगतिसे परमाणु गमन करता हुआ एक प्रदेश उल्लंघन करता है तब एक समय उत्पन्न होता है वही परमाणु उतने ही एक समयमें चौदह राजू उल्लंघन करता है सो शीघ्र गतिसे करता है ऐसा कहा है, इस लिये इसमें कोई दोष नहीं है। समयके विभाग नहीं होते है। इसमें दृष्टांत कहते हैं जैसे कोई देवदत्त नामका पुरुष सौ योजन सौ दिनमें मंदगतिसे जाता है वही यदि विद्याके प्रभावसे एक दिनमें चला जावे तो क्या सौ दिन लगे ऐसा कहेंगे, नहीं एक ही दिन लगा यह कहेंगे, तैसे ही शीघ्र गतिसे जानेपर चौदहराजूमें भी एक समय ही लगता है कोई दोष नहीं है।

भावार्थ—इस गाथामें व्यवहारकाल दृष्टांत देकर बताया है। इसलोकमें व्यवहारी लोगोंने अनेक समयोंको संग्रह करके नियमित कालके अनेक नाम रख लिये हैं, उनहीको विपल, पल, घटी, दिन-रात आदि कहते हैं। वास्तवमें व्यवहारकाल एक समयमात्र है जो कालाणुरूप द्रव्यकालकी एक पर्याय है वह पर्याय पुद्गल परमाणुके हलन क्रियाके निमित्तसे पैदा होती है और नष्ट होती है। पर्यायकी सूक्ष्म स्थिति एक समय मात्र है। वर्तमान समयसे पीछेके समय वीत

चुके व आगे वीतेंगे। व्यवहारी लोगोंने वीते हुए अनेक समयोंकी व आगे होनेवालोंकी एक गांठ मानकर उनहीके नाम निमिष, काष्ठा, कला, घटी आदि रख दिये हैं। इसीलिये समय सूक्ष्म व्यवहार काल है और घटी आदि स्थूल व्यवहार काल है। क्योंकिसमयकी उत्पत्तिमें परद्रव्य पुद्गलका मंदगमन निमित्त है इससे यह व्यवहार काल पराधीन है। पुद्गलादि द्रव्योंकी हरएक परिणतिमें कालद्रव्य कारण है। पुद्गलादिके गमनमें भी अवस्था पलट रही है इसलिये धर्मद्रव्य जब मात्र चलनक्रियामें कारण है तब काल द्रव्य अवस्था बदलनेमें कारण है। वृत्तिकारने अच्छी तरह समझा दिया है कि एक कार्यके लिये अनेक सहकारी कारणोंकी जरूरत पड़ती है।

व्यवहारकालके अनेक भेद गोम्मटसार सम्यक्तमार्गणामें कहे हैं—

आवलिअसंखसमया संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो।
सत्तुस्सासा थोवो सत्तत्थोवा लवो भणियो॥ ५७३॥
अट्ठत्तीसद्धलवा नाली वे नालिया मुहुत्तं तु।
एगसमयेण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं॥ ५७४॥
दिवसो पक्खो मासो उडु अयणं वस्समेवमादी हु।
संखेज्जासंखेज्जाणंताओ होदि ववहारो॥ ५७५॥

भावार्थ—जघन्य युक्ता असंख्यात समयोंकी एक आवली है, संख्यात आवलाका एक उश्वास है। सात उश्वासका एक स्तोक होता है। सात स्तोकका लय होता है। साढ़े अड़तीस लयकी एक नाली या घटिका होती है। दोय घड़ीका एक महूर्त होता है। महुर्तमें एक समय घटानेसे अंतर्महूर्त्त आता है सो उत्कष्ट है। जघन्य एक आवली एक समयका अंतर्मुहुर्त्त है, मध्यके अनेक भेद हैं। तीस महुर्त्तका

दिनरात, पंद्रहदिनका पक्ष, दो पक्षका मास, दो मासकी ऋतु, तीन ऋतुका अयन, दो अयनका एक वर्ष इत्यादि संख्यात असंख्यात अनंत भेदका व्यवहार काल होता है। यहां उश्वाससे प्रयोजन स्वास्थ्य युक्त पुरुषकी नाड़ी फड़कनेसे है। एक मुहुर्तमें ३७७३दफे नाड़ी फड़कती है अर्थात् ३७७३उश्वासका एक मुहुर्त होता है। इसी एक उश्वासमें लब्ध्यपर्याप्त निगोदिया जीव १८वार जन्म मरण करता है। वास्तवमें एक समय मात्र व्यवहार काल है, क्योंकि समय क्षणभंगुर है—वीतता जाता है—ऐसा जान इस नरभवको दुर्लभ समझ सर्व विकल्पोंको छोड़कर एक अपने शुद्धात्माका ध्यान करना योग्य है, आयुक्षय हो रही है। फिर पीछे पछताना होगा।

उत्थानिका—आगे पूर्व गाथामें जिस व्यवहारको किसी अपेक्षासे पराधीन कहा है वह किस तरह पराधीन है इस प्रश्नके होते हुए युक्तिसे समझाते हैं—

णत्थि चिरं वा खिप्पं मत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता।
पुग्गलदव्वेण विणा तम्हा कालो पडुच्चभवो ॥ २६ ॥
नास्ति चिरं वा क्षिप्रं मात्रारहितं तु सापि खलु मात्रा।
पुद्गलद्रव्येण विना तस्मात्कालः प्रतीत्यभवः ॥ २६ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(मत्तारहिदं) मात्रा या परिमाणके विना (तु) तो (चिरं वा खिप्पं) देर या जल्दीका व्यवहार (णत्थि) नहीं होता है। (खलु) निश्चयसे (सा वि मत्ता) वह मात्रा भी (पुग्गलदव्वेण) पुद्गल द्रव्यके (विणा) विना नहीं होती है (तम्हा) इसलिये (कालो) काल (पडुच्चभवो) पुद्गलके निमित्तसे हुआ ऐसा कहा जाता है।

विशेषार्थ-बहुत कालको चिर व थोड़े कालको क्षिप्र कहते हैं। लोकमें चिर या क्षिप्रका व्यवहार विना मर्यादाके नहीं होसक्ता। घड़ी प्रहर आदिके कालको जब चिरकाल कहेंगे तब उससे छोटे कालको क्षिप्रकाल कहेंगे। सबसे सूक्ष्मकाल एक समय है जो मंद गतिमें परिणमन करते हुए पुद्गलके परमाणुके विना नहीं जाना जाता है या निमिष मात्र है-जो आंखके फडकनेके विना नहीं जाना जाता है। चिरकाल, घड़ी आदि घटिकाके निमित्त जलपात्र आदि द्रव्यके विना नहीं जाने जाते हैं। इस कारण समय, घटिकादि रूप सूक्ष्म या स्थूल व्यवहार काल यद्यपि निश्चयनयसे द्रव्यकालकी पर्याय है तथापि व्यवहारसे परमाणु व जल आदि पुद्गल द्रव्यके आश्रय या निमित्तसे उत्पन्न होता है ऐसा कहा जाता है। जैसे निश्चयसे पुद्गल पिंड रूप मिट्टीके उपादान कारणसे उत्पन्न जो घट सो व्यवहारसे कुंभारके निमित्तसे बना होनेसे कुंभारसे किया गया ऐसा कहा जाता है तैसे ही समयादि व्यवहार काल यद्यपि निश्चयसे परमार्थ काल द्रव्यके उपादान कारणसे उत्पन्न हुआ है तथापि समयको निमित्तभूत परमाणु द्वारा या घटिकाको निमित्तभूत जलादि पुद्गल द्रव्य द्वारा प्रगट होनेसे पुद्गलसे उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है। फिर किसीने कहा समयरूप व्यवहार कालको ही मानो, निश्चयकाल कालाणु द्रव्य रूप कोई नहीं है? इसका समाधान आचार्य कहते हैं कि समय सबसे सूक्ष्म काल रूप प्रसिद्ध एक पर्याय है वह द्रव्य नहीं है। पर्याय इसलिये है कि समय उपजता विनशता है। कहा है "समओ उप्पण्ण पद्धंसी"। पर्याय विना द्रव्यके नहीं होसक्ती है।

द्रव्य निश्चयसे अविनाशी होता है इसलिये कालकी समय पर्यायका उपादान कारण कालाणु रूप काल द्रव्य ही है पुद्गलादि नहीं है, क्योंकि यह नियम है कि जैसा उपादान कारण होता है वैसा कार्य होता है। मिट्टीका पिंड जैसा होगा वैसा ही उसके उपादान कारणके समान घट बनेगा। और तो क्या काल शब्द ही परमार्थ कालका वाचक होनेसे अपने ही वाच्य परमार्थ कालके स्वरूपको स्थापित करता है। जैसे सिंह शब्द सिंह पदार्थको, सर्वज्ञ शब्द सर्वज्ञ पदार्थको, इन्द्र शब्द इन्द्र पदार्थको साधन करता है। फिर भी संकोचते हुए निश्चय तथा व्यवहार कालका स्वरूप कहते हैं।

समय आदि रूप सूक्ष्म व्यवहार कालका व घटिकादिरूप स्थूल व्यवहार कालका जो कोई उपादान कारण है तथा जो समय घटिकादिके भेदसे कहने योग्य व्यवहार कालकी भेद कल्पनासे रहित है, व जो तीनों कालोंमें रहनेवाला अनादि अनंत लोकाकाशके असंख्यात प्रदेशोंके प्रमाण असंख्यात कालाणु रूप भिन्न २ द्रव्य हैं सो निश्चय काल है। तथा जो निश्चयकालके उपादान कारणसे पैदा होने पर भी पुद्गल परमाणु व जल पात्रादिसे प्रगट होता है सो समय, घटिका, दिवस आदि रूपसे विशेष २ व्यवहारकी कल्पनामें आनेवाला व्यवहार काल है। इस व्याख्यानमेंसे यह तात्पर्य लेना कि जिसका लाभ भूतके अनंत कालमें दुर्लभ रहा है ऐसा जो शुद्ध जीवास्तिकाय है उसीके ही चिदानंदमई एक स्वभावमें सम्यक् श्रद्धान करना चाहिये, उसीको रागादिसे भिन्न जानकर भेदज्ञान प्राप्त करना चाहिये तथा उसीमें ही रागादि विभावरूप सर्व संकल्प-विकल्प-जाल छोड़कर स्थिर चित्त करना चाहिये।

भावार्थ–इस गाथामें यह बताया है कि लोकमें कालके विना शीघ्र व चिरका व्यवहार नहीं हो सक्ता। व्यवहारी जन कहते हैं कि इस कामको शीघ्र करना, देर न लगाना; इस व्यवहारका कारण कालकी कोई मर्यादा है। उसे ही व्यवहारकाल कहते हैं। इसका सूक्ष्मकाल एक समय है जो पुद्गल परमाणुके मंद गमनके निमित्तसे कालाणु रूप निश्चय कालद्रव्यकी पर्याय है। समय वीतता जाता है इससे प्रगट है कि समय कोई अवस्था है, पर्याय है। पर्याय मूल द्रव्यके विना हो नहीं सक्ती इसलिये समय पर्यायका मूल-कारण या उपादान कारण निश्चय कालाणुरूप द्रव्यकाल है इस तरह निश्चयकाल और व्यवहार कालको जानना चाहिये।

श्री गोम्मटसारमें व्यवहारकालका स्वरूप कहा है–

ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति पयट्ठो।
ववहारअवट्ठाणट्ठिदी हु ववहारकालो दु ॥ ५७२ ॥

भावार्थ–व्यवहार, विकल्प, भेद, पर्याय इन सबका एक ही अर्थ है। तहां व्यंजनपर्यायका अवस्थान जो वर्तमानपना ताकरि स्थति जो कालका परिमाण सोई व्यवहारकाल है अर्थात् कालाणुरूप मूल द्रव्यकी वर्तमान समय नामा पर्याय सो ही पर्यायकाल या व्यवहार-काल है।

इस तरह व्यवहारकालके व्याख्यानकी मुख्यतासे दो गाथाएं पूर्ण हुई।

इस पंचास्तिकाय व छः द्रव्यके प्ररूपण करनेवाले आठ अंतरअधिकार सहित प्रथम महाअधिकारमें निश्चय व्यवहारकालको कहनेवाला पांच गाथाओंसे तीन स्थलद्वारा तीसरा अंतर अधिकार

पूर्ण हुआ। इस प्रकार समय शब्दार्थपीठिका, द्रव्यपीठिका व निश्चय व्यवहारकाल इन व्याख्यानोंकी मुख्यतासे तीन अंतर अधिकारोंसे छवीस गाथाओंके द्वारा पंचास्तिकायपीठिका समाप्त हुई।

उत्थानिका—आगे पहले कहे हुए छः द्रव्योंका चूलिकारूपसे विस्तारसे व्याख्यान करते हैं—

**परिणाम जीव मुत्तं सपदेसं एय खेत्त किरिया य।**
**णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदिदरं हि यपदेसो ॥ १ ॥**

विशेषार्थ सहित भावार्थ—यह गाथा मूल गाथाओंकी गणनामें स्वयं श्री जयसेनाचार्यजीने भी नहीं ली है तथा अमृतचंद्रजीने तो उसका कुछ वर्णन भी नहीं किया है तथापि श्री जयसेनाचार्यजीने जो इस गाथाका व्याख्यान किया है वह नीचे दिया जाता है।

जीव और पुद्गल दो द्रव्य, स्वभाव और विभाव व्यंजनपर्यायोंको रखनेवाले हैं, इससे परिणामी हैं, जब कि शेष चार द्रव्य विभाव व्यंजनपर्यायको न रखनेके कारण मुख्यतासे अपरिणामी हैं अर्थात् चारमें आकारोंका परिवर्तन नहीं होता है—अपने आकारमें स्थिर रहते हैं। यह छः द्रव्योंके सम्बन्धमें प्रथम परिणाम अधिकार है। छःद्रव्योंमें एक जीवद्रव्य सचेतन है जो शुद्ध निश्चयनयसे विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावमई शुद्ध चैतन्य प्राणोंसे जीता है तथा व्यवहार नयसे कर्मके उदयसे उत्पन्न जो द्रव्य व भावरूप इंद्रियादि चार प्राण उनसे जीता है, जीवेगा या पहले जी चुका है सो जीव एक सचेतन है, शेष पुद्गलादि पांच द्रव्य अचेतन व अजीव हैं। यह छः द्रव्योंमें जीव अधिकार दूसरा हुआ।

अमूर्तीक शुद्ध आत्मासे विलक्षण स्पर्श रस गंधवर्णवाली मूर्ति कहलाती है जिसके यह मूर्ति हो उसको मूर्त या पुद्गल कहते हैं। जीव द्रव्य यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे मूर्तीक है तो भी शुद्ध निश्चय नयसे अमूर्तीक है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य सब अमूर्तीक हैं। निश्चयसे पुद्गल मूर्तीक हैं। शेष पांच अमूर्तीक हैं। यह छः द्रव्योंमें तीसरा मूर्त्त अधिकार हुआ।

लोकमात्रप्रमाण असंख्येय प्रदेश धारी एक जीव द्रव्य है इसी तरह धर्म अधर्म भी असंख्यात २ प्रदेश धारी हैं, आकाश अनंत प्रदेशी है व पुद्गल संख्यात, असंख्यात, अनंत प्रदेशी हैं। इस तरह ये पांच द्रव्य जिनको पंचास्तिकाय संज्ञा है सप्रदेशी या बहु प्रदेशी हैं जब कि काल द्रव्य बहु प्रदेशमई कायपनेकी शक्ति न रखनेके कारण व मात्र एक प्रदेश रखनेके कारण अप्रदेशी है। यह छःद्रव्योंमें चौथा प्रदेश अधिकार पूर्ण हुआ।

द्रव्यार्थिकनयसे धर्म, अधर्म, आकाश मात्र एकएक द्रव्य हैं तथा जीव, पुद्गल और काल अनेक द्रव्य हैं। यह छःद्रव्योंमें एकानेक अधिकार पांचमा हुआ।

सर्व द्रव्योंको अवकाश देनेकी सामर्थ्य रखनेसे क्षेत्रमई एक आकाशद्रव्य है, शेष पांच द्रव्य उसमें रहनेवाले अक्षेत्री हैं। यह छः द्रव्योंमें क्षेत्र अधिकार छठा पूर्ण हुआ। एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें जानेको हलनचलनरूप क्रिया कहते हैं। इस क्रियाको रखनेवाले जीव और पुद्गल दोही द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य अक्रिय हैं–क्रियारहित हैं, क्योंकि वे स्थिर हैं। यह छः द्रव्योंमें सातमा क्रिया अधिकार हुआ।

धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्य यद्यपि अर्थपर्यायके परिणमनकी अपेक्षा अनित्य हैं तथापि मुख्यतासे ये नित्य हैं, क्योंकि इनमें आकारके पलटनरूप विभाव व्यंजनपर्याय नहीं होती है। द्रव्यार्थिकनयसे यद्यपि जीव और पुद्गलद्रव्य नित्य हैं तथापि अगुरुलघुकी परिणतिरूप स्वभावपर्याय तथा विभाव व्यंजनपर्याय (जिससे आकार पलटता है ) की अपेक्षासे अनित्य हैं। यह छः द्रव्योंमें नित्य नामका आठमा अधिकार हुआ।

पुद्गल, धर्म; अधर्म, आकाश और कालद्रव्य व्यवहारनयसे जीवके शरीर, वचन, मन, श्वासोश्वास बनानेमें, गतिमें, स्थितिमें अवगाह पानेमें व वर्तना करनेमें क्रमसे सहकारी होते हैं, इसलिये ये कारण कहलाते हैं, जबकि जीवद्रव्य यद्यपि गुरु, शिष्यादिकी तरह परस्पर एक दूसरेका काम करते हैं तथापि पुद्गलादि पांच द्रव्योंका कुछ भी उपकार नहीं करते हैं इसलिये अकारण हैं—यह छः द्रव्योंमें नौमा कारण अधिकार हुआ।

शुद्ध पारिणामिक परम भावको ग्रहण करनेवाली शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे यद्यपि जीव बंध, मोक्ष, द्रव्य या भाव रूप पुण्य पाप तथा घट पट आदिका कर्ता नहीं है तथापि अशुद्ध निश्चय नयसे शुभ और अशुभ उपयोगोंसे परिणमन करता हुआ पुण्य तथा पापके बंधका कर्ता और उनके फलका भोक्ता है तथा जब यह जीव विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावरूप अपने शुद्ध आत्म द्रव्यके सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्रमई शुद्धोपयोगसे परिणमन करता है तब मोक्षका भी कर्ता है और मोक्षके फलको भोक्ता है। शुभ, अशुभ तथा शुद्ध भावोंमें परिणमनेको ही कर्ता-

पना सर्व ठिकाने जानना योग्य है। पुद्गलादि पांच द्रव्य अपने अपने स्वभावमें ही परिणमन करते हैं, यही उनमें कर्तापना है। वास्तवमें वे पुण्य पापादिके कर्ता नहीं हैं। किन्तु अकर्ता हैं। यह छः द्रव्योंमें दसमा कर्ता अधिकार पूर्ण हुआ। लोक व अलोकमें फैला हुआ एक आकाश द्रव्य है इसलिये यह आकाश सर्वगत कहा जाता है। लोकाकाशमें व्याप्तिकी अपेक्षा धर्म अधर्म सर्वगत हैं। जीव द्रव्य एक एक जीवकी अपेक्षासे लोक पूर्णकी अवस्थाको छोड़ कर असर्वगत हैं अर्थात् समुद्घातके सिवाय शरीर प्रमाण आकारधारी हैं। नाना जीवोंकी अपेक्षासे सर्व लोकाकाश जीवोंसे पूर्ण है। पुद्गल द्रव्य लोक प्रमाण महास्कंधकी अपेक्षासे सर्वगत है। शेष पुद्गलोंकी अपेक्षा सर्वगत नहीं है। लोकभरमें पुद्गल भरे हुए हैं इसलिये भी पुद्गल सर्वगत है। तथा काल द्रव्य एक एक कालाणु द्रव्यकी अपेक्षा सर्वगत नहीं है, परन्तु लोकके प्रदेशोंके प्रमाण असंख्यात कालाणुओंकी अपेक्षा लोकमें सर्वगत है।

यह छः द्रव्योंमें ग्यारहवां सर्वगत अधिकार पूर्ण हुआ।

यद्यपि सर्व द्रव्य व्यवहार नयसे एक क्षेत्रमें अवगाह पा रहे हैं इससे एक दूसरेमें प्रवेश रूप तिष्ठे हैं तथापि निश्चय नयसे अपने अपने चेतन या अचेतन स्वरूपको नहीं छोड़ते हैं। यह छः द्रव्योंमें अन्योन्य प्रवेश नामका बारहवां अधिकार पूर्ण हुआ।

यहां छः द्रव्योंके मध्यमें वीतराग चिदानन्दमई आदि गुण स्वभावका धारी जो अपना ही शुद्ध आत्मद्रव्य है जिसमें मन वचन कायका व्यापार नहीं है वही ग्रहण करने योग्य है, यह भावार्थ है।

विषयसूची ।

इसके आगे—"जीवा पोग्गलकाया" इत्यादि गाथामें जो पहले पांच अस्तिकायोंकी सूचना की गई है उन हीका विशेष व्याख्यान करते हैं। यहां पाठके क्रमसे त्रेपन गाथाओंके द्वारा नव अंतर अधिकारोंसे जीवास्तिकायका व्याख्यान शुरू किया जाता है। इन त्रेपन गाथाओंमें पहले ही चार्वाकमतके अनुसारी भाव रखनेवाले शिष्यके लिये जीवकी सिद्धि करते हुए नव अधिकार हैं उनके क्रमकी सूचना यह है कि "जीवोत्ति हवदि चेदा" इत्यादि एक अधिकारको सूत्र गाथा है। जैसा इन नीचेके लिखे दो श्लोकोंमें कहा है। भट्ट मतानुसारी शिष्यके लिये सर्वज्ञकी सिद्धिपूर्वक क्रमसे अधिकारोंका व्याख्यान सूचित किया है।

तत्रादौ प्रभुता तावज्जीवत्वं देहमात्रता ।
अमूर्तत्वं च चैतन्यमुपयोगो तथा क्रमात् ॥
कर्तृता भोक्तृता कर्मायुक्तत्वं च त्रयं तथा ।
कथ्यते यौगपद्येन यत्र तत्रानुपूर्व्यतः ॥

अर्थात्—जीवमें प्रभुता है, जीवपना है व जीव शरीरमात्र प्रमाणसहित है, अमूर्तीक है, चेतनामयी है, उपयोगवान है, कर्मोंका कर्ता है, कर्मोंका भोक्ता है तथा कर्मोंसे छूट भी जाता है। ये नौ अधिकार क्रमसे कहे जाते हैं।

इनमेंसे पहले ही प्रभुत्वके व्याख्यानकी मुख्यतासे भट्ट मतानुसारी शिष्यके लिये सर्वज्ञकी सिद्धि करनेके प्रयोजनसे "कम्ममल" इत्यादि दो गाथाएं हैं। फिर चार्वाक मतानुसारी शिष्यके प्रति जीवकी सिद्धिके प्रयोजनसे जीवत्वका व्याख्यान करते हुए "पाणे-

हिं चदुहिं" इत्यादि गाथाएं तीन हैं, फिर नैयायिक मीमांसक और सांख्यमतको आश्रय करनेवाले शिष्यके लिये जीव अपने प्राप्त देहके प्रमाण है इसे बतानेके लिये "जह पउम" इत्यादि दो सूत्र हैं। इसके पीछे भट्टचारवाक मतके अनुकूल शिष्यके लिये जीवके अमूर्तीकपना बतानेके लिये "जेसिं जीवसहावो" इत्यादि सूत्र तीन हैं। फिर अनादि कालसे जीवके चैतन्य भाव है इसके समर्थनके व्याख्यानको तथा चार्वाक मतके खंडनके लिये "कम्माणं फलं" इत्यादि दो सूत्र हैं इस प्रकार अधिकारकी गाथाको आदि लेकर पांच अंतराधिकारके समुदायसे तेरह गाथाएं कहीं।

फिर नयायिक मतके अनुसारी शिष्यके सम्बोधनके लिये "उवओगो खलु दुविहो" इत्यादि उन्नीस गाथा तक उपयोग अधिकार कहा जाता है। इन १९ गाथाओंके मध्यमें पहले ही ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग इन दो प्रकार उपयोगोंकी सूचनाके लिये "उवओगो खलु" इत्यादि सूत्र एक है। फिर आठ प्रकार ज्ञानके नाम कहनेके लिये "आभिणि" इत्यादि सूत्र एक है। फिर मति आदि पांच ज्ञानोंके व्याख्यानके लिये "मदिणाणं" इत्यादि पाठक्रमसे सूत्र पांच हैं। फिर तीन प्रकारके अज्ञानके क्रमके लिये "मिच्छत्ता अण्णाणं" इत्यादि सूत्र एक है। इस तरह ज्ञानोपयोगके सात सूत्र हैं। आगे चक्षु आदि दर्शनोपयोग चारको कहनेकी मुख्यतासे "दंसणमवि" इत्यादि सूत्र एक है। इस तरह ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोगके अधिकारकी गाथाको लेकर पांच अंतर स्थलोंसे नव गाथाएं हैं। आगे दस गाथाओं तक व्यवहारसे जीव और ज्ञानमें संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादिकी अपेक्षासे भेद होने पर भी

निश्चयनयसे प्रदेशोंकी और अस्तित्वकी अपेक्षासे नैयायिकोंको लिये इस ज्ञान और जीवका अभेद स्थापन करते हैं, जैसे अग्नि और उष्णताका अभेद है। यहां पर जीव और ज्ञानका भेद संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनोंकी अपेक्षासे कहा जाता है। जीव द्रव्यकी जीव ऐसी संज्ञा है, ज्ञानगुणकी ज्ञान ऐसी संज्ञा है। चारों प्राणोंसे जी रहा है, जीवेगा व जीचुका है सो जीव है। यह जीवद्रव्यका लक्षण है। जिससे पदार्थ जाने जावें यह ज्ञान गुणका लक्षण है। जीव द्रव्यका प्रयोजन बन्ध तथा मोक्षकी पर्यायोंमें परिणमन करते हुए भी नाश न होना है। ज्ञान गुणका प्रयोजन पदार्थको जाननेमात्र ही है। इस तरह संक्षेपसे जीव और ज्ञानके भिन्न२ संज्ञा, लक्षण व प्रयोजन जानने योग्य हैं। इन दश गाथाओंके मध्यमें जीव और ज्ञानका अभेद संक्षेपसे स्थापनके लिये "ण विअप्पदि" इत्यादि सूत्र तीन हैं। "फिर द्रव्य और गुणोंका अभेद होनेपर भी नाम आदिकी अपेक्षा भेद है" ऐसा समर्थन करते हुए "ववदेसा" इत्यादि गाथाएं तीन हैं। फिर एक क्षेत्रमें रहनेवाले गुण और द्रव्य जो परस्पर अयुतसिद्ध है अर्थात् कभी मिले नहीं अर्थात् जिनका अभेद सिद्ध है व जो परस्पर अमिट आधार आधेयरूप हैं, उन गुण और द्रव्यरूप भिन्न२ जीवादि पदार्थोंमें परस्पर प्रदेश भेद है तौभी आत्मा और ज्ञानका प्रदेश भेद नहीं है। आत्मामें ज्ञान है जैसे तंतुओंमें पटपना है। इत्यादि जो सम्बन्ध है कि यह इसमें है सो समवाय सम्बन्ध कहलाता है। नैयायिकमतमें इसी समवायका निषेध है इसके बतानेके लिये "ण हि सो समवायाहिं" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर गुण और गुणीमें किसी अपेक्षा अभेद है इस सम्बन्धमें दृष्टांत दार्ष्टान्त-

का व्याख्यान करनेके लिये " वण्णरस " इत्यादि सूत्र दो हैं। दृष्टांतका लक्षण कहते हैं। "दृष्टौ अंतौ धर्मौ स्वभावौ अग्निधूमयोः इव साध्यसाधकयोः वादि प्रतिवादिभ्यां कर्तृभूताभ्याम् अविवादेन यत्र वस्तुनि स दृष्टांत इति। अर्थात् अग्निमें धूमकी तरह जिस पदार्थमें साध्य साधकके स्वभाव वादी प्रतिवादीको विना किसी विरोध या विवादके दिखलाई पड़े सो दृष्टांत है। संक्षेपसे जैसे दृष्टांतका लक्षण है वैसे दार्ष्टान्तका लक्षण हैं। इस तरह पहले कही नव गाथाओंमें स्थल पांच तथा यहां दश गाथाओंमें स्थल चार इस तरह समुदायसे नव अंतर स्थलोंके द्वारा उगणीस सूत्रोंसे उपयोग अधिकारकी पातनिका हुई।

अथानंतर वीतराग परमानंदमई अमृतरसरूप परम समरसी भावमें परिणमन स्वरूप शुद्ध जीवास्तिकायसे भिन्न जो जीवमें कर्मोंका कर्तापना, कर्मोंका भोक्तापना तथा कर्मोंसे संयोगपना इन तीन बातोंका स्वरूप है उसे सत् या असत् वतलानेके लिये जहां-तहां आनुपूर्वीके द्वारा अठारह गाथाओं तक व्याख्यान करते हैं। इन अठारह गाथाओंके मध्यमें पहले स्थलमें "जीवा अणईणिहणा" इत्यादि तीन गाथाओंसे समुदाय कथन है। फिर दूसरे स्थलमें "उदयेण" इत्यादि एक गाथामें औदयिक आदि पांच भावोंका व्याख्यान है। फिर तीसरे स्थलमें " कम्मं वेदयमाणो " इत्यादि छः गाथाओंमें कर्तापनेकी मुख्यतासे व्याख्यान है। फिर चौथे स्थलमें "कम्मं कम्मं कुव्वदि" इत्यादि पूर्वपक्षकी गाथा है। पीछे पांचवें स्थलमें इस पक्षके समाधानकी सात गाथाएं हैं। इन सात गाथाओंमें पहले ही ओगाढ गाढ" इत्यादि तीन गाथाओंसे निश्चयनयसे द्रव्य-

कर्मोंका जीव कर्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं। फिर निश्चयनयसे जीवके द्रव्यकर्मोंका अकर्ता होनेपर भी "जीवा पोग्गलकाया" इत्यादि एक गाथासे कर्मोंके फलका भोक्तापना है तथा "तम्हा कम्मं कत्ता" इत्यादि एक सूत्रसे कर्ता भोक्तापनेका संकोच कथन है। फिर "एवं कत्ता" इत्यादि दो गाथाओंसे क्रमसे जीवके कर्मसे संयुक्तपना व कर्मसे मुक्तपना कहते हैं। इस तरह पूर्वपक्षके उत्तरमें सात गाथाएं हैं। इस तरह पाठके क्रमसे अठारह गाथाओंके द्वारा पांच स्थलोंसे एकांतमतके निराकरणके लिये तैसे ही अनेकांत मतके स्थापनके लिये तथा सांख्यमतानुसारी शिष्यके सम्बोधनके लिये कर्तापना व बौद्धमतके अनुयायी शिष्यके समझानेके लिये भोक्तापना तथा सदाशिवके आश्रित मतिधारी शिष्यका संदेह विनाश करनेके लिये कर्म संयुक्तपना इस तरह कर्तापना, भोक्तापना तथा कर्म संयुक्तपना तीन अधिकार जानने चाहिये। इसके आगे जीवास्तिकाय सम्बन्धी नौ अधिकारोंके व्याख्यानके पीछे "एक्को जेम महप्पा" इत्यादि गाथा तीनसे जीवास्तिकाय चूलिका है। इस तरह पंचास्तिकाय व छः द्रव्यका प्रतिपादन करनेवाले प्रथम महा अधिकारमें छः अन्तर अधिकारोंके द्वारा त्रेपन गाथा प्रमाण चौथे अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका हुई।

उत्थानिका—आगे संसार अवस्थामें भी रहनेवाले आत्माके शुद्ध निश्चयनयसे उपाधिरहित शुद्धभाव हैं तैसे ही अशुद्ध निश्चयनयसे उपाधि सहित भावकर्मरूप रागादिभाव हैं तथा असद्भूत व्यवहारनयसे भावकर्मकी उपाधिसे उत्पन्न द्रव्यकर्म हैं ऐसा यथासम्भव प्रतिपादन करते हैं—

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥ २७ ॥

जीव इति भवति चेतयितोपयोगविशेषितः प्रभुः कर्त्ता।
भोक्ता च देहमात्रो न हि मूर्त्तः कर्मसंयुक्तः ॥ २७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जीवोत्ति) यह जीव जीनेवाला है, (चेदा) चेतना सहित चेतनेवाला है, (उवओगविसेसिदो) उपयोग सहित है, (पहू) प्रभू है, (कत्ता) करनेवाला है, (य भोत्ता) और भोगनेवाला है। (देहमत्तो) शरीर प्रमाण आकार धारी है (ण हि मुत्तो) निश्चयसे मूर्तीक नहीं है तथा (कम्मसंजुत्तो) कर्म सहित (हवदि) है। इन नौ अधिकारोंको रखनेवाला है।

विशेषार्थः-यह आत्मा शुद्ध निश्चयनयसे सत्ता, चैतन्य, ज्ञान आदि शुद्ध प्राणोंसे जीता है तथा अशुद्ध निश्चयनयसे क्षयोपशमिक तथा औदयिक भावरूपी प्राणोंसे जीता है तैसे ही अनुपचरित असत्भूत व्यवहार नयसे द्रव्यप्राणोंसे यथासंभव जीता है, जीवेगा व पहले जी चुका है इसलिये यह जीनेवाला है। यह आत्मा शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध ज्ञान चेतना तथा अशुद्ध निश्चयनयसे कर्म तथा कर्मफलरूप अशुद्ध चेतना सहित होनेसे चेतनेवाला है, निश्चयनयसे केवलदर्शन केवलज्ञानमई शुद्ध उपयोगसे तथा अशुद्ध निश्चयनयसे मतिज्ञानादि क्षयोपशमिक अशुद्ध उपयोगसे युक्त होनेके कारण उपयोगवान है; निश्चयनयसे मोक्ष तथा मोक्षके कारणरूप शुद्ध परिणामोंमें परिणमन करनेकी सामर्थ्य रखनेसे तथा अशुद्ध निश्चयनयसे संसारके कारणरूप अशुद्ध परिणामोंमें परिणमनेकी सामर्थ्य रखनेसे प्रभु है। शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध भावोंका

तैसे ही अशुद्ध निश्चयनयसे भावकर्मरूप रागादि भावोंका तथा अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और नोकर्म बाहरी शरीरादिका करनेवाला होनेसे कर्त्ता है। शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध आत्मासे उत्पन्न वीतराग परमानंदमई सुखका, तैसे ही अशुद्ध निश्चयनयसे इंद्रियोंसे उत्पन्न सुख दुःखका तथा अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे सुखदुःखके साधक इष्ट व अनिष्ट खानपान आदि बाहरी विषयोंका भोगनेवाला होनेसे भोक्ता है। निश्चयनयसे लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशप्रमाण होनेपर भी व्यवहारनयसे शरीरनाम्ना नामकर्मके उदयसे उत्पन्न छोटे या बड़े शरीर प्रमाण होनेसे स्वदेह मात्र है। निश्चय नयसे मूर्तिरहित है तथा कर्म्म रहित है तथापि असद्भूत व्यवहार नयसे अनादिकालीन कर्म बंध सहित होनेसे मूर्तीक है और कर्मसंयुक्त है। इसतरह शब्दार्थ और नयार्थको कहा। अब मतोंकी अपेक्षा अर्थ कहते हैं। यहां जीवत्वका व्याख्यान चार्वाक मतानुसारी शिष्यकी अपेक्षासे—

"वच्छक्खरं भवसारित्थसग्गणिरयपियराय।
चुल्लि य हंडीय पुण मयउ णव दिट्ठंता जाय॥
वत्साक्षरं भवभवसादृश्यस्वर्गनर्कपितरा च।
चुल्ली च हंडकी पुनर्मृतिका नव दृष्टांता ये च॥

भावार्थ—जो आत्मा और पुनर्जन्मको नहीं मानते हैं उनके लिये ये नव दृष्टांत हैं—

(१) वत्स ( बालक )—जन्मते ही माताका स्तनपान करने लगता है सो पूर्व संस्कारके विना होना अशक्य है। इससे आत्मा और उसका पूर्व जन्म सिद्ध है।

(२) अक्षर—प्राणी अक्षरोंका उच्चारण अपने प्रयोजनवश ज्ञानपूर्वक करता है। यदि पंचभूतसे बना जीव माना जायगा तो उसमें विचार पूर्वक व ज्ञानजन्य अक्षरोंका उच्चारण नहीं हो सक्ता। जैसे जड़ पुद्गलके बने यंत्रमें ज्ञानपूर्वक शब्दोच्चारण नहीं होता इससे भी भूतोंसे भिन्न आत्मा सिद्ध है।

(३) भव (जन्म)—देहका धारण करना—जबतक स्थायी आत्मा न माना जायगा तबतक देहका धरना—जन्मना नहीं बन सकेगा।

(४) सादृश्य—जो बात एक सजीवप्राणीमें देखी जाती है वही दूसरोंमें देखी जाती है। सब ही प्राणियोंके भीतर आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाएं होती हैं। इंद्रियोंके द्वारा काम करना समान है। ये सब भिन्न आत्माके माने विना हो नहीं सक्ता। भौतिकदेह मात्र माननेसे सादृश्यता अकारण हो जायगी। विना विशेष कारणके ये सदृशता क्यों है?

(५-६) स्वर्ग—नर्क—जगतमें स्वर्ग और नर्क प्रसिद्ध हैं—यदि आत्मा न माना जायगा तो कौन पुण्यके फलसे स्वर्गमें व कौन पापके फलसे नर्कमें जायगा?

(७) पितर—यदि आत्मा न माना जायगा तो जो यह बात प्रसिद्ध है कि भूतप्रेत आकर कह देते हैं कि हम तुम्हारे पिता आदि थे यह बात नष्ट हो जायगी अथवा लौकिकमें पितृ पूजा श्राद्ध आदि करते हैं सो आत्माके नष्ट होने हुए नहीं बन सकेंगे।

(८) चूल्हा—यदि पांच भूतोंसे आत्मा बन जाता हो तो चूल्हे पर चढ़ाई हुई हांडी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पांच तत्वोंसे युक्त है उसमें ज्ञान व इच्छा क्यों नहीं दिखलाई पड़ते हैं।

(९) मृतक–मुर्दा शरीर भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश सहित है फिर उसमें इच्छा व ज्ञान क्यों नहीं होते ?

इस तरह नव दृष्टांतोंसे आत्मा जड़से भिन्न नित्य है यह बात सिद्ध होती है ।

अथवा सामान्य चेतना गुणका व्याख्यान सर्व मतोंके लिये साधारण रूपसे जानना चाहिये । यह जीव ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोगसे भिन्न नहीं है ऐसा व्याख्यान नैयायिक मतके अनुसारी शिष्यको समझानेके लिये कहा है क्योंकि नैयायिक गुण और गुणीकी भिन्नता किसी समय मान लेता है । यह आत्मा ही मोक्षका उपदेशक तथा मोक्षका साधक होनेसे प्रभु है । यह व्याख्यान इसलिये किया है कि वीतराग सर्वज्ञका वचन प्रमाणीक होता है तथा भट्ट-चार्वाकमतके आश्रित शिष्यकी अपेक्षासे सर्वज्ञसिद्धि करनेके लिये नीचे लिखे दोहेमें कथित नव दृष्टांतोंसे कथन किया है क्योंकि भट्ट चार्वाक मत किसी सर्वज्ञको नहीं मानता है । वह दोहा है–

**रयणदिवदिणयरु दहिउ उडु दाउपासणु–**
**सुणरुप्पफलिहउ अगिणि णव दिट्ठंता जाणु ॥**
**रत्नदीपदिनकर च इदं उडु धातुपाषाण–**
**स्वर्णरूप्यस्फटिक अग्निः नव दृष्टांतान् जानीहि ॥**

भावार्थ–यहां सर्वज्ञकी सिद्धिके लिये नौ दृष्टांत दिये हैं । जैसे रत्नदीपमें प्रभा कमती बढ़ती दिखनेसे अनुमान होता है कि किसीमें अधिकसे अधिक तेज होना चाहिये । इसी तरह जगतके प्राणियोंमें ज्ञान कमती बढ़ती दिखलाई पड़ता है तब किसी भी जीवमें ज्ञानकी पूर्णता संभव है । जिसमें पूर्ण ज्ञान है वही सर्वज्ञ है ।

यही भाव अन्य दृष्टांतोंका भी है जैसे (२) सूर्यकी किरणका कमती वढ़ती तेज, (३) चन्द्रमाकी चांदनी, (४) नक्षत्रकी ज्योति, (५) धातु पाषाणोंका प्रकाश, (६) सोनेकी चमक, (७) चांदीकी चमक, (८) स्फाटिककी ज्योति, (९) आगकी तेजी। सोना, चांदीका दृष्टांत इसलिये भी कार्यकारी होगा कि ये शुद्ध होते२ पूर्ण शुद्ध भी पाए जाते हैं। इसी तरह अशुद्ध आत्मा शुद्ध होते२ पूर्ण शुद्ध भी पाया जाना चाहिये वही सर्वज्ञ है ।

यह जीव ही शुद्ध या अशुद्ध भावोंका कर्ता है यह व्याख्यान जीव अकर्ता है ऐसे एकांत मतधारी सांख्यमतके अनुसारी शिष्यको समझानेके लिये किया है। तथा यह जीव भोक्ता है यह व्याख्यान कर्ता कर्मोंका फल नहीं भोगता है क्योंकि वह क्षणिक है इस मतके माननेवाले वौद्ध मतके अनुसारी शिष्यके संवोधनके लिये किया है। यह जीव अपने शरीरके प्राण रहता है, यह कथन नैयायिक, मीमांसक व कपिल मतानुसारी आदि शिष्योंके संदेह निवारणके लिये किया है, क्योंकि वे आत्माको सर्वव्यापी या अणुमात्र मानते हैं। यह जीव अमूर्तीक है। यह व्याख्यान भट्ट-चार्वाक मतके अनुसारी शिष्यके संवोधनके लिये किया है, क्योंकि वे जीवको अतीन्द्रिय ज्ञानधारी शुद्ध जड़से भिन्न नहीं मानते हैं। यह जीव द्रव्य कर्म व भाव कर्मसे संयुक्त होता है, यह व्याख्यान सदाशिवमतके निराकरणके लिये किया है, क्योंकि वे आत्माको सदामुक्त व शुद्ध ही मानते हैं। इस तरह मतोंके द्वारा अर्थ जानना योग्य है। आगमद्वारा अर्थका व्याख्यान यह है कि यह जीव जीवत्व चेतना आदि स्वभावोंका धारी है यह बात परमागममें

प्रसिद्ध ही है। यहां यह भावार्थ है कि कर्मोंकी उपाधिसे उत्पन्न जो मिथ्यात्त्व व रागादि रूप समस्त विभाव परिणाम उनको त्यागकर उपाधि रहित केवलज्ञानादि गुणोंसे युक्त शुद्ध जीवास्तिकाय ही निश्चयनयसे उपादेयरूपसे भावना करने योग्य है।

इस तरह शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ तथा भावार्थ व्याख्यानके कालमें सर्व ठिकाने यथासंभव जानना योग्य है।

यहां शिष्यने प्रश्न किया कि पहले जीवास्तिकायकी समुदाय पातनिकामें चार्वाक आदि मतोंके अभिप्रायसे व्याख्यान किया था फिर यहां क्यों कहा गया? ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर आचार्य समाधान करते हैं कि पहले तो इस व्याख्यानके क्रमको बतानेके लिये प्रभुता आदि अधिकारकी मुख्यतासे नव अधिकार सूचित किये गये कि वीतराग सर्वज्ञकी सिद्धि होनेपर ही व्याख्यानमें प्रमाणपना प्राप्त होता है; क्योंकि कहा है-" वक्तृप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यमिति " भावार्थ-वक्ताकी प्रमाणतासे उसके वचनकी प्रमाणता होती है। यहां फिर इसलिये कहा है कि धर्मीपदार्थकी सत्ता होने पर ही उसके धर्म या स्वभावोंका विचार किया जाता है यह आगमका वचन है, इसलिये चेतनागुण आदि विशेष धर्मोंका आधारभूत विशेष्य लक्षणरूप जीवरूप धर्मीकी सिद्धि होनेपर उन चेतना गुण आदि विशेष धर्मोंका व्याख्यान घट सक्ता है इसीको बतानेके लिये जीवकी सिद्धिपूर्वक अन्यमतोंका निराकरण करते हुए नव अधिकारोंका उपदेश किया गया है इसमें कोई दोष नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने जीव द्रव्यका व्याख्यान करते हुए आगे जिन अधिकारोंको विस्तारसे कहेंगे उनको यहां

गिनाया है । वे अधिकार नौ प्रकार जीवकी विशेपता बतानेके लिये यहां गिनाए हैं । जिस शिष्यको जीवकी पहचान नहीं है वह जीवको द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयसे अच्छी तरह समझ लेवे इसीसे उसका विस्तारसे व्याख्यान करना शुरू किया है । जबतक अपने आत्माको निश्चय तथा व्यवहार नयसे न समझा जावे तबतक अपने आत्माकी उन्नति करनेकी रुचि नहीं पैदा होती है। विना रुचिके उन्नतिका उपाय नहीं किया जासक्ता है।

श्रीनेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्तीने भी द्रव्यसंग्रहमें जीवके नौ अधिकार कहे हैं इनमें और उनमें एक दोका अन्तर है परन्तु वे दोनों ही कथन जीवकी विशेपता दिखानेवाले हैं। कहा है—

जीवो उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥ २ ॥

भावार्थ–जीव वह है जो जीता हो, उपयोगवान हो, अमूर्तीक हो, कर्ता हो, स्वदेहप्रमाण हो, भोक्ता हो, संसारी हो, सिद्ध हो सक्ता हो व स्वभावसे ऊपर जानेवाला हो।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि विभाव भावोंको त्याग कर स्वाभाविक शुद्ध आत्मीक भावोंका ग्रहण ही कार्यकारी है। इस प्रकार अधिकारकी गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका–आगे मोक्षका साधकपना व प्रभुत्व गुणकेद्वारा सर्वज्ञकी सिद्धिके लिये मुक्त आत्माका केवलज्ञानादि रूप उपाधिरहित स्वभाव है ऐसा दिखलाते हैं—

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतिमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२८॥

कर्ममलविप्रमुक्त ऊर्ध्वं लोकस्यांतमधिगम्य ।
स सर्वज्ञानदर्शी लभते सुखमतीन्द्रियमनंतम् ॥ २८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(सो) सो संसारी जीव (कम्म-मलविप्पमुक्को) कर्मोंके मलसे मुक्त होकर (सव्वणाणदरिमी) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता हुआ (उड्ढं) ऊपर जाकर व (लोगस्स अंतम्) लोकाकाशके अंतमें (अधिगंता) प्राप्त होकर (अणिंदियं) इन्द्रिय रहित व (अणंतं) अंत रहित ( सुहम् ) सुखको (लहदि) प्राप्त करता या अनुभव करता रहता है ।

विशेपार्थ-यह जीव ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म व रागद्वेपादि भाव कर्म व शरीरादि नोकर्म इनतीन प्रकार कर्मोंसे विलकुल छूट-कर केवलज्ञान और केवलदर्शनसे सर्वज्ञ और सकलदर्शी होता हुआ अपने ऊर्ध्वगमन स्वभावसे ऊपर जाकर लोकाकाशके अंतमें ठहर जाता है-आगे धर्मास्तिकायके न होनेसे नहीं जाता है। वहां सिद्धक्षेत्रमें तिष्ठा हुआ क्या करता है? उसका समाधान करते हैं कि वह सिद्धात्मा अतीन्द्रिय अनंतस्वाभाविक आनन्दको भोगा करता है। इस सूत्रका अभिप्राय यह है कि पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण नौं अधिकारोंमेंसे कर्मसंयुक्तपनेको छोड़कर शुद्ध जीवपना, शुद्ध चेतनपना, शुद्ध उपयोगपना आदि आठ अधिकार यथासम्भव आगममें विरोध न लाते हुए मुक्तावस्थामें भी जान लेने चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें जीवकी प्रभुता बताई है कि यह जीव अपनेमें ईश्वरपनेकी शक्ति रखता है, परन्तु अनादि कालसे कर्म-बन्ध होनेके कारणसे इसकी प्रभुता दवी हुई है। जब इसको किसी आत्मज्ञानी गुरुसे धर्मोपदेश मिलता है, यह उसे रुचि-

पूर्वक ग्रहण करके मनन करता है और निरन्तर आत्म अनात्मके भेद विज्ञानके विचारसे सम्यग्दर्शनको रोकनेवाले अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्वको उपशमन करके सम्यग्दृष्टी हो जाता है तब मोक्षमार्गपर आरूढ़ हो निरन्तर आत्मानुभवका अभ्यास करता हुआ जितनी२ कषायोंकी मंदता पाता है उतना उतना चारित्रको बढ़ाता हुआ निर्ग्रंथ हो धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानके प्रभावसे चार घातिया कर्म नाशकर केवलज्ञानी हो जाता है फिर चार अघातिओंका भी नाशकर शुद्ध निरंजन निर्विकार हो सर्व कर्ममलसे छूटकर मात्र शुद्ध आत्मारूप हो अंतिम शरीरप्रमाण आकार रखता हुआ सीधा स्वभावसे ऊपर जाकर लोकाकाशके अन्तमें तनुवातवलयके वहां ठहर जाता है। उसके ज्ञान दर्शन स्वभावमें त्रिकालके सर्व पदार्थ एक ही समयमें झलकते रहते हैं। वे सिद्ध परमेष्टी निरंतर वीतरागी रहते हुए व किसी प्रकारकी इच्छा न करते हुए अपने स्वभावमें मग्न रहते हुए अपने स्वाभाविक आनंदका अनंतकाल तकके लिये स्वाद लिया करते हैं। यह सिद्धपना या प्रभुतापना हरएक आत्मामें शक्ति रूपसे है। कर्ममलके जानेसे उसी तरह प्रगट होजाता है जैसे रत्नपना खानसे निकले हुए पाषाणमें शक्ति रूपसे है। शानपर घिसनेसे जब उसका मैलका संयोग निकल जाता है तब वह रत्नपना प्रगट होजाता है। इस कथनसे यह सिद्ध कर दिया है कि यह जीव स्वयं सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा हो जाता है ऐसी उसमें प्रभुत्व शक्ति है। ऊपरकी गाथामें कहे हुए आठों विशेषण यहां विद्यमान हैं जैसे (१) उसमें ईश्वरपना है। (२) शुद्ध चैतन्य प्राणोंसे वह जी रहा

है । (३) उसमें शुद्ध ज्ञानचेतना है । (४) वह शुद्ध ज्ञानदर्शन उपयोगका धारी है । (५) वह अपने शुद्ध भावोंका ही कर्ता है । (६) वह अपने शुद्ध भावोंका ही भोक्ता है । (७) वह अपनी अंतिम देहप्रमाण आकार रखता है । (८) वह अमूर्तीक है । नौमा विशेषण कर्मसहितपना सिद्ध भगवानमें नहीं है । मेरेमें ईश्वरत्व है यही श्रद्धान आत्माके पूर्ण विकाश व प्रकाशका कारण है । वास्तवमें सिद्ध परमात्मा ही ध्याने योग्य हैं । श्री गोमटसार जीवकांडमें सिद्धोंका स्वरूप कहा है:—

अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवसिणो सिद्धा ॥ ६८ ॥

भावार्थ—जो आठ प्रकार कर्मोंसे रहित हैं, सर्व प्रकारकी आकुलतासे रहित होनेसे परमशांत और सुखी हैं, कर्मोंके मैलरूप अंजनसे कभी लिप्त नहीं होते हैं, अविनाशी हैं—कभी सिद्ध अवस्थासे पतन नहीं करते हैं, अनंत ज्ञानादि आठ गुणोंसे भूषित हैं । कृतकृत्य हैं, कोई व्यवहार कार्य करना नहीं है, परम संतुष्ट हैं तथा लोकके अग्रभागमें विराजमान हैं ऐसे सिद्ध भगवान होते हैं । इन सिद्धोंको हमारा वारवार नमस्कार हो ।

उत्थानिका—आगे पहली गाथामें जो सिद्ध भगवानके उपाधि रहित ज्ञानदर्शन सुख बताया है उसीका ही "जादो सयं" इस वचनसे फिर भी समर्थन करते हैं—

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य ।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं ॥ २९ ॥
जातः स्वयं स चेतयिता सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च ।
प्राप्नोति सुखमनंतमव्याबाधं स्वकममूर्त्तम् ॥ २९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(स चेदा) वह आत्मा (सयं) अपने आप ही (सव्वण्हू) सर्वज्ञ (य) और (सव्वलोकदरसी) सर्व लोकालोकका देखनेवाला (जादो) होता हुआ (अणंतं) अंतरहित, (अव्वाबाधं) बाधा रहित ( सगम् ) अपने आत्मासे ही उत्पन्न तथा ( अमुत्तं ) अमूर्तीक ( सुहम् ) सुखको ( पप्पोदि ) पाता है या अनुभव करता है।

विशेषार्थ–यह आत्मा निश्चयनयसे केवलज्ञान, केवलदर्शन व परम सुखमई स्वभावको रखनेवाला होनेपर भी संसारकी अवस्थामें कर्मोंसे अच्छादित होता हुआ क्रमसे जाननेवाले इन्द्रिय ज्ञान रूपी क्षयोपशम ज्ञानसे कुछ कुछ जानता है तथा चक्षु अचक्षु दर्शनसे कुछ कुछ देखता है तथा इंद्रियोंसे उत्पन्न बाधा सहित पराधीन मूर्तीक सुखको ही अनुभव करता है। वही चेतनेवाला आत्मा जब काल आदिकी लब्धिके वशसे स्वयमेव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होजाता है तब अतीन्द्रिय बाधा रहित स्वाधीन अमूर्तीक सुखका ही अनुभव किया करता है। यहां जो यह कहा है कि यह आत्मा स्वयं ही सर्वज्ञ सर्वदर्शी होजाता है, इस वचनसे यह समर्थन किया है कि निश्चयनयसे यह पहिलेसे ही उपाधि रहित है तथा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है।

यहां कोई भट्टचार्वाक मतके अनुसार चलनेवाला कहता है कि सर्वज्ञ कोई नहीं है क्योंकि कोई देखनेमें नहीं आता है जैसे गधेके सींग नहीं देखनेमें आते हैं? इस शंकाका समाधान करते हैं कि तूने कहा कि कहीं सर्वज्ञ दिखलाई नहीं पड़ता है तो यहां इस कालमें नहीं दिखलाई पड़ता है कि तीन जगत, तीन कालमें

कोई सर्वज्ञ नहीं होता है, सो यदि तेरा कहना है कि इस देश या इसकालमें सर्वज्ञ नहीं है तो हमें मान्य ही है और जो तू कहे कि तीन जगत या तीन कालमें कोई सर्वज्ञ नहीं है तो ऐसा तुमने कैसे जाना। यदि तुमने तीन जगत और तीन कालको सर्वज्ञ विना जान लिया है तो तुम ही सर्वज्ञ हो, क्योंकि सर्वज्ञ वही होता है जो कोई तीनों लोकोंको जानता है और यदि तू सर्वज्ञ नहीं है और तू तीन जगत तीन कालको नहीं जानता है तब तू यह कैसे निषेध कर सक्ता है कि तीन जगत व तीन कालमें भी कोई सर्वज्ञ नहीं होता है। इसी पर दृष्टांत कहते हैं जैसे कोई देवदत्त घट विना पृथ्वीतलको आंखोंसे देख कर फिर कहता है कि यहां इस पृथ्वीतलपर घट नहीं है तो उसका कहना ठीक ही है, अन्य कोई अन्धापुरुष विना देखें क्या यह कह सक्ता है कि यहां कहीं भी घट नहीं है अर्थात् वह नहीं कह सक्ता। इसी तरह जो कोई तीन लोक व तीन कालको देखकर प्रत्यक्ष यह जान सके कि सर्वज्ञ नहीं है वही सर्वज्ञका निषेध कर सक्ता है। दूसरा जो सब जानता ही नहीं वह अंधेके समान निषेध नहीं कर सक्ता है, परन्तु जो तीन लोक तीन कालको जानता है वह सर्वज्ञका निषेध किसी तरह नहीं कर सक्ता है, क्योंकि वह स्वयं सर्वज्ञ होगया—उसको तीन लोक तीन कालके विषयका ज्ञान है। आपने यह हेतु कहा कि सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें प्रश्न है कि आपको सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है या तीन जगत व तीन कालके पुरुषोंको भी सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है। यदि आपको सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है तो इससे सर्वज्ञका अभाव नहीं होसक्ता है,

क्योंकि आप तो परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थोंको व दूसरेके चित्तकी बातोंको भी नहीं जानते हैं तो आपके न जाननेसे ये सब नहीं है ऐसा माना जायगा, सो नहीं हो सक्ता है। यदि कहो कि तीन जगत व तीन कालके पुरुषोंको भी सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है तो यह आपने कैसे जाना इसका पहले ही विचार कर चुके हैं। यह दोष आपके हेतुमें आता है तथा जो आपने गधेके सींग समान है ऐसा दृष्टांत रूप वचन कहा सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि गधेमें सींग नहीं है परन्तु सर्व ठिकाने सींग नहीं है ऐसा नहीं है—गौ आदिमें सींग प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है, तैसे ही सर्वज्ञ भी इस देशमें इस कालमें यहां नहीं है किन्तु सर्वत्र नहीं है ऐसा नहीं है। इस तरह संक्षेपसे आपके हेतु तथा दृष्टांतको दोष आता है, ऐसा जानना चाहिये।

फिर शंकाकार कहता है कि सर्वज्ञके अभावमें तो आपने दूषण दिया, परन्तु यह तो बताइये कि सर्वज्ञके सद्भावमें क्या प्रमाण है? यहां प्रमाण कहते हैं—सर्वज्ञ कोई है, क्योंकि जैसा पहले कहा है उसतरह उसके लिये बाधक प्रमाण कोई नहीं है जैसे अपने अनुभवमें आने योग्य सुख दुःख है। अथवा दूसरा अनुमान प्रमाण यह कहा जाता है कि सूक्ष्म पदार्थ, अव्यवहित या नहीं कहे हुए पदार्थ, दूरदेशवर्ती पदार्थ, मृत सार्वीकालके पदार्थ, स्वभाव अगोचर पदार्थ किसी भी पुरुषविशेषके प्रत्यक्ष हैं। यह साध्य धर्म है। उसमें साधक हेतु यह है कि इन पदार्थोंका अनुमान होता है, जो२ पदार्थ अनुमानका विषय होता है वह किसीको प्रत्यक्ष अवश्य दिखाई पड़ता है जैसे अग्नि आदि, क्योंकि ये सब पदार्थ अनुमानके

विषय हैं इसलिये किसीके प्रत्यक्ष अवश्य हैं। इसतरह संक्षेपसे सर्वज्ञकी सत्तामें प्रमाण जानना चाहिये। विस्तारसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक, अकिंचित्कर हेतुओंसे दूषण या समर्थन अन्य सर्वज्ञ सिद्धि करनेवाले ग्रन्थोंमें कहा है वहांसे जानना। यह अध्यात्म ग्रन्थ है इससे विशेष नहीं कहा है। भावार्थ यह है कि यही वीत-राग सर्वज्ञका स्वरूप सर्व रागादि विभावोंको त्यागकर निरंतर ग्रहण करने योग्य तथा भावना करने योग्य है।

भावार्थ–इस गाथामें भी आचार्यने यह दिखला दिया है कि यह संसारी, आत्मा स्वयं ही अपने पुरुषार्थसे सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हो जाता है और तब अमूर्तीक अतीन्द्रिय आनन्दको स्वयं निरंतर अनुभव करता रहता है। यह महिमा या प्रभुता इस आत्मामें है। वास्तवमें यह आत्मा स्वभावसे परमात्मा है, कर्मोंका आवरण हटते ही ज्योंका त्यों प्रगट हो जाता है। जब किसी वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें नहीं आसकते तब कोई किसीको अपना गुण देकर परमात्मा नहीं बना सक्ता है। इसीलिये जैन सिद्धांतने वर्णन किया है कि जबतक अपने आत्माके स्वरूपमें एकाग्रता होकर निर्विकल्प समाधि प्राप्त न हो वहींतक किसी अन्य परमात्माकी भक्ति व पूजा व वन्दना कर्तव्य है, क्योंकि जिस शुक्लध्यानके बलसे पूर्ण कर्म नष्ट होते हैं वह शुद्धोपयोगरूप बिलकुल निर्विकल्प है–वहां पूजक, पूज्य, पूजाका व ध्यान, ध्याता, ध्येयका ही विकल्प नहीं है। मुक्तावस्थामें कोई इच्छा, द्वेष व आकुलता नहीं रहती है। वह अपने ही स्वाभाविक आनन्दका भोग विना किसी बाधाके व अन्तरके किया करते हैं।

श्री पद्मसिंह मुनिकृत ज्ञानसारमें वर्णित है—

जरमरणजम्मरहियं कम्मविहीणो विमुक्कवावारो ।
चउगइगमणागमणो णिरंजणो निरुवमो सिद्धो ॥ ३३ ॥
परमट्ठगुणेहिं जुदो अणंतगुणभायणो णिरालंबो ।
निच्छेओ निब्भेओ अणंदिदो मुणह परमप्पा ॥ ३४ ॥

भावार्थ—सिद्ध भगवान जन्म, जरा, मरणसे रहित हैं, कर्मोंसे छूट गए हैं, सर्व व्यापार व चार गतिमें जानेआनेके प्रपंचसे शून्य हैं, मलरहित निरंजन हैं, उपमारहित हैं, परम आठ गुणसहित हैं, अनंत गुणोंके पात्र हैं, परालम्ब रहित हैं, अच्छेद्य हैं, अभेद्य हैं आनन्दमई हैं, परमात्मा हैं ऐसा जानो।

इस तरह प्रभुताके व्याख्यानकी मुख्यतासे दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे जीवत्त्व गुणका व्याख्यान करते हैं—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥ ३० ॥

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीवष्यति यः खलु जीवितः पूर्वम् ।
स जीवः प्राणाः पुनर्बलमिन्द्रियमायुरुच्छ्वासः ॥ ३० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—( जो ) जो ( हु ) प्रगटपने (चदुहिं) चार (पाणेहिं) प्राणोंसे (जीवदि) जीता है (जीवस्सदि) जीवेगा व (पुव्वं जीविदो) पूर्वमें जीता था ( सो जीवो ) वह जीव है। (पुण) तथा (पाणा) प्राण (बलम्) बल (इंदियं) इन्द्रिय, (आउ) आयु (उस्सासो) श्वासोश्वास हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध चैतन्यादि प्राणोंसे जीता है तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्यरूप चार प्राणोंसे तथा अशुद्ध निश्चयनयसे भावरूप चार प्राणोंसे संसार

अवस्थामें वर्तमानकालमें जी रहा है, भविष्यमें जीवेगा व आगे जी चुका है। वे पूर्वोक्त द्रव्य प्राण तथा भाव प्राण अभेदसे वल, इन्द्रिय, आयु, श्वासोच्छ्वास हैं। यहां यह भावार्थ है कि मन वचन कायको रोक करके व पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे वैराग्य भावके वलसे जो शुद्ध चैतन्य आदि प्राणोंका धारी शुद्ध जीवास्तिकाय है उस हीको उपादेय रूपसे ध्याना चाहिये।

भावार्थ—वास्तवमें निश्चयसे इस आत्माके सुख सत्ता चैतन्य वोध आदि स्वाभाविक प्राण हैं जिनका कभी वियोग नहीं होता है। संसार दशामें ये मलीन रहते हैं व सिद्ध पर्यायमें ये शुद्ध रहते हैं। संसार अवस्थामें शरीरके आधारसे जीव रहता है। विग्रह गतिको छोड़कर जो तीन समयसे अधिक नहीं है यह जीव सदा ही स्थूल शरीरमें रहता है। यह स्थूल शरीर इन्द्रिय, बल, आयु व उच्छ्वासके आधीन जीता हुआ काम करता है इससे इनको द्रव्य प्राण कहते हैं। ये पुद्गलके रचे हैं व पुद्गलमई शरीरके व्यापारके कारण हैं। अशुद्ध आत्मामें जो इन्द्रियोंसे व्यापार करनेकी शक्ति व क्षयोपशम ज्ञान है वे इन्द्रिय भाव प्राण हैं। मन, वचन, कायके वर्तनमें जो आत्माके वीर्य्य तथा उपयोगका वर्तन है वे मन वचन कायरूप भाव प्राण हैं। आयु कर्मके उदयसे आत्माका शरीरमें बने रहना भाव आयु प्राण है तथा आत्माके वीर्य्यसे श्वास लाना सो उच्छ्वास भाव प्राण है।

श्रीगोमटसार जीवकांडमें प्राणोंका स्वरूप नीचे प्रमाण कहा है—

वाहिरपाणेहिं जहा तहेव अब्भंतरेहिं पाणेहिं ।
पाणंति जेहिं जीवा पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा १२९ ॥

इंदियकायाऊणि य पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा।
वीइंदियादिपुण्णे वचोमणोसण्णिपुण्णेव ॥ १३२ ॥
दस सण्णीणं पाणा सेसेऽगूणंतिमस्स वेऊणा।
पज्जत्तेसिदरेसु य सत्तदुगे सेसगेगूणा ॥ १३३ ॥

भावार्थ—जो बाहरी द्रव्य प्राणोंसे जैसे जीते हैं वैसे भीतरके भाव प्राणोंसे जीते हैं वे जीव हैं। वे प्राण आत्माके धर्म कहे गए हैं।

पुद्गलसे रचे हुए द्रव्येन्द्रियादिके व्यापार रूप द्रव्य प्राण हैं, उनके व्यापारके निमित्त कारण ज्ञानावरण व वीर्यान्तरायके क्षयोपशम आदिसे प्रगट चेतनाके व्यापार रूप भाव प्राण हैं। इन्द्रिय, कायबल, आयु ये तीन प्राण पर्याप्त अपर्याप्त दोनोंके होते हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्त जीवोंके ही होता है। द्वेन्द्रियादि पर्याप्तोंके वचन बल होता है। सैनी पर्याप्तोंके ही मन बल होता है। इस तरह पर्याप्त सैनी पंचेन्द्रियके दस प्राण हैं फिर द्वेन्द्रिय तक एक२ घटते हुए असैनी पंचेन्द्रियके नौ, चौइन्द्रियके आठ, तेंद्रियके सात, द्वेन्द्रियके छः प्राण होते हैं। असैनीके मन नहीं होता है। फिर एक एक इन्द्रिय घटती जाती है। अंतिम एकेन्द्रियोंके दो कम हो जायंगे अर्थात् रसनाइन्द्रिय व वचन बल न रहेगा केवल स्पर्श इन्द्रिय, कायबल, आयु, श्वासोश्वास ये चार प्राण रह जायगे।

जो जीव अपर्याप्त हैं उनमें असैनी सैनी पंचेन्द्रियके सात प्राण होंगे। मन, वचन व श्वासको छोड़कर फिर एक एक घटता हुआ चौन्द्रियके छः, तेन्द्रियके पांच, द्वेन्द्रियके चार, एकेन्द्रियके तीन प्राण होंगे अर्थात् स्पर्श इन्द्रिय, काय बल और आयु। जब प्राणोंका वियोग होता है तब ही स्थूल शरीरका वियोग या मरण

होता है। वास्तवमें आत्मा द्रव्य भाव प्राणोंसे रहित अजर अमर अविनाशी है, उसीके वास्तविक स्वरूपका ध्यान ही करने योग्य है।

उत्थानिका—आगे जीवोंमें अगुरुलघुत्त्व, असंख्यात प्रदेशपना, व्यापकत्त्व, अव्यापकत्त्व, मुक्त व संसारीपना बताते हैं—

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे।
देसेहिं असंखादा सिय लोगं सव्वमावण्णा ॥ ३१ ॥
केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा।
विजुदा य तेहिं वहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा ॥ ३२ ॥

अगुरुलघुका अनंतास्तैरनंतैः परिणताः सर्वे।
देशैरसंख्याताः स्याल्लोकं सर्वमापन्नाः ॥ ३१ ॥
केचित्तु अनापन्ना मिथ्यादर्शनकषाययोगयुताः।
वियुताश्च तैर्वहवः सिद्धाः संसारिणो जीवाः ॥ ३२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(अगुरुलहुगा) अगुरुलघु गुण (अणंता) अनंत हैं (तेहिं) तिन (अणंतेहिं) अनंतगुणोंसे (परिणदा) परिणमन करते हुए ( सव्वे ) सर्व जीव (देसेहिं) प्रदेशोंसे (असंखादा) असंख्यात प्रदेशी हैं (सिय) किसी अपेक्षासे (सव्वं) सर्व (लोगं) लोकमें (आवण्णा) व्याप्त होते हैं (केचित्तु) परन्तु कितने ही (अणावण्णा) व्याप्त नहीं होते हैं। (मिच्छादंसणकसायजोगजुदा) मिथ्यादर्शन, कषाय व योग सहित (बहुगा) बहुत ( संसारिणो ) संसारी ( जीवा ) जीव हैं (य) तथा ( तेहिं ) उनसे (वियुताः) रहित (सिद्धाः) सिद्ध हैं।

विशेषार्थ—प्रत्येक अगुरुलघु गुण षट्स्थान पतित हानि वृद्धि रूप अनन्त अविभाग परिच्छेदोंके साथ होते हैं ऐसे

अगुरुलघु गुण अनंत होते हैं, उन पूर्वोक्त अनंत अगुरुलघु गुण सहित परिणमन करते हुए सर्व जीव निश्चयसे लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशधारी अखण्ड होते हैं। इनमेंसे कुछ जीव अर्थात् कुछ केवली केवलसमुद्घातके समय लोकपूरण अवस्थाकी अपेक्षा लोकमें व्याप जाते हैं अथवा दूसरा अर्थ यह है कि सूक्ष्म स्थावर एकेन्द्रिय जीव लोकमें सर्वव्यापी हैं-सर्व ठिकाने भरे हैं। इस अपेक्षा कुछ जीव लोक व्यापी हैं तथा अन्य जो केवली लोकपूरण अवस्था रहित हैं वे अथवा वादर एकेन्द्रिय तथा विकलत्रय व पंचेन्द्रियादि जीव सर्व अन्यापक हैं अर्थात् कहीं हैं, कहीं नहीं हैं-लोकके सर्व स्थानोंमें नहीं हैं। इन सब जीवोंमें जो जीव रागादि रहित परमानंद मई एक स्वभावरूप शुद्ध जीवास्तिकायकी अवस्थासे विलक्षण मिथ्यादर्शन, कषाय तथा योगोंसे यथासंभव संयुक्त हैं ऐसे अनंतजीव संसारी हैं तथा जो इन मिथ्यादर्शन कषाय व योगोंसे रहित हैं ऐसे अनंत जीव सिद्ध हैं।

यहां यह तात्पर्य है कि जीवनकी आशाको आदि लेकर सर्व प्रकार रागादि विकल्प त्याग करके सिद्ध जीवके समान यह मेरा आत्मा जो परमानंद रूप सुख रसके आस्वादमें परिणमन करता हुआ शुद्ध जीवास्तिकाय है सो ही ग्रहण करने योग्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि अन्य द्रव्योंके समान जीवोंमें भी अगुरुलघुगुण है जिसका काम हरएक द्रव्यको अपनी २ मर्यादामें स्थित रखना है यह साधारण गुण है इसके अनंत अविभाग प्रतिच्छेदोंमें या गुणके अंशोंमें समुद्रमें जलकी कल्लोलोंके समान हानि वृद्धि हुआ करती है जिसका ज्ञान हमको

आगम प्रमाणसे करना चाहिये-यही स्वाभाविक परिमणन सर्व द्रव्योंमें हर समय हुआ करता है-इसी परिणमनसे सिद्धोंमें भी उत्पाद और व्यय रहा करता है। हरएक जीव प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी है इससे यह बताया कि जीव चैतन्यमई आकारको रखनेवाला है तथा संसार अवस्थामें सर्व ही जीव संकोच विस्तार गुणके द्वारा नाम कर्मके उदयसे छोटे बड़े शरीरके आकारके समान रहा करते हैं। मात्र समुद्घातके समय शरीरमें रहते हुए भी फैलते हैं और फिर संकोच रूप होजाते हैं। वेदना कषायादि सात समुद्घातमें केवलि समुद्घात भी है जब केवली भगवानकी आयु कम होती है और नाम, गोत्र व वेदनीयकी स्थिति अधिक होती है तब उनको बराबर करनेके लिये केवलीकी आत्मा दंड कपाट प्रतर और लोकपूर्ण चार समयोंमें होती है इसी तरह चार समयोंमें फिर शरीरप्रमाण रह जाती है, इसी समुद्घातमें ही जीव लोकपूर्ण होता है, अन्य अवस्थामें नहीं। ये सब जीव अनंतानंत हैं, उनमें सूक्ष्म एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिकादि तीन लोकभरमें व्याप्त हैं, बादर एकेन्द्रिय कहीं २ हैं, त्रस जीव त्रस नाड़ीमें ही कहीं २ हैं। इन जीवोंमेंसे अनंतानंत जीव संसारमें ही भ्रमण कर रहे हैं क्योंकि उनकें अपने स्वरूपकी पहचान नहीं हुई है। मिथ्यादर्शनके कारण वे संसारकी पर्यायको ही अपना असली स्वरूप मान लेते हैं इस तरह उसी देहमें मगन रहकर इंद्रियोंकी चाहकी दाहमें उलझे हुए क्रोध मान माया लोभ करते हुए अपने मन वचन या कायसे वर्तते हुए नवीन कर्म बांधते हुए और उनका फल भोगते हुए संसारके चक्रमें सांसारिक

दुःख सुख उठाया करते हैं-जो जीव किसी कारणसे इन दोषोंसे मुक्त होजाते हैं उनहीको सिद्ध भगवान कहते हैं। ऐसे भी अनंत जीव तीन लोकके ऊपर तनुवातवलयमें विराजमान हैं। यहां यह भी बतला दिया है कि अनंतानंत जीव अपनी अपनी सत्तासे भिन्न२ हैं और वे हरएक पर्यायमें भिन्न २ ही रहते हैं। सिद्ध पर्यायमें भी वे किसीमें मिलकर अपनी सत्ता नहीं खो बैठते हैं किन्तु भिन्न २ ही अपने २ स्वतंत्र स्वाभाविक आनन्दमें विलास करते रहते हैं। श्लोकवार्तिकमें कहा है-

लक्ष्याः संसारिणो जीवा मुक्ताश्च बहवोऽन्यथा।
तदेकत्वप्रवादः स्यात्स च दृष्टेष्टवाधितः॥ १॥

भावार्थ-संसारी तथा सिद्ध जीव बहुत जानने चाहिये वे एक ही हैं व एकमें मिल जाते हैं, यह सब कहना प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित है। यहीं आत्माके प्रदेशोंके संकोच विस्तार होनेकी अपेक्षा कथन है।

अमूर्तस्वभावस्याप्यात्मनोऽनादिसंबंधं प्रत्येकत्वात् कथंचिन्मूर्ततां बिभ्रतो लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यापि कार्मणशरीरवशादुपात्तं सूक्ष्मशरीरम् अधितिष्ठतः शुष्कचर्मवत् संकोचनं प्रदेशानां संहारस्तस्यैव बादरशरीरं अधितिष्ठतो जले तैलवत् विसर्पणं विसर्पः॥"

अर्थात्-आत्मा यद्यपि अमूर्त स्वभाव है तथापि इस आत्माके अनादिसे कर्मबंधके साथ एकपना होनेसे किसी अपेक्षासे यह मूर्तमानपनेको धारण करता है तब कार्मण शरीरके वशसे जब सूक्ष्म शरीरमें जाता है तब सूखे चर्मके समान आत्माके प्रदेशोंका संकोच होजाता है। जब वही जीव बादर शरीरमें जाता है तब जलमें तेलके

फैलनेके समान फैल जाता है। जब जीव मुक्त होजाता है तब इसके प्रदेश फैलते नहीं हैं, कारण यही है कि कर्मोंका सम्बन्ध ही न रहा। जिनके उदयसे संकोच विस्तार हो इससे वे अंतके देहमें जिस रूपमें व जिस आकारमें प्रदेश थे उसी आकारमें सिद्ध अवस्थामें रहते हैं।

राजवार्तिकमें कहा है "येन शरीरेण मुक्तिमवाप्तवान् जीवस्तत्प्रमाणमेव देशोनम् अवलम्ब्य अवतिष्ठति न ततो वृद्धिर्नापि हानिः पुनः प्रदेशसंहारविसर्पकारणाभावात् ॥"

भावार्थ–जिस शरीरसे जीव मुक्त होता है उस शरीरके प्रमाण ही कुछ कम आकारको धारता हुआ रहता है–उस आकारसे न बढ़ता है, न घटता है क्योंकि प्रदेशोंके संकोच या विस्तारके कारण जो कर्म थे उनका यहां अभाव होगया है। नख केशादि शरीरमें रहते हुए भी उनमें आत्माके प्रदेश व्यापक नहीं हैं इससे इसी अपेक्षासे मुक्त जीवके प्रदेश शरीरप्रमाणसे कुछ कम कहलाते हैं। इस कथनका भाव यह है कि हमको सिद्धावस्थाकी उत्कंठा करके मिथ्यात्वादि विभावोंको हटाकर रत्नत्रयमई एक आत्मस्वभावमें रत रहना योग्य है। इस तरह पूर्वोक्त "वच्छक्खरं" इत्यादि नव दृष्टांतोंसे चार्वाक मतके अनुसार शिष्यके संबोधनके लिये जीवसिद्धिकी मुख्यतासे तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे जीव शरीर मात्र आकार रखता है इस विषयमें दृष्टांत कहेंगे, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर आगेका सूत्र कहते हैं। इसी तरह आगे भी कहनेवाले सूत्रका अर्थ मनमें धरके या इस सूत्रके आगे यह सूत्र कहना उचित है ऐसा निश्चय करके

आगेका सूत्र कहते हैं । यह पातनिकाका लक्षण यथासंभव सर्व ठिकाने जानना योग्य है ।

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं ।
तह देही देहत्थो सदेहमत्तं पभासयदि ॥ ३३ ॥

**यथा पद्मरागरत्नं क्षिप्तं क्षीरे प्रभासयति क्षीरं ।**
**तथा देही देहस्थः स्वदेहमात्रं प्रभासयति ॥ ३३ ॥**

अन्वयसहित सामान्यार्थ-( जह ) जैसे ( पउमरायरयणं ) पद्मरागमणि ( खीरे ) दूधमें ( खित्तं ) डाली गई (खीरं) दूधको ( पभासयदि ) प्रकाश करती है ( तह ) तैसे ( देही ) संसारी जीव ( देहत्थो ) शरीरमें तिष्टा हुआ ( सदेहमत्तं ) अपने शरीर मात्रको ( पभासयदि ) प्रकाश करता है ।

विशेषार्थः-यहां पद्मराग शब्दसे पद्मरागरत्नकी प्रभा लेना चाहिये, न कि रत्न। जैसे पद्मरागकी प्रभाका समूह दूधमें डाला हुआ उस दूध भात्रमें फैल जाता है तैसे जीव भी वर्तमानकालीन अपनी देहमें रहता हुआ उस देहको व्याप लेता है । अथवा जैसे विशेष अग्निके संयोगसे दूधके औट कर बढ़ते हुए पद्मरागकी प्रभाका समूह बढ़ता है तथा दूधके घटते हुए घटता है तैसे विशेष भोजनके कारणसे देहके बढ़ने पर जीवके प्रदेश फैलते हैं तथा शरीरके घटने पर फिर सकुड़ जाते हैं अथवा वही प्रभाका समूह दूसरे स्थानमें जहां बहुत दूध है उसमें डाला जावे तो उस बहुत दूधमें फैल जावेगा, तथा थोड़े दूधमें डाला जावे तो उस थोड़े दूधमें फैलेगा तैसे यह जीव भी तीन जगतकी तीन काल सम्बन्धी सर्व द्रव्योंकी गुण व पर्यायोंको एक समयमें प्रकाशनेको समर्थ ऐसे

शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी चैतन्यके चमत्कार मात्र शुद्ध जीवास्तिकायसे विलक्षण मिथ्यात्त्व व रागद्वेषादि विकल्पोंमें परिणमन करके जो शरीरनामा नामकर्म बांधता है उसके उदयसे विस्तार या संकोचपनेको करता हुआ कभी सबसे बड़ी अवगाहनाको प्राप्त होकर एक हजार योजनप्रमाण महामत्स्यके शरीरमें फैल जाता है तथा जघन्य अवगाहनामें परिणमता हुआ उत्सेध घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद शरीरमें उस शरीरप्रमाण हो जाता है, मध्यम अवगाहनामें परिणमता हुआ इन दोनों जघन्य उत्कृष्ट अवगाहनाओंसे मध्यम अवगाहनावाले शरीरोंमें उनके प्रमाण फैल जाता है।

यहां मिथ्यात्त्व शब्दसे दर्शन मोह व रागादि शब्दसे चारित्र मोह लेना व ऐसा ही सर्वत्र लेना योग्य है ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि यह जीव संसारावस्थामें शरीर नामा नामकर्मके उदयसे जैसा छोटा या बड़ा शरीर बनाता जाता है वैसे ही शरीराकार यह जीव फैलता है या सकुड़ जाता है। जब नामकर्मका उदय नहीं रहता है तब न फैलता है, न सकुड़ता है—अंतिम शरीरमें जैसा था वैसा ही शरीर छूटनेपर सिद्ध अवस्थामें बना रहता है। आचार्यने लाल मणिकी प्रभाका दृष्टांत दिया है। जैसे कहीं दूध रक्खा हो उसमें लाल रत्नकी प्रभा डाली जाय तो वह प्रभा उस सर्व दूधमें फैल जावेगी, उसीको औटने रख दें और वही प्रभा डालते रहें तब जब वह दूध उबाल लेते हुए बढ़ेगा तब प्रभा भी बढ़ती जायगी तथा जब वह घटेगा प्रभा भी घट जायगी। ऐसे ही एक ही शरीरमें रहते हुए जब शरीर बढ़ता है तब

जीवका आकार फैल जाता है, जब वह घटता है तब वह जीवका आकार सकुड़ जाता है अथवा वही प्रभा किसी बड़े वर्तनमें भरे दूधपर डाली जावे तो वह उस सारे दूधको व्याप लेगी, वही प्रभा यदि छोटे वर्तनमें भरे दूधपर डाली जावे तो वह उस छोटे वर्तन मात्र दूधमें फैल जावेगी। ऐसे ही यह जीव नामकर्मके उदयसे बड़े शरीरमें बड़े आकारवाला व छोटे शरीरमें छोटे आकारवाला हो जाता है। शरीरधारी जीव सदा शरीरप्रमाण ही आकार रखता है। मात्र समुद्घातके समय कर्मोंके विशेष उदयसे शरीरप्रमाणसे बाहर फैलता है और फिर उसी शरीरप्रमाण हो जाता है। जीवकी जघन्य या उत्कृष्ट अवगाहनामें गोमटसारमें यह कथन है—

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।
अंगुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥ ६४ ॥

भावार्थ—जो सूक्ष्म निगोदिया जीव विना मोडे लिये ऋजुगतिसे उत्पन्न हो उसके तीसरे समयमें घनांगुलके असंख्यातवें भाग जघन्य अवगाहना होती है, क्योंकि जब ऐसा निगोदिया जीव पैदा होता है तब पहले समयमें चौकोर होता है जिसमें लम्बाई अधिक व चौड़ाई थोड़ी होती है, दूसरे समयमें लम्बा चौड़ा समान चौकोर होजाता है, तीसरे समयमें कोने दूर कर गोल होजाता है यही सर्वसे कम अवगाहना है। उत्कृष्ट अवगाहना स्वयंभूरमण अंतिम समुद्रमें पैदा होनेवाले महामत्स्यके शरीरके प्रमाण एक हजार योजन लम्बी होती है।

उत्थानिका—आगे जैसे वर्तमान शरीरमें जीव रहता है वैसे वही जीव इसके पूर्वके शरीरोंमें था व भविष्यके शरीरोंमें रहेगा—

संतान रूपसे वही जीव चला जावेगा। इस तरह जीवका अस्तित्व, उसका देहसे जुदा होना तथा अन्यभवमें जानेका कारण कहते हैं–

सव्वत्थ अत्थि जीवो ण य एक्को एक्ककाय एक्कट्ठो।
अज्झवसाणविसिट्ठो चिट्ठदि मलिणो रजमलेहिं ॥३४॥

सर्वत्रास्ति जीवो न चैक एककाये ऐक्यस्थः ।
अध्यवसानविशिष्टश्चेष्टते मलिनो रजोमलैः ॥ ३४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जीवो) यह जीव ( सव्वत्थ ) सर्वत्र अपनी सर्व भूत भावी वर्तमान पर्यायोंमें (अत्थि) अस्ति रूप वही है (एक्काय) एक किसी शरीरमें ( एक्कट्ठो ) एकमेक होकर रहता है (य) तथापि (एक्को ण) उससे एकमेक उससा नहीं होजाता है। ( अज्झवसाणविसिट्ठो ) रागादि अध्यवसान सहित जीव (रजमलेहिं) कर्म रूपी रजके मैलके कारण (मलिणो) मलीन, अशुद्ध होता हुआ (चिट्ठदि) संसारमें भ्रमण करता है।

विशेषार्थ–यह जीव चार्वाक मतकी तरह नया नया नहीं पैदा होता है किंतु जो जीव इस वर्तमान शरीरमें है वही जीव पूर्व या उत्तर जन्मों या पर्यायोंमें बना रहता है। यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे जीव शरीरके साथ दूध पानीकी तरह एकमेकसा होजाता है तथापि निश्चयनयसे देहके साथ एकरूप तन्मई व देहसरीखा नहीं बन जाता है–स्वभावसे भिन्न ही रहता है। यह शरीरभरमें व्यापता है, उसके एक भागमें नहीं रहता है। अथवा यह अर्थ है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा लोकमें सब ठिकाने जीवोंके समूह हैं वे जीव यद्यपि केवलज्ञानादि गुणोंकी समानतासे बराबर हैं इससे उनमें एकता है तथापि अपने २

भिन्न २ लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशोंको रखते हुए अलग २ हैं। जैसे सोले वाणीके शुद्ध सुवर्णकी डलियोंको भिन्न २ रंगके वस्त्रोंमें बांधकर रक्खें तो वे सर्व सुवर्ण एक भावके हैं, समान हैं तथापि हरएक डलीकी सत्ता अपने २ वस्त्रमें अलग २ है ऐसे ये जीव जानने। यद्यपि शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव केवलज्ञान और केवल दर्शन स्वभावका धारी है तथापि अनादि कर्मबंधके वशसे रागद्वेषादि अध्यवसान रूप भावकर्मोंसे तथा उनसे उत्पन्न ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मके मलोंसे घिरा हुआ अन्य शरीर ग्रहण करनेके लिये एक भवसे दूसरे भवमें जाता रहता है। यहां यह अभिप्राय है कि जो कोई देहसे भिन्न अनंतज्ञानादि गुणधारी शुद्धात्मा कहा गया है वही शुभ व अशुभ संकल्प विकल्पोंके त्यागके समयमें सर्व तरहसे उपादेय है अर्थात् ध्यान करने योग्य है।

भावार्थ—यह जीव यद्यपि भिन्न २ शरीरमें जाता रहता है तथापि कभी अपनी सत्ताको नहीं खोता है। यह बात पहले बता चुके हैं कि विद्यमान मूल पदार्थका कभी नाश नहीं होता है तथा जिस शरीरमें जाता है उस शरीरके प्रमाण छोटा या बड़ा होता हुआ उस कायमें ऐसा मिल जाता है जैसे दूध और पानी मिल जाते हैं तौभी कभी शरीरके स्वभावरूप नहीं हो जाता—अपनी सत्ता व अपना स्वभाव कभी नहीं त्यागता। तथा यह संसारमें भ्रमण इसी लिये करता है कि यह राग, द्वेष, मोहरूप अशुद्ध भावोंके निमित्तसे निरंतर कर्म बंध किया करता है व उनही कर्मोंके उदयसे भिन्न २ अवस्थाओंको धारण किया करता है।

वृत्तिकारने गाथाका यह भी अर्थ किया है कि यह सर्व लोक

सूक्ष्म एकेन्द्रियोंसे भरा है तथा इसमें बादर एकेन्द्रियादि भी हैं तौभी सर्व जीव अपनी सत्ता भिन्न २ ही रखते हैं। यद्यपि निश्चय नयसे सर्व जीव शुद्ध स्वरूप हैं, बराबर हैं तथापि कर्मोंके आवरणकी अपेक्षा व सत्ताकी अपेक्षा सब भिन्न २ हैं। इस कथनसे यह बताया है कि जिस निमित्त यह नाना जन्मोंमें भ्रमण कर कष्ट सहता है व पराधीन रहकर स्वाधीनता नहीं पाता है उस रागद्वेष मोहको जिस तरह बने दूर करना चाहिये। वीतराग विज्ञानमई भावोंमें रमण करनेसे अवश्य यह जीव शनैः शनैः शुद्ध होता हुआ एक दिन सिद्ध परमात्मा हो जाता है। कर्मोंकी संगतिमें जीव कभी सुखी व स्वाधीन नहीं रह सक्ता है।

पंचाध्यायीकार कहते हैं—

व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद् ध्रुवम् ।
वह्नियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोपलब्धितः ॥ २४९ ॥
न हि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात्सुखावहः ।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥ २५० ॥

भावार्थ—यह जीव अपने सर्व प्रदेशोंमें कर्मोंके उदयसे नियमसे इसी तरह व्याकुल रहता है जैसे अग्निके संयोगसे जल गर्म होकर खलबल करता है। कोई भी कर्मोंका उदय ऐसा नहीं है जो इस जीवको सुखदाई हो, क्योंकि सर्व ही कर्मोंका स्वभाव जीवके स्वभावसे भिन्न है, अतएव कर्मरहित अवस्था ही ग्रहण करने योग्य है।

इस तरह मीमांसक, नैयायिक व सांख्यमतानुसारी शिष्यके संशय विनाश करनेके लिये " वेयणकसायवेगुव्वियो य मारणंतियो समुग्घादो, तेजो हारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु " इस गाथामें

कहे प्रमाण वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणांतिक, तैजस, आहारक तथा केवल इन सात समुद्घातोंको छोड़कर यह जीव अपनी देहके प्रमाण आकार रखता है, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे दो गाथाएं कहीं ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शुद्ध जीवपना सिद्धोंके होता है। वे सिद्ध पूर्वके या अंतके शरीरप्रमाण मात्र आकाशमें व्यापी होते हैं इसलिये व्यवहारसे या भूतपूर्व न्यायसे किंचित् कम अंतिम शरीरके प्रमाण हैं।

जेसिं जीवसहाओ णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स ।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥ ३५ ॥

**येषां जीवस्वभावो नास्त्यभावश्च सर्वथा तस्य ।**
**ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धा वाग्गोचरमतीताः ॥ ३५ ॥**

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जेसिं) जिन सिद्धोंमें (जीवसहाओ) संसारी जीवका अशुद्ध स्वभाव (णत्थि) नहीं रहता है (य) किन्तु (तस्स) उस जीवका (सव्वहा) सर्वथा (अभावो-णत्थि) अभाव भी नहीं है (ते) वे (भिण्णदेहा) सर्व देहोंसे जुदे (वचिगोयरमदीदा) वचनोंसे अगोचर ऐसे (सिद्धा) सिद्ध भगवान (होंति) होते हैं।

विशेषार्थ—कर्मोंके उदयसे उत्पन्न जो शरीरधारी आत्मामें इंद्रियादि द्रव्य तथा भाव प्राण थे उन प्राणोंका सिद्धोंमें अभाव होजाता है। यहां शिष्य शंका करता है कि जब द्रव्य तथा भाव-प्राण ही न रहे तब क्या बौद्धमतकी तरह सर्वथा जीवका अभाव हो जायगा? इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि जीवके असली स्वभा-

वका नाश नहीं होगा वहां शुद्ध सत्ता, चैतन्य ज्ञानादि रूप शुद्ध भाव प्राण सदा रहते हैं। वे सिद्ध भगवान शरीर रहित ऐसे शुद्धात्मासे विपरीत जो शरीरकी उत्पत्तिके कारण मन वचन काय योग हैं तथा क्रोधादि कषाय हैं उनसे शून्य होनेके कारण शरीर रहित अशरीर हैं, वे सिद्ध भगवान सांसारिक द्रव्य तथा भाव प्राणोंसे रहित होनेपर भी अपने स्वभावमें प्रकाशमान रहते हैं। इसलिये हम अल्पज्ञानियोंके वचनोंसे उनकी महिमाका स्वभाव कहा नहीं जा सक्ता है वे सम्यक्त्व आदि आठ गुणों व इन हीमें अंतर्भूत अनंतगुणोंके धारी हैं इसलिये भी उनका वर्णन नहीं हो सक्ता है। यहां यह भावार्थ है कि सौगत अर्थात् बौद्धमती जैसे पर्यायकी अपेक्षा पदार्थोंका क्षणिकपना देखकर उसकी अति-व्याप्ति मानकर द्रव्यरूपसे भी पदार्थोंका क्षणिकपना मान लेता है वैसे इन्द्रियादि दश प्राणोंके धारी अशुद्ध जीवपनेका अभाव देख-कर मोक्षकी अवस्थामें केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित शुद्ध जीवका भी अभाव मान लेता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि यह जीव सदा अविनाशी है—इसका कभी मूलसे नाश नहीं होता है। यह अवश्य है कि सिद्ध अवस्थामें जब यह प्राप्त होता है तब इसके संसार अवस्थाका नाश हो जाता है—जो इंद्रिय, बल, आयु, श्वासो-च्छ्वास रूप द्रव्य या भाव प्राण कर्मोंके क्षयोपशम या उदयसे थे व जो शरीरमें बने रहनेकी अपेक्षा जीवपनेके साधक थे वे प्राण सिद्ध पर्यायमें नहीं रहते हैं किन्तु शुद्ध सत्ता, चैतन्य, बोध, सुख आदि स्वाभाविक निश्चय प्राण सदा बने रहते हैं। सिद्धोंके कार्मण,

तैजस, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये पांचों ही शरीर नहीं होते हैं वे पूर्णपने शुद्ध प्रदेशोंके धारी मात्र शुद्ध जीव रूप रह जाते हैं। उनमें जो अनंतगुण विकाश पा जाते हैं उनका अनुभव हम अल्पज्ञानियोंकी बुद्धिसे बाहर है तब वर्णन भी कैसे किया जासके। सिद्धोंका महात्म्य अचिन्त्य है। उनकी महिमाका कुछ भान उनही जीवोंको होसक्ता है जो रागद्वेषादि सर्व संकल्प विकल्प त्यागकर भेद ज्ञानके प्रतापसे शुद्ध आत्माके अनुभवमें तल्लीन होजाते हैं। पूर्ण माहात्म्यका ज्ञान केवल अरहंत सर्वज्ञ केवली महाराजोंको ही [illegible] है। वे सिद्ध भगवान सदा स्वाधीन आनंदका भोग करते हुए अपने अनंतज्ञानादि गुणोंमें प्रकाशमान रहते हैं।

श्री नागसेनमुनिने तत्वानुशासनमें सिद्धोंकी महिमा इस भांति कही है—

स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः ।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकं ॥ २३४ ॥
तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः ।
यथा मणिस्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ॥ २३६ ॥
न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थः प्रतिक्षणं ॥ २३७ ॥
त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥ २३८ ॥
अनंतज्ञानदृग्वीर्य वैतृष्ण्यमयमव्ययं ।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातींद्रियमच्युतः ॥ २३९ ॥

भावार्थ—कर्मोंके नाश हो जानेपर सिद्धात्मा अपने स्वरूपमें ठहर जाते हैं। वहां न जीवपनेका अभाव होता है न जड़पना आता है और न निरर्थक चेतनापना रहता है अर्थात् अपने चेतना गुणसे

निरन्तर अपने स्वाभाविक आनन्दका विलास लिया करते हैं। सर्व कर्मोंके क्षय होनेपर आत्मा अपने स्वरूपमें उस ही तरह ठहर जाता है जैसे रत्न अपनेमें लगे हुए मैलको, मैलको दूर करनेवाले कारणोंके द्वारा हटाकर शुद्ध अवस्थामें चमकता हुआ रह जाता है। सिद्ध परमात्मा न किसीसे मोह करते हैं, न उनमें कोई संशय होता है, न पदार्थोंके ज्ञानमें अध्यवसान अर्थात् न निर्णय करनेवाला अज्ञान रहता है, न वे किसीसे राग करते हैं, न द्वेष करते हैं, वे हर समय अपने आत्मामें ही विराजमान आत्मस्थ रहते हैं। उस अवस्थामें वे प्रभु तीन काल सम्बन्धी सर्व जाननेयोग्य पदार्थोंको तथा अपने आपको जैसाका तैसा जानते देखते हैं तौ भी उन सर्वसे परम उदासीन या वीतरागी रहते हैं। ऐसे सिद्ध भगवान अपने स्वभावसे कभी भी नहीं गिरते हुए अनंतज्ञान दर्शन वीर्यमई तथा तृष्णासे शून्य, इंद्रियोंसे अतीत अतीन्द्रिय और अविनाशी आनन्दका अनुभव करते रहते हैं।

उत्थानिका–आगे सिद्ध भगवानके कर्म और नो कर्मकी अपेक्षा कार्य और कारणभावका अभाव दिखलाते हैं—

**ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो।**
**उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि॥३६॥**

**नकु तश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात् कार्यं न तेन सः सिद्धः।**
**उत्पादयति न किंचिदपि कारणमपि तेन न स भवति॥३६॥**

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(जम्हा) क्योंकि (कुदोचि वि) किसीसे भी (उप्पण्णो ण) उत्पन्न नहीं हुए हैं (तेण) इस कारणसे (सो सिद्धो) वह सिद्ध भगवान (कज्जं ण) कार्य्य नहीं हैं। तथा

(किंचि वि) किसीको भी (ण उप्पादेदि) नहीं उत्पन्न करते हैं (तेण) इस कारणसे (स) वह सिद्ध भगवान ( कारणमवि ) कारण भी (ण होदि) नहीं होते हैं।

विशेषार्थ—जैसे संसारी जीव कर्मोंके उदयसे नरनारकादि रूपसे उत्पन्न होते रहते हैं वैसे सिद्ध भगवान कर्मोंके उदयसे व नोकर्म रूपसे नहीं उत्पन्न होते हैं इसलिये वे किसीके कार्य नहीं हैं न वे भगवान स्वयं किसी कर्मबन्धको उपजाते हैं न नोकर्मरूपी शरीर पैदा करते हैं। इसलिये वह सिद्ध भगवान कर्म और नो कर्मकी अपेक्षासे कारण भी नहीं है। इस गाथा सूत्रमें जो कोई शुद्ध निश्चयनयसे कर्म और नोकर्मकी अपेक्षासे न कार्य है न कारण है वह ही अनंतज्ञानादि सहित है, उसीको ही कर्मोंके उदयसे उत्पन्न व नवीन कर्मोंके ग्रहणमें कारण ऐसे मन वचन कायके व्यापारोंसे निवृत्त होकर साक्षात् ग्रहण करना योग्य है।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि सिद्ध अवस्था स्वाभाविक जीवका स्वरूप है। वह किसी कर्मके उदयसे पैदा नहीं है जिससे यह समझा जावे कि वह किसी कर्मके उदयका फल है अतएव कर्मोंके क्षय होनेपर वह अवस्था भी क्षय हो जायगी। जैसे संसारी जीवकी मनुष्य या देव या नारकी या तिर्यंचकी अवस्था आयुकर्म, गतिनामकर्म आदिके उदयके कार्य्य हैं। जबतक आयुकर्मका उदय रहेगा तब ही तक यह चारगति रूप अवस्था बनी रह सक्ती है। आयुकर्मके क्षय होते ही नष्ट हो जायगी। इस तरह किसी कर्मके उदयसे सिद्ध अवस्था नहीं हुई है अतएव वह किसीका कार्य नहीं हैं। जैसे संसारी जीव रागद्वेष मोहसे वासित होकर मन

बचन कायके योगोंसे व्यापार करते हुए शुभ व अशुभ कर्मोका संचय करते हैं, अतएव वे कर्मोके कारण हो जाते हैं वैसे सिद्ध परमात्मा राग द्वेष मोह व योगोंके हलन चलनसे रहित होते हुए न किसी कर्म वर्गणाको बांधते हैं न कभी उस बंधका फल सुख दुःख या संसारमें भ्रमण पा सक्ते हैं। वे न परपदार्थसे उपजे हैं न पर पदार्थोंको उपजाते हैं। वे परम वीतराग अपने शुद्ध स्वभावमें नित्य मग्न हैं, क्योंकि वे कारण व कार्यरूप नहीं हैं इसीसे वे सदा अविनाशी हैं। उनकी सिद्ध अवस्था कभी छूट नहीं सक्ती है। जो पर्याय दूसरेके निमित्तसे होती है वह निमित्त हटने पर छूट जाती है। परन्तु स्वाभाविक अवस्थापर निमित्तसे नहीं है इसलिये वह सदा बनी रहती है। जैसे स्फटिक मणिमें जबतक लाल पीला डांक लगा रहेगा तब ही तक उसकी आभाका परिणमन लाल पीला होगा। जब उस डांकको निकाल लिया जावे तब स्फटिककी आभा अपने सफेद स्वभावमें सदा चमकती रहेगी—वह सफेद स्वभाव विना निमित्तके कभी अन्य रूप नहीं हो सक्ता है। सिद्ध भगवानकी आत्मा जब संसार अवस्थामें थी तब कर्मोके उदयके निमित्तसे जो कोई अवस्था होती थी वह उस कर्मके चले जानेसे नष्ट हो जाती थी अब सिद्धमें कोई भी कर्मोंका बंध रहा नहीं न कर्मोंके आश्रव व बंधके कारण योग और कषाय हैं अतएव सिद्ध भगवान किसीके कार्य नहीं हैं। यदि उनमें भी राग द्वेष मोह होते तो वह कर्मोंको बांधते इसलिये कारण भी हो जाते, परन्तु उनके मोहनीय कर्मका क्षय हो गया है अतएव उनके राग द्वेष मोह नहीं हो सक्ता। इसलिये वे कुछ भी कर्म व नोकर्म न पैदा करते हुए किसीके कारण भी नहीं हैं।

इससे यह बताया कि मोक्षसे कोई जीव फिर संसार अवस्थामें नहीं आसक्ता अतएव जो ऐसा मानते हैं कि शुद्ध परमात्मा अवतार लेता है, व इस सृष्टिकी रचनाका कारण है इत्यादि वह सब कथन इस गाथासे निषेध किया गया। सिद्ध भगवान किसी परअवस्थाके न निमित्त कारण हैं न उपादान कारण हैं। उनमें कोई राग, द्वेष, मोह नहीं है, न कोई इच्छा है, न उनमें कोई संकल्प विकल्प हो सक्ते हैं—वे निरंतर अपने ही स्वभावमें रत रहते हुए अपनी ही शुद्ध स्वाभाविक परिणतिके कारण और कार्य होते हुए स्वात्मीक आनन्दका स्वाद लिया करते हैं।

सिद्ध परमात्मा न किसीको सुख देते हैं न दुःख देते हैं। तथापि जो उनकी भक्ति करते हैं वे स्वयं अपने भाव निर्मल करके पुण्य बांधके सुखी हो जाते हैं। सिद्धोंका स्वरूप श्री विद्यानंदि स्वामीने पात्रकेसरी स्तोत्रमें इस भांति कहा है:—

ददास्यनुपमं सुखं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि।
क्षिपस्य कुपितोपि च ध्रुवमसूयकान्दुर्गतौ॥
न चेश! परमेष्ठिता तव विरुद्ध्यते यद्भवान्।
न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम्॥ ८॥
परिक्षपितकर्मणस्तव न जातु रागादयो।
न चेन्द्रियविवृत्तयो न च मनस्कृता व्यावृतिः॥
तथापि सकलं जगद्युगपदंजसा वेत्सि च।
प्रपश्यसि च केवलाभ्युदितदिव्यचक्षुषा॥ ९॥

भावार्थ—हे भगवान्! आप स्तुति करनेवालोंपर प्रसन्न न होते हुए भी उनको अनुपम सुख प्रदान करते हो तथा जो आपके गुणोंकी निन्दा करते हैं उनपर विना क्रोध किये हुए ही उनको

दुर्गतिमें फेंक देते हो तौभी आपके परमेष्ठीपनमें कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि आप न क्रोध करते हो, न प्रसन्न होते हो। आपने हो वीतराग स्वभावका ही आश्रय किया है, क्योंकि आपने सर्व कर्मोंका क्षय कर दिया है। इसलिये आपके भीतर कभी रागादिक नहीं होते हैं, न पांचों इंद्रियोंके विषयोंके व्यापार होते हैं, न मन सम्बन्धी कोई चेष्टा होती है तथापि आप अपनी केवल ज्ञानमई असाधारण दिव्य चक्षुसे एकही समयमें एक साथ सर्व जगतको देखते जानते हो।

वास्तवमें सिद्ध महाराज अपने स्वभावमें मग्न हैं, उनका किसी परद्रव्यसे कोई भी कार्य या कारणका सम्बन्ध नहीं है। वे परम संतोषी, परम कृतकृत्य व परम आनन्दमई हैं।

उत्थानिका—आगे जीवका अभाव होना सो मुक्ति है ऐसा जो सौगत या बौद्धका मत है उसका निराकरण करते हैं—

सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।
विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे ॥३७॥

शाश्वतमथोच्छेदो भव्यमभव्यं च शून्यमितरच्च।
विज्ञानमविज्ञानं नापि युज्यते असति सद्भावे ॥ ३७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(सस्सदम्) शाश्वतपना (अध) और (उच्छेदं) व्ययपना (भव्वम्) भव्यपना, (च) और (अभव्वं) अभव्यपना, (सुण्णं) शून्यपना (च) और (इदरं) दूसरा अशून्यपना (विण्णाणं) विज्ञान (अविण्णाणं) तथा अविज्ञान (सब्भावे असदि) सिद्ध जीवकी सत्ता विद्यमान न रहते हुए (ण वि जुज्जदि) नहीं हो सक्ते हैं।

विशेषार्थ–सिद्ध भगवानकी सत्ता सदा बनी रहती है इसीसे उनमें नीचे लिखे आठ स्वभाव सिद्ध होते हैं (१) शाश्वतपना इसलिये है कि ये सिद्ध भगवान अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टामई एक स्वभाव रूपसे सदा बने रहते हैं, नष्ट नहीं होते हैं। (२) उच्छेद या व्ययपना इसलिये है कि पर्यायकी अपेक्षा अगुरुलघु-गुणमें षट्स्थान पतित हानि वृद्धिकी अपेक्षासे सदा ही पर्यायोंका नाश हुआ करता है–ये व्ययपना उत्पादका अविनाभावी है। यह उत्पाद व्यय होना हरएक द्रव्यकी पर्यायका स्वभाव है। ( ३ ) भव्यपना इसलिये कि विकार रहित चिदानंदमई एक स्वभावसे वे सदा परिणमन करते रहते हैं, यह उनमें होनापना या भव्यपना है। ( ४ ) अभव्यपना–इसलिये कि वे कभी भी मिथ्यात्व व रागादि विभाव परिणामोंमें नहीं परिणमन करेंगे। इन रूप न होना यही अभव्यपना है। ( ५ ) शून्यपना–इसलिये कि अपने शुद्धात्मद्रव्यसे विलक्षण जो परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव चतुष्टय हैं इनका नास्तिपना या शून्यपना या अभाव सिद्धोंके विद्यमान है। (६) अशून्यपना–इसलिये कि अपने परमात्मा सम्बन्धी निजद्रव्य, निजक्षेत्र, निजकाल व निजभाव रूप चतुष्टयसे उनमें अस्तिपना है। वे कभी अपने शुद्ध गुणोंसे रहित नहीं होते हैं (७) विज्ञान–इसलिये कि वे सर्व द्रव्यके सर्वगुण व सर्व पर्यायोंको एक समय प्रकाश करनेको समर्थ पूर्ण निर्मल केवल-ज्ञान गुणसे पूर्ण हैं। (८) अविज्ञान–इसलिये कि उनमें अब मति-ज्ञानादि क्षयोपशमरूप अल्पज्ञानका अभाव है अर्थात् अब वे इन विभावरूप अशुद्ध ज्ञानोंसे शून्य हैं। इस तरह ये नित्यपना, अनि-

त्यपना, भव्यपना, अभव्यपना, शून्यपना, अशून्यपना, विज्ञान, अविज्ञान ये आठ स्वभाव–यदि जीवकी सत्ता मोक्षमें न मानी जावे तो–सिद्ध नहीं होसक्ते हैं। जीवकी सत्ता रहते हुए ही सिद्ध होते हैं इनके अस्तित्वसे ही मुक्तिमें शुद्ध जीवकी सत्ता रहती है। यहां यह तात्पर्य है कि वही शुद्ध जीव ग्रहण करने योग्य है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने स्पष्टपने जैनमतके स्याद्वादकी छटा प्रगट की है और सिद्ध भगवानमें चार विरोधी स्वभावोंको भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे सिद्ध कर दिया है। पहले स्वभावमें द्रव्यका लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्धमें बताया है कि वे सिद्ध भगवान अगुरुलघुगुणके द्वारा जो स्वभाव परिणमन होता है उसकी अ-पेक्षा सदा अपनी शुद्ध सदृश पर्यायोंमें उत्पत्ति तथा विनाश करते रहते हैं। समय समय नवीन पर्यायें जब उठती हैं तब पुरानी पर्यायें नष्ट हो जाती हैं इसीसे सिद्धोंमें अनित्यपना है और क्योंकि सिद्ध भगवान अपने जीवद्रव्य तथा उसके अनंत सहभावी गुणोंकी अपेक्षा सदा ही बने रहते हैं इससे उनमें ध्रौव्यपना है। इस कथनमात्रसे ही उन लोगोंके मतको बाधा दी है जो मुक्तिमें जीवका अभाव मानते हैं तथा उनको भी बाधा दी है जो मुक्तिमें परिणमन नहीं मानते हैं। दूसरे विशेषणसे यह बता दिया है कि यद्यपि वे सिद्ध अपने स्वभाव भावोंमें होते रहते हैं इससे भव्य हैं, परन्तु वे कभी भी औपाधिक अशुद्धभावोंमें नहीं परिणमन करते हैं इससे अभव्य हैं। इस कथनसे उनके मतको बाधा दी है जो परमात्मामें इच्छा, प्रयत्न, द्वेष व उसके भक्तोंकी रक्षा हेतु जन्म लेना आदि मानते हैं। अथवा मुक्तसे जीवका फिर संसारी होना

स्वीकार करते हैं। तीसरे विशेषणसे बताया है कि उसमें अस्तिना-स्ति या भावाभाव स्वभाव है। अपने द्रव्यादिकी अपेक्षा उनका सदा सद्भाव है, परन्तु उनमें अन्य द्रव्यादिका सदा अभाव है। इससे यह बताया है कि परमात्मा कभी विश्वरूप नहीं होता है न विश्व परमात्मारूप होता है और न एक परमात्मामें दूसरे अपनी सत्ता खो बैठते हैं। चौथे स्वभावसे यह बताया है कि पर-मात्मामें स्वाभाविक पूर्ण ज्ञानका सद्भाव सदा रहता है जब कि इन्द्रिय व मनके द्वारा होनेवाला अपूर्ण ज्ञान नहीं होता है। इससे यह बताया है कि परमात्मा संसारी जीवोंकी तरह देखता जानता नहीं है। किन्तु वह एक समयमें तीन कालकी सर्व पदा-र्थोंकी अवस्थाओंका ज्ञान बिना किसी प्रयत्नके ही अपनेमें प्राप्त किये हुए है। यह सर्वज्ञपना और सर्वदर्शीपना परमात्माका मुख्य लक्षण है। इस कथनसे यह भी झलकाया है कि वह हमारी तरह इन्द्रियोंके द्वारा विषयभोग नहीं करता है न उसको ऐसी कोई बाधा पैदा होती है। वह निरन्तर अपने स्वभावके भोगमें ही मग्न है। ये चार विशेषण अपने विरोधी स्वभावके साथ २ सिद्ध पर-मात्मामें पाए जाते हैं इसलिये मुक्ति अवस्था वास्तवमें जीवका मात्र वह शुद्ध स्वभाव है जिसमें परभावोंकी मुक्ति हो गई है अर्थात् जिसमेंसे परद्रव्यकृत मलीनता चली गई है।

आप्तस्वरूप ग्रन्थमें परमात्माका स्वरूप कहा है उसके कुछ श्लोक यह हैं—

**स स्वयम्भूः स्वयं भूतं सज्ज्ञानं यस्य केवलं।**
**विश्वस्य ग्राहकं नित्यं युगपद्दर्शनं तदा ॥ २२ ॥**

ज्ञेनाप्तं परमैश्वर्यं परानन्दसुखास्पदम् ।
बोधरूपं कृतार्थोऽसावोश्वरः पटुभिः स्मृतः ॥ २३ ॥
शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शांतमक्षयं ।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ॥ २४ ॥
महामोहादयो दोषा ध्वस्ता येन यदृच्छया ।
महाभवार्णवोत्तीर्णो महादेवः स कीर्तितः ॥ २६ ॥
रौद्राणि कर्मजालानि शुक्लध्यानोग्रवह्निना ।
दग्धानि येन रुद्रेण तं तु रुद्रं नमाम्यहम् ॥ ३० ॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं स्थानमात्मस्वभावजम् ।
प्राप्तं परमनिर्वाणं येनासौ सुगतः स्मृतः ॥ ४१ ॥

भावार्थ—वह परमात्मा स्वयंभू हैं, क्योंकि उनके अपने आप ही सर्व विश्वको जानने देखनेवाला और सदा नित्य रहनेवाला केवलज्ञान और केवल दर्शन प्रगट हो गया है। वही ईश्वर है, वही कृतार्थ है ऐसा बुद्धिमानोंमें माना है, क्योंकि इसने परमानन्द सुखका स्थान और ज्ञानमई परम ऐश्वर्य्यको प्राप्त कर लिया है। वही परमात्मा शिव कहा गया है जिसने सुखमई व परम हितरूप, शांत व अविनाशी निर्वाण या मुक्ति पदको प्राप्त कर लिया है, क्योंकि वह अपने दृढ़ भावोंसे महा मोह आदिक बड़े २ दोषोंको नष्टकर संसाररूपी महान समुद्रके पार पहुंच गया है इसलिये वही महादेव कहा जाता है, वही परमात्मा रुद्र है क्योंकि उसने महा भयानक कर्मके जालोंको शुक्लध्यानकी तेज अग्निसे दग्ध कर डाला है। उसी रुद्रको मैं नमन करता हूं। वही सुगत कहा गया है जिसने सर्व बाधाओंसे रहित अपने आत्मस्वभावसे उत्पन्न परम निर्वाणके स्थानको प्राप्त कर लिया है।

वास्तवमें परमात्माकी महिमा वचनगोचर नहीं है । सिद्ध भगवान सर्वोत्कृष्ट व परम पवित्र आत्मा है उन हीके समान मैं हूं ऐसा ध्यानमें लाकर हमें सदा स्वरूपका अनुभव करना योग्य है।

इस तरह भट्टचार्वाकके मतके अनुसारी शिष्यके संदेहोंको नाश करनेके लिये जीवका अमूर्तपना कहते हुए तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे यह बताते हैं कि चेतना तीन प्रकारकी होती है—

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को ।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण ॥ ३८ ॥

कर्मणां फलमेकः एकः कार्यं तु ज्ञानमथैकः ।
चेतयति जीवराशिश्चेतकभावेन त्रिविधेन ॥ ३८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-( एक्को ) एक ( जीवरासी ) जीवोंका समुदाय ( कम्माणं फलं ) कर्मोंके फलको ( तु एक्को ) और एक जीवराशि ( कज्जं ) कार्यको ( अध ) तथा (एक्को) एक जीव राशि ( णाणं ) ज्ञानको ( चेदयदि ) वेदती है या अनुभव करती है । इस तरह ( तिविहेण ) तीन तरहकी ( चेदगभावेण ) चेतनाके भावसे जीवोंके अनुभव होता है ।

विशेषार्थ—निर्मल शुद्ध आत्माकी अनुभूतिको न पाकर अशुद्ध भावोंसे बांधा जो गाढ़ मोहनीय कर्म उसके उदयसे प्राप्त जो अत्यन्त मलीन चेतना उसीसे जिनके आत्माकी शक्ति ढक रही है ऐसा एक जीवसमुदाय कर्मोंके फलोंको ही अनुभवन करता है। दूसरी एक जीवराशि उसी ही मलीन चेतनासे कुछ शक्तिको पाकर इच्छापूर्वक इष्ट या अनिष्टके भेदरूप कर्म या कार्यका अनु-

भव करती है तथा एक जीव समुदाय विशुद्ध शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप भावनासे कर्मकलंकको नाश करते हुए अपने शुद्ध चेतनाके भावसे केवलज्ञानको अनुभव करता है। इस तरह यह चेतना तीन प्रकारकी है—कर्मफल चेतना, कर्मचेतना तथा ज्ञानचेतना॥

भावार्थ—यहां चेतनासे अभिप्राय अनुभव करनेका है जिसमें उपयोग एकतासे रम जावे उसे अनुभव कह सक्ते हैं। जो संसारी मोही जीव अत्यन्त अज्ञानी हैं व जिनकी आत्मशक्ति बहुत ही कम प्रगट है वे मुख्यतासे कर्मोंका जैसा उदय होता है उसीमें तन्मय हो उसी ही उदयका अनुभव करते हैं। बुद्धिकी मन्दतासे व वीर्यकी कमीसे वे रागद्वेष पूर्वक कार्योंको मुख्यतासे नहीं करते हुए प्रगट होते हैं। कुछ जीव ऐसे हैं जिनके ज्ञान व वीर्य अधिक प्रगट है इससे वे बुद्धिपूर्वक कार्योंको करते रहते हैं। तीसरे वे हैं जिनके मोह राग द्वेष सब मिट गया है और केवलज्ञान प्रगट हो गया है वे मात्र शुद्ध ज्ञानका अनुभव करते हैं—उनके न बुद्धिपूर्वक कार्योंका अनुभव है न कर्मोंके फलरूप सुख तथा दुःखका अनुभव है। इस तरह तीन प्रकारकी चेतना जीवोंमें पाई जाती है।

इन तीन प्रकार चेतनाका स्वरूप प्रवचनसारमें इस तरह कहा है—

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलत्ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥३२॥

भावार्थ—पदार्थोंको भेदरूप जानना सो ज्ञान है। यह विश्व-चेतन अचेतनरूप अनेक आकारोंको रखनेवाला है उस सर्वको जो जाने सो ज्ञान है। जीवने जो काम अनेक प्रकार बुद्धिपूर्वक करना

शुरू किया हो वह कर्म है। पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे जो सुखदुःख होता है सो कर्मफल है। ज्ञानको वेदना ज्ञानचेतना है, कर्मको वेदना कर्मचेतना है, कर्मफलको वेदना कर्मफलचेतना है। ऊपरकी मूल गाथाकी टीका स्वामी अमृतचंद्रजीने नीचे प्रमाण की है:—

कोई जीव (अर्थात् स्थावरकाय) ऐसे चेतनेवाले हैं कि जिनके अत्यन्त मोहका मल है व जिनका ज्ञान दृढ़ ज्ञानावरणीय कर्मसे मुद्रित हो रहा है व जिनकी शक्ति दृढ़ वीर्यांतरायके उदयसे आच्छादित हो रही है वे अपने अत्यन्त मंद शक्तिधारी चेतनाकी प्रधानतासे सुखदुःखरूप कर्मफलको ही अनुभव करते हैं। दूसरे कोई जीव ( अर्थात द्वेन्द्रियादि त्रस ) जिनके मोहका तो अत्यन्त मल है, परन्तु पहलेकी अपेक्षा कम दृढ़ ज्ञानावरणीय कर्मसे ज्ञानको मुद्रित किये हुए हैं तथा वीर्यांतराय कर्मोंके क्षयोपशमसे कुछ कार्य करनेकी शक्ति रखते हैं वे अपनी चेतनासे सुख दुःखरूप कर्मके फलको अनुभव करते हुए भी कार्यको भी प्रधानतासे अनुभव करते हैं। दूसरे जीव ( अर्थात् सिद्ध भगवान ) जिन्होंने सर्व मोहके मलको धो डाला है व पूर्ण ज्ञानावरणके नाशसे सब ज्ञानको प्रकाश कर डाला है तथा जो सर्व वीर्यांतरायके क्षयसे अनंतवीर्यको प्राप्त किये हुए हैं और जो कर्मोंके फलको जीर्ण कर चुके हैं व अत्यन्त कृतार्थ हैं सो अपनी चेतनासे स्वयं अपने ही स्वाभाविक सुख तथा ज्ञानका ही अनुभव करते हैं।

इसमें जो ज्ञान चेतना है वही उपादेय है ऐसा जान उसीका ही लाभ करके परम तृप्त रहना योग्य है॥ ३८॥

उत्थानिका—आगे शिष्यने प्रश्न किया कि इन तीन प्रकार

चेतनाको कौन २ अनुभव करते हैं इसका उत्तर आचार्य देते हैं–

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं ।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा ॥ ३९ ॥

सर्वे खलु कर्मफलं स्थावरकायास्त्रसा हि कार्ययुतं ।
प्राणित्वमतिक्रांताः ज्ञानं विदन्ति ते जीवाः ॥ ३९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(खलु) वास्तवमें (सव्वे) सर्व (थावरकाया) स्थावर कायधारी जीव (कम्मफलं) कर्मोंके फलको (हि) निश्चयसे (तसा) त्रस जीव (कज्जजुदं) कार्य्य सहित कर्म-फलको, और (पाणित्तम् अदिक्कंता) जो प्राणोंसे रहित हैं (ते जीवा) वे जीव (णाणं) ज्ञानको (विंदन्ति) अनुभव करते हैं ॥

विशेषार्थ–सर्व ही प्रसिद्ध पृथ्वीकायिक, अपकायिक, अग्नि-कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक स्थावर एकेन्द्रिय जीव अप्रगट सुख दुःखका अनुभव रूप शुभ या अशुभ कर्मके फलको अनुभव करते हैं और द्वेन्द्रियादि त्रस जीव निर्विकार परम आनंद-मई एक स्वभाव धारी आत्माके सुखको नहीं अनुभव करते हुए उस कर्मफलको भी अनुभव करते हैं, साथमें विशेष राग द्वेपरूप कार्यकी चेतना भी रखते हैं। तथा जो जीव विशेष शुद्धात्मानुभवकी भावनासे उत्पन्न जो परमानंदमई एक सुखामृतरूप समरसी भाव उसके बलसे इंद्रिय, बल, आयु, उच्छ्वास इन दश प्राणोंको उल्लंघन कर गए हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा सो मात्र केवलज्ञानको अनुभव करते हैं।

भावार्थ–यहां तीन प्रकार चेतनाके स्वामी मुख्यताको अपेक्षा बताए हैं। स्थावर जीवोंमें सुख या दुःखका क्या अनुभव हुआ यह हमको प्रगट नहीं है, क्योंकि वे वाणीसे कुछ कह नहीं सक्ते क्योंकि

उनके वचन नहीं है और न प्रगट उनके शरीरकी क्रियासे यह स्पष्ट होता है कि वे इस समय सुखी हैं व इस समय दुःखी हैं। यद्यपि किसी किसी वृक्षमें यह कभी कभी प्रगट भी होता है जैसे सूर्यके प्रकाशसे कमल फूल जाते हैं या हाथोंके स्पर्शसे लाजवंतीका वृक्ष लज्जा खाकर मुरझा जाता है या जब पानी बरस चुकता है तब प्रायः सर्व ही वृक्ष हरेभरे दिखते हैं, तीव्र धूप व पाला पड़नेसे वे मुरझा जाते हैं इन बाहरी चिन्होंसे उनका सुखी या दुःखी होना कुछ अंश मालूम कर सक्ते हैं; परन्तु पृथ्वीकायिकादि चारमें तो यह बिलकुल प्रगट नहीं होता है, क्योंकि उनके शरीर भी बहुत ही छोटे घनांगुलके असंख्यातवें भाग होते हैं। इसलिये यहां वृत्तिकारने कहा है कि वे स्थावर जीव कर्मोंके फलको भोगते हैं और उनका सुख व दुःख हमको प्रगट नहीं होता है। इसलिये इनके मुख्यतासे कर्मफलचेतना है, यद्यपि गौणतासे इनके भी कुछ कार्य चेतना है। जैसे वृक्ष अपनी जड़ उस ही तरफ ले जाते हैं जहां जल होता है। पानी व मिट्टीको खींचकर ऊपर तक ले जाते हैं। कोई २ वृक्ष पत्तेपर बैठे हुए जंतुओंको पत्ते बन्दकर उनको चूस लेते हैं यह कार्यचेतना है, परन्तु जैसे त्रस जीवोंके रागद्वेप पूर्वक कार्य प्रगट दिखते हैं वैसे इनके कार्य प्रगट नहीं दिखते हैं इसलिये इनमें कर्मचेतनाकी मुख्यता नहीं बताई है। त्रस जीवोंमें दोनों चेतना प्रगट दिखती हैं। चीटियां दूरसे मीठेकी सुगन्ध पाकर उससे रागी हो आकर मीठा खाने लगती हैं तब अपनेको तन्मय कर देती हैं जिससे उनका कार्य व उनका इंद्रियजनित सुखभोग प्रत्यक्ष प्रगट होता है। मक्खियां किसी नाकके

भलमें फंसकर उड़ न सकनेके कारण उससे द्वेषकर तड़फड़ाती हैं व उड़नेकी चेष्ठा करती हैं और न उड़ सकनेके कारण दुःखी होती हैं। इस तरह इनका द्वेषरूप कर्म व दुःखका भोग प्रगट होता है। जो पंचेंद्री सैनी पशु हैं वे तो रागद्वेषरूप काम करते हुए कर्मके व सुख दुःखके चिह्न बहुत ही स्पष्ट बताते हैं। बन्दर भूखा होकर बड़ी चतुराईसे रोटी लेने आता है परन्तु जब कभी कोई उसे मारता है तो झट द्वेष करके भाग जाता है यह रागद्वेष रूप कर्म है। कुत्ता अपने मालिकको–जो उसे पालता है व खानेको देता है–देखकर खुश होता है व दुम हिलाता है, कभी बहुत दुःखी होता है व मारे जानेपर कष्ट पाता है तब चिल्लाता है और रोता है इस तरह अपना सुख व दुःखका भोग प्रगट बताता है। हम मनुष्योंको तो दोनों ही चेतना अच्छी तरह प्रगट हैं। हम धन कमानेसे राग करके उसके लिये रागपूर्वक व्यापार कर्म करते हैं। कोई चोर माल उठाता है उससे द्वेष करके उसको भगानेका कर्म करते हैं–ये राग द्वेष रूप कर्म हैं। जब हम सुन्दर भोजन करते हैं तब हम सुखी होजाते हैं और बचनोंसे भी कहते हैं, आज बड़ा मजा आया। जब रात्रिको अति गर्मी व अति शर्दीसे दुःखी हो जाते हैं तब यह कहते हैं कि आज रात बड़े कष्टसे कटी।

ज्ञान चेतनामें शुद्ध ज्ञानके अनुभवकी अपेक्षा निर्मल प्रत्यक्ष अनुभव केवलज्ञानी अरहंत और सिद्धोंके है। गाथामें प्राणोंसे रहित सिद्धोंके ही ज्ञानचेतना मुख्यतासे बताई हैं, परन्तु अरहंत केवली भी इंद्रियोंके द्वारा न जानते हैं, न सुख दुःख भोगते हैं–वे भी अपने ज्ञानमें मगन हैं। उनके मोहका अभाव होनेसे रागद्वेष

रूप कर्मफल या कर्मचेतना नहीं है—इसलिये वचन बल, काय-बल, आयु, उच्छ्वास इन प्राणोंके होते हुए भी व इनका व्यापार इच्छा पूर्वक न करते हुए मात्र ज्ञानचेतना हीके स्वामी हैं—शुद्ध स्वपरज्ञायक ज्ञानका ही स्वाद लेरहे हैं। अविरत सम्यग्दृष्टीसे लेकर क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान तकके जीव भी जब स्वात्मानुभवमें लीन होजाते हैं और ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयके विकल्पोंसे छूट जाते हैं, नय प्रमाणके निक्षेपके विकल्पसे दूर होजाते हैं, एक अद्वैत ज्ञानानंद भावमें मगन होजाते हैं तब वे भी मात्र भावश्रुत ज्ञानका अनुभव कर रहे हैं इसलिये ज्ञान चेतना रूप हैं। यहां ज्ञान केवली भगवानके ज्ञानके समान शुद्ध प्रत्यक्ष नहीं है तथापि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। गाथामें शुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञानके अनुभवकी अपेक्षा यह ज्ञानचेतना सिद्धोंके बताई है सो पूर्ण शुद्धताकी अपेक्षासे कही है। पंचाध्यायीकारने यह स्पष्ट किया है कि जब किसीको सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसी समयसे उस जीवमें ज्ञानचेतनाकी लब्धि या शक्ति पैदा होजाती है जैसे किसीके अवधि ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होनेसे अवधिज्ञानकी लब्धि होजाती है तथा जैसे वह अवधिज्ञानी जब अवधि जोड़ता है तब अवधिज्ञानसे काम लेता हुआ अवधिज्ञान रूप है तैसे जब वह सम्यग्दृष्टी स्वात्मानुभवमें लीन होता है, तब वह उपयोगमें ज्ञानचेतना रूप है अर्थात् अपने आत्माके शुद्ध भावका अनुभव कर रहा है। अन्य समय कभी सुख या दुःखका अनुभव करता हुआ वह कर्मफल चेतना रूप है, कभी रागद्वेषपूर्वक लौकिक काम करता हुआ तथा मंद रागसे शुद्ध स्वरूपमें पहुंचनेका उद्यम करता हुआ कर्मचेतना रूप है।

पंचाध्यायीकार कहते हैं—

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसंभवात् ॥ १८८ ॥

भावार्थ—यह ज्ञानचेतना नियमसे सम्यग्दृष्टीके ही होती है, मिथ्यादृष्टीके कभी नहीं होती है, क्योंकि मिथ्यादर्शनके होनेपर उसका होना असंभव है ।

कदाचित्कास्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनो ।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसंभवात् ॥ ८५४ ॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिके ज्ञानकी उपयोगमई चेतना या स्वात्मानुभव रूप चेतना कभी कभी होती है, किंतु जब स्वात्मानुभव नहीं होता है तब ज्ञानचेतनाकी शक्तिका नाश नहीं होता है । हां, यह नियम नहीं है कि उसके ज्ञानचेतनाकी शक्तिके साथ उपयोगात्मक चेतना भी रहे, परन्तु यह नियम है कि उपयोगात्मक ज्ञानचेतना तब ही होगी जब उसके ज्ञानचेतना लब्धि रूप होगी। इस कथनसे यह सिद्ध है कि ज्ञानचेतना चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ हो जाती है, पूर्णता परमात्मामें ही है जहां प्रत्यक्ष आत्माका ज्ञान हो जाता है ।

इस तरह तीन प्रकार चेतनाके व्याख्यानकी मुख्यतासे दो गाथाएं पूर्ण हुईं ।

उत्थानिका—आगे उन्नीस गाथातक उपयोगका अधिकार कहते हैं उनमें प्रथम ही बताते हैं कि आत्माके उपयोगके दो भेद हैं—

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥ ४० ॥

उपयोगः खलु द्विविधो ज्ञानेन च दर्शनेन संयुक्तः।
जीवस्य सर्वकालमनन्यभूतं विजानीहि ॥ ४० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-( उवओगो ) उपयोग ( खलु ) वास्तवमें ( दुविहो ) दो प्रकार है ( णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ) ज्ञान और दर्शनसे संयुक्त अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग सो (सव्वकालं) सर्वकाल (जीवस्स) इस जीवसे (अणण्णभूदं) एकरूप है-जुदा नहीं है ऐसा ( वियाणीहि ) जानो।

विशेषार्थ-आत्माका वह परिणाम जो उसके चैतन्य गुणके साथ रहनेवाला है उसको उपयोग कहते हैं अथवा जो चैतन्य गुणके साथ २ अन्वय रूपसे परिणमन करे सो उपयोग है अथवा जो पदार्थके जाननेके समय यह घट है यह पट है इत्यादि पदार्थोंको ग्रहण करता हुआ व्यापार करे सो उपयोग है। जो विकल्प सहित उपयोग है सो ज्ञानोपयोग है तथा विकल्प रहित सामान्य उपयोग है सो दर्शनोपयोग है। इन दोनों उपयोगोंके साथ जीव होता है। यह उपयोग जीवसे सदा ही प्रदेशोंकी अपेक्षा अभिन्न है एक है, यद्यपि संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादिके भेदसे भेद है।

भावार्थ-यह उपयोग जीवका लक्षण है। उपयोग वह व्यापार है जिससे जीव पदार्थोंको देखता जानता है। हम उपयोगको ही देखकर यह निश्चय करते हैं कि अमुक प्राणी सजीव है। जिसमें उपयोग नहीं होता है वह शरीर निर्जीव होता है, उपयोगके मूल दो भेद हैं-दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। आत्माके चैतन्य परिणामका पदार्थके ग्रहणमें जो झुकाव होता है व जिस समय तक उसका आकार या विशेषपना नहीं समझा जाता है कि वह क्या है उस

समय तक जो कुछ सामान्यपने भासा ऐसा जिसको हम कह नहीं सक्के उसको दर्शन कहते हैं तथा उसी परिणामने जब उसका आकार या विशेष जान लिया तब उसको ज्ञान कहते हैं-दर्शनोपयोग निराकार है ज्ञानोपयोग साकार है। ये दोनों ही उपयोग अल्पज्ञानी जीवोंके यद्यपि शक्तिरूपसे रहते हैं परन्तु काम एकदूसरेके पीछे करते हैं अर्थात् पहले दर्शनोपयोग काम करता है, पीछे ज्ञानोपयोग काम करता है, किन्तु केवलज्ञानीके क्रमवर्ती देखना जानना नहीं हैं। वे अपूर्व शक्तिधारी हैं इससे वे एक साथ दर्शन ज्ञानका काम करते हैं। जो कुछ विषय इन दोनों उपयोगोंका सामान्य तथा विशेष रूप है उस सर्वको एक साथ जानते देखते हैं। हरएक वस्तु सामान्य विशेषरूप है-दृष्टांतमें जैसे एक वनमें पचास वृक्ष हैं; उनमें वृक्षपना सबमें सामान्य है किन्तु प्रत्येक वृक्षका आकार व उसका स्वरूप भिन्न २ है यह विशेष है। अस्तिपना सामान्य सर्व द्रव्योंमें व्यापक है उसीमें विशेष अस्तित्व जानना कि यह अमुक है यह अमुक है यह विशेष है।

श्री गोम्मटसारमें कहा है-

**विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा।**
**अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईह ॥ ३०७ ॥**

भावार्थ-विषय जो शब्दादिक पदार्थ और विषय करनेवाली जो कर्णादिक इंद्रियां इनका जो संयोग अर्थात् योग्य क्षेत्रमें तिष्ठने रूप सम्बन्ध उसके होते हुए उसके पीछे ही वस्तुका सत्ता मात्र निर्विकल्प ग्रहण जो यह है इतना प्रकाश रूप सो दर्शन नियमकर है उसके पीछे ही देखा जो पदार्थ उसके वर्ण संस्थानादि विशेष

ग्रहणरूप अवग्रह नाम ज्ञान है उसीमें विशेष वांछारूप जो ज्ञान सो ईहा है। इस तरह दर्शनपूर्वक मतिज्ञान होता है।

श्री गोम्मटसार दर्शनमार्गणामें कहा है—

**भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरुवमेत्तं जं।**
**वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि ॥ ४८२ ॥**

भावार्थ—सामान्य विशेपरूप जो पदार्थ हैं उनका स्वरूप मात्र भेद रहित जैसे है वैसे जीवके साथ स्वपर सत्ताका प्रकाशना सो दर्शन है। इस समय जो कुछ ग्रहण होता है उसका वर्णन नहीं किया जा सक्ता है।

यहां यह बताया है कि कभी जीव उपयोगसे शून्य नहीं होता है। उपयोग और उपयोगवान जीवमें नामादिकी अपेक्षा भेद है परन्तु प्रदेशोंका भेद नहीं है। जहां उपयोग है वहीं जीव है, जहां जीव है वहीं उपयोग है। उपयोग जीवसे कभी छूटता नहीं है। राजवार्तिकमें कहा है—"सर्वथा विनाशे पुनः अनुस्मरणाभावः" अर्थात् यदि उपयोगका सर्वथा अभाव हो जावे तो पिछले पदार्थका स्मरण न हो। पहिले स्वयं जाने हुए पदार्थ हीका स्मरण होता है। यह उपयोग ही है जिससे जीवका लक्षण किया जाता है। जब कोई संसारी प्राणी अपने उपयोगसे सुनता है, देखता है, सूंघता है, चाखता है, छूता है तब हम अनुमान कर लेते हैं कि उसमें जीव है। जब कोई शरीर ऐसा नहीं करता है तब उसमें जीव नहीं है ऐसा जान लेते हैं इसीलिये तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है "उपयोगो लक्षणं" अर्थात् जीवका लक्षण उपयोग है। यह उपयोग कर्मबंध सहित जीवमें अशुद्ध या क्षयोपशम रूप रहता है

किन्तु शुद्ध जीवमें शुद्ध या क्षायिकरूप रहता है। निश्चय नयसे हरएक जीवमें शुद्ध दर्शन और ज्ञान उपयोग है ऐसा ही अपनेको जान हमें आत्मानुभव करना चाहिये यह भावार्थ है।

इस तरह उपयोगके ज्ञान व दर्शन ऐसे दो भेद हैं, इसकी सूचना करते हुए एक गाथा कही।

उत्थानिका—आगे ज्ञानोपयोगके भेदोंके नाम कहते हैं—

आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते ॥४१॥

आभिनिवोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानानि पंचभेदानि।
कुमतिश्रुतविभंगानि च त्रीण्यपि ज्ञानैः संयुक्तानि ॥ ४१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—( आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि ) मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ( पंचभेयाणि ) ये पांच भेद रूप ( णाणाणि ) सम्यग्ज्ञान हैं सो (कुमदिसुदविभंगाणि) कुमति, कुश्रुत व विभंग (तिण्णि वि णाणेहि) ऐसे तीन अज्ञानोंसे (संजुत्ते) संयुक्त सर्व आठ भेद ज्ञानके होते हैं।

विशेषार्थ—जैसे सूर्य एक ही है, मेघोंके आवरण होनेसे उसकी प्रभाके अनेक भेद होजाते हैं—वैसे ही निश्चयनयसे यह आत्मा भी अखंड है व एक तरहसे प्रकाशमान है तौभी व्यवहारनयसे कर्मोंके पटलोंसे घिरा हुआ है इसलिये उसके ज्ञानके यह सुमति ज्ञान आदि बहुत भेद होजाते हैं।

भावार्थ—वास्तवमें एक सहज शुद्ध ज्ञान ही जीवमें है जो तीन कालवर्ती सर्व द्रव्य गुणपर्यायोंका ज्ञाता है। संसारकी अवस्थामें

जीवोंके साथ ज्ञानावरण कर्मका अनादि सम्बन्ध है इसलिये जितना जितना ज्ञानका क्षयोपशम होता जाता है, उतना उतना ज्ञान प्रगट होता जाता है, इसी कमती बढ़ती ज्ञानके प्रकाशकी अपेक्षासे ज्ञानके मुख्य पांच भेद हैं। मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टि साधुओंके ही होता है इसलिये वे सम्यग्ज्ञान ही हैं, किन्तु मति, श्रुत, अवधिज्ञान जब सम्यग्दृष्टिके होते हैं तब सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं और जब मिथ्यादृष्टीके होते हैं तब इनको मिथ्याज्ञान कहते हैं। इस तरह व्यवहारनयसे एक ज्ञानके आठ भेद किये गए हैं।

ऐसा ही द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओहीअणाणणाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च॥

भावार्थ—ज्ञानके आठ भेद हैं उनमेंसे मति श्रुत अज्ञान व सुज्ञान तो परोक्षरूप हैं क्योंकि इनका कार्य पांच इन्द्रियोंके और मनके द्वारा होता है, शेष अवधिज्ञान व विभंगज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं क्योंकि आत्मा स्वयं विना इन्द्रिय और मनकी मददके जानता है।

आगे दर्शनोपयोगके भेदोंकी संज्ञा कहते हैं:—

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं॥ ४२॥

दर्शनमपि चक्षुर्युतमचक्षुर्युतमपि चावधिना सहितं।
अनिधनमनंतविषयं कैवल्यं चापि प्रज्ञप्तम्॥ ४२॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(दंसणं) दर्शन (अवि) भी (चक्खुजुदं) चक्षु सहित (अवि) तथा (अचक्खुजुदं)

अचक्षु सहित (य) और (ओहिणासहियं) अवधि सहित ( चावि ) तैसे ही ( अणिघणम् ) अंतरहित ( अणंतविसयं ) अनंतको विषय करनेवाला ( केवलियं ) केवल सहित ( पण्णत्तं ) कहा गया है।

विशेषार्थ–दर्शनोपयोगके चार भेद हैं–चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल। यह आत्मा निश्चयनयसे अनंत व अखंड एक दर्शन स्वभावको धारनेवाला है तौभी व्यवहारनयसे संसार दशामें निर्मल व शुद्ध आत्माके अनुभवको न पानेसे जो कर्म बांधे हैं उनसे ढका हुआ चक्षुदर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे बाहरी चक्षु नामके द्रव्येंद्रियके अवलम्बनसे जो मूर्तीक वस्तुको विकल्प रहित सत्ता अवलोकन मात्र देखता है वह चक्षु दर्शन है। तथा चक्षुके सिवाय अन्य चार इन्द्रिय तथा नोइन्द्रिय या मनके आवरणके क्षयोपशम होनेपर बाहरी स्पर्शादि चार द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्य मनके आलम्बनसे जो मूर्तीक अमूर्तीक वस्तुको विकल्प रहित सत्ता अवलोकन मात्र यथासंभव देखता है सो अचक्षु दर्शन है, वही आत्मा अवधि दर्शनावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर जो मूर्तीक वस्तुको विकल्प रहित सत्ता अवलोकन मात्र प्रत्यक्ष देखता है सो अवधि दर्शन है तथा रागादि दोषोंसे रहित चिदानन्दमई एक स्वभावरूप अपने शुद्धात्माके अनुभवमई निर्विकल्प ध्यानके बलसे सर्व केवल दर्शनावरण कर्मके क्षय हो जानेपर तीन जगतवर्ती व तीन कालवर्ती वस्तुओंमें प्राप्त जो सत्ता सामान्य उसको एक समयमें देखता है वह अनंत दर्शन अनंत पदार्थोंकी सत्ताको विषय करनेवाला स्वाभाविक केवल दर्शन है। यहां यह अभिप्राय है कि केवल दर्शनके साथ अविनाभावी अर्थात् अवश्य रहनेवाले अनंत गुणोंका आधार

जो शुद्ध जीवास्तिकाय है वही ग्रहण करने योग्य है।

भावार्थ-यहां आचार्यने दर्शनोपयोगके चार भेद बताए हैं। दर्शनावरणीय कर्मके भी चार भेद हैं उन हीके क्षयोपशमसे चक्षु, अचक्षु व अवधि दर्शन होता है व केवल दर्शन सर्व दर्शनावरणीयके क्षयसे होता है। चक्षु, अचक्षु व अवधिज्ञानके पूर्व सत्ता मात्र जानना जो कुछ होता है जिसका कथन नहीं हो सक्ता सो दर्शन है। अरहंतके केवलदर्शन केवलज्ञानके साथ २ होता है।

श्री गोम्मटसार जीवकांडमें इनका स्वरूप ऐसा बताया है-

चक्खूण जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खुदंसणं वेंति।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खूत्ति ॥ ४८३ ॥
परमाणुआदियाई अन्तिमखंधत्ति मुत्तिदव्वाई।
तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं ॥ ४८४ ॥
बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि।
लोगालोगवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ ॥ ४८५ ॥

भावार्थ-नेत्रोंका सम्बन्धी जो सामान्य ग्रहण उसको जो प्रकाश करे व जो देखे सो चक्षुदर्शन कहा गया है। शेष चार इन्द्रिय और मनके द्वारा प्रकाश होना जिससे हो वह अचक्षुदर्शन जानना चाहिये। जो परमाणुको आदि लेकर महास्कंध तक जितने मूर्तीक द्रव्य हैं उनको प्रत्यक्ष देखे सो अवधिदर्शन है। नाना प्रकार तीव्र मंद मध्यम आदि रूपसे भिन्न २ प्रकाश जो चंद्रमा, सूर्य व रत्नादिका होता है वह मर्यादा लिये हुए क्षेत्रमें ही होता है इसलिये इन सूर्यादिके उद्योतसे जिसकी उपमा नहीं दी जा सक्ती ऐसा लोकालोकको देखनेवाला-जिसमें कोई अंधकार नहीं रहता-सो केवलदर्शन नामका उद्योत है। यहां यह भाव है कि

अनुपम केवलदर्शनके प्रकाशके लिये हमको निरन्तर आत्मदर्शनमें लीन होना योग्य है ।

इस तरह दर्शनोपयोगका व्याख्यान करते हुए गाथा कही ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्माका ज्ञानादि गुणोंके साथ संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा भेद होनेपर भी निश्चय-नयसे प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्नता नहीं है तथा मति आदि ज्ञानके अनेकपना है—

**ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि ।**
**तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहिं ॥ ४३ ॥**

न विकल्पते ज्ञानात् ज्ञानी ज्ञानानि भवंत्यनेकानि ।
तस्मात्तु विश्वरूपं भणितं द्रव्यमिति ज्ञानिभिः ॥ ४३ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(णाणी) ज्ञानी आत्मा (णाणादो) ज्ञान गुणसे ( ण वियप्पदि ) नहीं भिन्न किया जा सक्ता है तथा ( णाणाणि ) ज्ञान ( अणेगाणि ) अनेक प्रकार मति आदि रूपसे ( होंति ) होते हैं । ( तम्हा दु ) इसीलिये ही ( णाणीहिं ) हेय उपादेय तत्त्वके विचार करनेवाले ज्ञानियोंके द्वारा (विस्सरूवं) नाना रूप (दवियत्ति) जीव द्रव्य है ऐसा (भणियं) कहा गया है ।

विशेषार्थ—एक पुद्गलका परमाणु अपने एकपनेकी सत्ताको रखनेसे एक द्रव्यरूप है, एक प्रदेशको रखनेसे एक क्षेत्ररूप है, एक समय मात्र परिणमनको रखनेसे एक कालरूप है, मूर्तीक एक जड़ स्वरूप रखनेसे एक स्वभावरूप है, ऐसे अपने द्रव्यादि चतु-ष्टयको रखनेवाले परमाणुका जैसे अपने वर्णादि गुणोंके साथ भेद नहीं है तैसे ही जीव द्रव्यका भी अपने ज्ञानादि गुणोंके साथ भेद

नहीं है । जीव द्रव्य भी अपने द्रव्यादि चतुष्टयसे तन्मय है । वह एक अपनी सत्ताको रखनेसे एक द्रव्यरूप है, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात अखंड एकमई प्रदेश रखनेसे एक क्षेत्ररूप है, एक समयरूप वर्तनकी अपेक्षा एक कालरूप है, एक चैतन्य स्वभाव रखनेसे एक स्वभावरूप है । इस तरह एक जीव द्रव्यका अपना चतुष्टय जानना चाहिये । इसी तरह शुद्ध जीवकी अपेक्षासे यदि विचार करें तो शुद्ध एक सत्ता मात्र रखनेसे एक द्रव्यरूप है, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात अखंट एकमई शुद्ध प्रदेश रखनेसे एक क्षेत्ररूप है, निर्विकार चैतन्य चमत्कारकी परिणतिमें वर्तन करता हुआ एक समय मात्र परिणमनको रखनेसे एक कालरूप है, निर्मल एक चैतन्य ज्योति स्वरूप होनेसे एक स्वभावरूप है; ऐसे शुद्ध जीवका भी अपने सर्व प्रकारसे निर्मल केवलज्ञानादि अनंत गुणोंके साथ भेद नहीं है ।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि यद्यपि ज्ञानके मति श्रुत आदि अनेक भेद हैं तथापि ज्ञान एक गुण है जो जीवसे कभी जुदा नहीं हो सक्ता है । गुण गुणीमें संज्ञा व लक्षणादिकी अपेक्षासे भेद करके समझा जाता है, परन्तु दोनों एक दूसरेसे तन्मय रहते हैं—गुणोंके विना गुणी नहीं, गुणीके विना गुण नहीं, क्योंकि आत्मा द्रव्यका स्वभाव ही ज्ञानरूप है इसलिये वह ज्ञान सर्व ज्ञेयोंको जानता हुआ विश्वरूप कहा जाता है । निश्चयसे ज्ञान एक है । कर्मोंके सम्बन्धके कारण ज्ञानके अनेक भेद होते हैं ।

श्री गोम्मटसारमें ज्ञानका स्वरूप यह कहा है—

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे ।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं बेंति ॥ २९८ ॥

भावार्थ-जिसके द्वारा तीन काल सम्बन्धी सर्व द्रव्य उनके सर्व गुण व पर्याय प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे जाने जा सकें उसको ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान गुण सर्व गुणोंमें प्रधान है।

उत्थानिका-आगे मति आदि पांच ज्ञानका स्वरूप गाथा पांचसे कहते हैं। ये गाथाएं अमृतचंदकृत टीकामें नहीं हैं।

मदिणाणं पुण तिविहं उवलद्धी भावणं च उवओगो।
तह एव चदुवियप्पं दंसणपुव्वं हवदि णाणं ॥ ४४ ॥

**मतिज्ञानं पुनस्त्रिविधं उपलब्धिर्भावना च उपयोगः।**
**तथैव चतुर्विकल्पं दर्शनपूर्वं भवति ज्ञानं ॥ ४४ ॥**

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(पुण) तथा (मदिणाणं) मतिज्ञान (तिविहं) तीन प्रकार है (उवलद्धी) उपलब्धि या जाननेकी शक्ति, (उवओगो) उपयोग या जाननरूप व्यापार (च भावणं) और भावना या जाने हुएका विचार। (तह एव) तैसे ही वह (चदुवियप्पं) चार प्रकार है। (दंसणपुव्वं) दर्शनपूर्वक (णाणं) यह ज्ञान (हवदि) होता है।

विशेषार्थ-यह आत्मा निश्चय नयसे अखंड एक शुद्ध ज्ञानमई है व व्यवहारनयसे संसारकी अवस्थामें कर्मोंसे ढका हुआ है। मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर पांच इन्द्रिय और मनके द्वारा जो कोई मूर्तीक और अमूर्तीक वस्तुओंको विकल्प सहित या भेद सहित जानता है वह मतिज्ञान है। सो तीन प्रकार है-मतिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे जो पदार्थोंको जाननेकी शक्ति प्राप्त होती है उसको उपलब्धि मतिज्ञान कहते हैं। यह नीला है, यह पीला है इत्यादि रूपसे जो पदार्थके जाननेका व्यापार उसको उप-

योग मतिज्ञान कहते हैं। जाने हुए पदार्थको वारवार चिन्तवन करना सो भावना मतिज्ञान है। यही मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणाके भेदसे चार प्रकार है। अथवा कोष्ट बुद्धि, बीज बुद्धि, पदानुसारी बुद्धि और संभिन्नश्रोत्रता बुद्धिके भेदसे भी चार प्रकार है। यह मतिज्ञान सत्ता अवलोकनरूप दर्शनपूर्वक होता है। यहां यह तात्पर्य है कि निश्चयनयसे निर्विकार शुद्धात्मानुभवके सन्मुख जो मतिज्ञान है वही उपादेयभूत अनंतसुखका साधक होनेसे ग्रहण योग्य है—उसीका साधक जो बाहरी मतिज्ञान है वह व्यवहारनयसे उपादेय है।

भावार्थ—पांच इंद्रिय और मनके द्वारा होनेवाले पदार्थोंके ज्ञानको मतिज्ञान कहते हैं, इस मतिज्ञानके लिये मतिज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम आवश्यक है। जितना क्षयोपशम होगा उतना ही ज्ञान प्रगट होगा यही आत्माका अशुद्ध या विभावज्ञान या मतिज्ञान कहलाता है। पांच इंद्रिय और मनकी बनावटको द्रव्यें-द्रिय कहते हैं—इनकी सहायतासे यह लब्धिरूप जो मतिज्ञान पहलेसे था वही जब पदार्थोंके जाननेमें उपयुक्त होता है तब उसको उपयोग कहते हैं। जाने हुएको वारवार विचारना सो भावना है। तीन तरह जो मतिज्ञानके ये भेद बताए हैं। यह मतिज्ञान चक्षु या अचक्षु दर्शन पूर्वक होता है। जब इंद्रिय किसी पदार्थको जाननेको सन्मुख हुई उसीके पीछे ही जो सत्ता मात्र पदार्थका ऐसा ग्रहण जिसका कोई आकार ज्ञानमें न झलके वह दर्शन है उसीके पीछे ही जो अस्पष्ट ग्रहण हो तब तो वह व्यंजनावग्रह है और जो स्पष्ट ग्रहण हो वह अर्थावग्रह है। अस्पष्ट ग्रहण मन और चक्षुसे न होकर मात्र स्पर्शादि शेष चार इंद्रियोंसे होता है

इसमें मात्र अवग्रह होकर रह जाता है। इसमें क्या पदार्थ है ऐसा निश्चय करनेके लिये ईहा, अवाय आदि नहीं होता हैं। अर्थावग्रहमें ईहा आदि होते हैं—ग्रहण करनेके पीछे जो वह पदार्थ हो उसीकी तरफ झुकता हुआ ज्ञान सो ईहा है और निश्चय यह होना कि यह अमुक पदार्थ है सो अवाय है, उसीकी धारणा बैठ जानी कि फिर भी स्मृति होजावे सो धारणा है।

बहुत पदार्थ, एक पदार्थ, बहुत प्रकारके पदार्थ, एक तरहके पदार्थ, शीघ्र गिरती हुई जलधारादि व अन्य शीघ्र चलती हुई वस्तु, मंद चलता हुआ घोड़ा आदि, गूढ—छिपा पदार्थ, प्रगट पदार्थ, विना कहा हुआ पदार्थ, कहा हुआ पदार्थ, स्थिर पर्वतादि पदार्थ, अस्थिर विजली आदि पदार्थ; इस तरह बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव, अध्रुव बारह प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा होता है इससे ४८भेद हुए। ये अड़तालीस भेद हरएक इन्द्रिय तथा मनसे हो सक्ते हैं इससे छः गुणा करनेसे २८८ दोसे अठासी भेद अर्थावग्रहरूप मतिज्ञानके हुए। व्यंजनावग्रह बारह प्रकार पदार्थोंका चार इन्द्रियोंसे होता है इससे उसके ४८ अड़तालीस भेद होते हैं—कुल भेद ३३६ तीनसौ छत्तीस मतिज्ञानके होते हैं। टीकाकारने जो दूसरे चार भेद बताए हैं वे बुद्धि ऋद्धिकी अपेक्षासे हैं जो मुनियोंके होती है। जैसे भंडारमें अनेक पदार्थ रक्खे जावें तो वे वैसे ही मिलते हैं तैसे जिसतरह अनेक शास्त्रोंका ज्ञान भिन्न २ प्राप्त किया था उसको उसी तरह स्मरण रखना—काल बीतनेपर उसी तरह भिन्न २ बता देना सो कोष्ठ बुद्धि है। ग्रन्थोंके एक बीज

( मूल ) पदके द्वारा उसके अनेक प्रकारके अर्थोंको जान लेना सो बीजबुद्धि है। ग्रंथके आदि मध्य या अंतके केवल एक पदको सुनकर सर्व ग्रंथको कह देनेकी शक्तिको पदानुसारी बुद्धि कहते हैं। बारह योजन लम्बे व नौ योजन चौड़े क्षेत्रमें ठहरनेवाले हाथी, घोडे, मनुष्य आदिके शब्दोंको दूरसे अलग २ सुन लेनेकी शक्तिको संभिन्नश्रोत्रताबुद्धि कहते हैं। मतिज्ञानसे सीधा पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। जिसको जाना था उस हीका स्मरण होना स्मृति है। उसीको पुनः इंद्रियों व मनके द्वारा जानकर समझना कि यह वही है जिसे पहले जाना था सो संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान है, पुनः २ संज्ञा होते हुए यह तर्क बांध देना कि जहां यह चिह्न होगा वहां यह चिह्नवाला होगा सो चिंता ज्ञान है, फिर कहीं चिह्नको देखकर चिह्नवालेका ज्ञान प्राप्त कर लेना सो अनुमान ज्ञान है। ये सब ज्ञान भी मतिज्ञानावरणीयके क्षयोपशमसे होते हैं इससे मतिज्ञान हैं जो गाथामें भावनाके भेदमें गर्भित होसक्ते हैं।

गोमटसारमें इस मतिज्ञानके भेदोंको इस तरह कहा है—

एक्कचउक्कं चउवीसट्ठावीसं च तिप्पडि किच्चा।
इगिछव्वारसगुणिदे मदिणाणे होंति ठाणाणि ॥ ३१३ ॥

भावार्थ—मतिज्ञान सामान्य करके तो एक है, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणाके भेदकर चार प्रकार है, पांच इंद्रिय छठा मनकरि अवग्रहादि होते हैं इससे चौवीस प्रकार है तथा व्यंजनावग्रह मात्र मन व चक्षु सिवाय चार इंद्रियसे होता है उसको भी लेकर अट्ठाईस भेद होते हैं, इस तरह इनको तीन जगह लिखे तथा उनको एक छः व बारहसे गुणे सामान्यपने एक विषयका ज्ञान होता

है तथा विशेषपने बहु बहुविध आदि छः विषयोंका और उनके प्रतिपक्षीको लेकर बारह तरहके विषयोंका ज्ञान होता है।

कुल भेद हुए

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| २८×१ | २८×६ | २८×१२ | = | ३३६ |
| २४×१ | २४×६ | २४×१२ | = | २८८ |
| ४×१ | ४×६ | ४×१२ | = | ४८ |
| १×१ | १×६ | १×१२ | = | १२ |

प्रयोजन यह है कि यह मतिज्ञान विभाव ज्ञान है-हेय है ऐसा समझकर आत्माका निज स्वाभाविक सहज ज्ञान ही उपादेय है ऐसा जानकर निरंतर उसीकी ही भावना करनी योग्य है।

उत्थानिका-आगे श्रुतज्ञानको कहते हैं—

सुदणाणं पुण णाणी भणंति लद्धी य भावणा चेव।
उवओगणयवियप्पं णाणेण य वत्थु अत्थस्स ॥ ४९ ॥

श्रुतज्ञानं पुनर्ज्ञानिनो भणन्ति लब्धिश्च भावना चैव।
उपयोगनयविकल्पं ज्ञानेन च वस्तु अर्थस्य ॥ ४९ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(पुण) फिर (णाणी) ज्ञानीजन (सुदणाणं) श्रुतज्ञानको (भणंति) कहते हैं (वत्थु अत्थस्स णाणेण य) पदार्थ और उसके भावको जाननेसे (लद्धी य भावणा चेव उवओग-णयवियप्पं) उस श्रुतज्ञानके लब्धि, भावना, उपयोग व नय ऐसे भेद होते हैं।

विशेषार्थ-वही आत्मा जिसने मतिज्ञानसे पदार्थको जाना था जब श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशम होनेपर जो मूर्त और अमूर्त पदार्थोंको जानता है उसको ज्ञानीजन श्रुतज्ञान कहते हैं। वह

श्रुतज्ञान जो शक्तिकी प्राप्ति रूप है सो लब्धि है, जो वार वार विचार रूप है सो भावना है। उसीके उपयोग और नय ऐसे भी दो भेद हैं। उपयोग शब्दसे वस्तुको ग्रहण करनेवाला प्रमाण ज्ञान लेना चाहिये तथा नय शब्दसे वस्तुके एक देशको ग्रहण करनेवाला ज्ञाताका अभिप्राय मात्र लेना चाहिये, क्योंकि कहा है–" नयो ज्ञातुरभिप्रायः " कि नय ज्ञाताका अभिप्राय मात्र है। जो गुणपर्याय रूप पदार्थका सर्व रूपसे जानना सो प्रमाण है और उसीके किसी एक गुण या किसी एक पर्याय मात्रको मुख्यतासे जानना सो नय है। यहां यह तात्पर्य है कि ग्रहण करने योग्य परमात्म तत्वका साधक जो विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव रूप शुद्ध आत्मीक तत्वका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व आचरण रूप जो अभेद रत्नत्रयरूप भावश्रुत है सो निश्चयनयसे ग्रहण करने योग्य है और व्यवहारनयसे इसी भावश्रुतज्ञानके साधक द्रव्यश्रुतको ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ–यह श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। पहले जो मतिज्ञानसे जाना कि यह घट है उसीमें घटवालेका व घटमें रक्खे पदार्थका इत्यादि जानना सो श्रुतज्ञान है। श्री गोमटसारमें कहा है–

> अत्थादो अत्थंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं।
> आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ॥ ३१४ ॥

भावार्थ–मतिज्ञानसे निश्चय किये हुए पदार्थके अवलम्बनसे उसी पदार्थके संबंधको लिये हुए अन्य कोई पदार्थको जानना सो श्रुतज्ञान है ऐसा कहते हैं, यह नियमसे मतिज्ञान पूर्वक होता है। इस श्रुतज्ञानके दो भेद हैं–एक अक्षरात्मक दूसरा अनक्षरात्मक। इन दोनोंमें जो अक्षर पद छंदादि रूप शब्दोंसे उत्पन्न अक्षरात्मक

श्रुतज्ञान है सो प्रधान है, क्योंकि देनालेना शास्त्र पढ़ना इत्यादि सर्व व्यवहारका मूल अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। तथा जो चिह्नसे उत्पन्न भया ऐसा अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है सो एकेन्द्रियसे लगाकर पंचेंद्रिय पर्यंत सर्व जीवोंके होता है। दृष्टांत यह है कि किसीने कहा "जीवः अस्ति" तब कर्णरूप मतिज्ञानसे "जीवः अस्ति" यह ग्रहण किया फिर इन शब्दोंके आलम्बनसे जो यह ज्ञान भया कि इसका अर्थ कोई जीव नामका पदार्थ है सो श्रुतज्ञान है। शब्द और अर्थका वाच्य वाचक सम्बन्ध है। शब्द वाचक है अर्थ वाच्य है। इससे यह श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है। तथा जैसे किसीको शीतल पवनका स्पर्श हुआ तब शीतल पवनका जानना सो मतिज्ञान है तथा तिस ज्ञानसे यह जानना कि यह वायुकी प्रकृतिवालेको अनिष्ट है सो अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। यह अक्षरके निमित्तसे नहीं भया इससे अनक्षरात्मक है।

**लोगाणमसंखमिदा अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा ।**
**वेरूवछट्ठवग्गपमाणं रूऊणमक्खरगं ॥ ३१५ ॥**

भावार्थ—अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके पर्याय व पर्यायसमास भेद हैं उनमें सर्व जघन्य ज्ञानसे उत्कृष्ट पर्यंत असंख्यात लोक प्रमाण ज्ञानके भेद हैं वे स्थान असंख्यातलोक वार षट्स्थान पतित वृद्धिको लिये हुए बढ़ते २ हैं। तथा अक्षरात्मक श्रुतज्ञानमें द्वि रूप वर्गधारामें जो एकट्ठी नामका छठा स्थान कहा उसमें एक घटाए जो प्रमाण रहे उतने अपुनरुक्त अक्षर हैं उनकी अपेक्षा संख्यात भेद लिये हैं।

**पज्जायक्खरपदसंघादं पडिवत्तियाणिजोगं च ।**
**दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ॥ ३१६ ॥**

तेसिं च समासेहिं य वीसविहं वा हु होदि सुदणाणं।
आवरणस्सवि भेदा तत्तियमेत्ता हवंतित्ति ॥ २१७ ॥

भावार्थ—भाव श्रुतज्ञानके वीस भेद ज्ञानके बढ़नेकी अपेक्षा इस भांति हैं (१) पर्याय (२) पर्याय समास (३) अक्षर (४) अक्षर समास (५) पद (६) पद समास (७) संघात (८) संघात समास (९) प्रतिपत्तिक (१०) प्रतिपत्तिक समास (११) अनुयोग (१२) अनुयोग समास (१३) प्राभृतक प्राभृतक (१४) प्राभृतक प्राभृतक समास (१५) प्राभृत (१६) प्राभृत समास (१७) वस्तु (१८) वस्तु समास (१९) पूर्व (२०) पूर्व समास। ये वीस प्रकार भाव श्रुतज्ञान हैं इसलिये इनके रोकनेवाले श्रुतज्ञानावरणके भी इतने ही भेद हैं।

अब सबसे कम पर्याय ज्ञान किसके होता है सो बताते हैं—

सुहमणिगोदअपज्जत्तगेसु सगसंभवेसु भमिऊण।
चरिमापुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्ठियेव हवे ॥ ३२० ॥

भावार्थ—सूक्ष्म निगोद लब्धि अपर्याप्तक जीव अपनेमें संभव जो छः हजार बारहवार क्षुद्रभव उनमें भ्रमणकर अन्तके लब्ध्यपर्याप्तक क्षुद्रभवमें जिसने विग्रहगतिमें तीन मोड़े लेकर जन्म धारा हो उसके पहले मोड़े सम्बन्धी समयमें सबसे जघन्य पर्याय नामका श्रुतज्ञान होता है। फिर ज्ञान बढ़ता जाता है। अनंत भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनंतगुण वृद्धि इस तरह छः स्थान पतित वृद्धियां होते २ पर्याय समास ज्ञान फिर बढ़ते हुए अक्षर ज्ञान होता है। इनका विशेष हाल गोमटसारसे जानना। यह अक्षरज्ञान श्रुतज्ञानका

संख्यातवां भाग मात्र है। इसीको अर्थाक्षरज्ञान कहते हैं। इस ज्ञानकी शक्तिको लब्धि अक्षर, कण्ठ, होठ, तालु आदिसे बोलने योग्य शब्द रूपको निवृत्ति अक्षर तथा पुस्तकादिमें स्थापनारूप आकार सो स्थापना अक्षर कहते हैं। सम्पूर्ण श्रुतज्ञानका स्वरूप यह है—

**पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।**
**पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥ ३३३ ॥**

केवलज्ञानका विषय वचनगोचर नहीं है—जितना कुछ जीवादि पदार्थका ज्ञान केवलीको है उसका अनंतवां भाग मात्र तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे कथन योग्य है तथा इस दिव्यध्वनिसे प्रगट पदार्थोंका भी अनंतवां भाग श्रुतज्ञानमें द्वादशांगरूप व्याख्यान किया जाता है अक्षरज्ञानपर एक एक अक्षरज्ञान बढ़ते हुए पदका ज्ञान जितना है उसमें एक अक्षरज्ञान कम अक्षर समास ज्ञान है। एक पदमें इतने अक्षरोंका ज्ञान होता है।

**सोलससयचउतीसा कोडी तियसीदिलक्खयं चेव।**
**सत्तसहस्साट्ठसया अट्ठासीदी य पदवण्णा ॥ ३३५॥**

भावार्थ—१६३४८३०७८८८ सोलासे चौंतीस क्रोड़ तिरासी लाख सात हजार आठसे अट्ठासी अपुनरुक्त जो दो दफे न आवें ऐसे अक्षरोंका एक पद होता है इसको मध्यम पद कहते हैं। जिस छन्दके जितने अक्षर होते हैं उसको प्रमाणपद व जिस वाक्यसे कोई अर्थ निकले उसे अर्थ पद कहते हैं। इस मध्यम पदमें एक २ अक्षर बढ़ाते हुए संख्यात हजारसे गुणा करने पर जितने अक्षर हैं उनका नाम संघात है उसमें एक अक्षर घटानेपर पद समासका प्रमाण होता है। संघातसे एक गतिका निरूपण होता है।

संख्यात हजार संघातके अक्षरोंका प्रतिपत्तिक होता है। इसमें एक घटाए संघातसमासका अंतका भेद होता है। यह प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान चारगतिका निरूपण करनेवाला है। इसको संख्यात हजारसे गुणा करने पर जितने अक्षर आवें उतनेका एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है उसमें एक घटाए अंतका प्रतिपत्तिक समासका भेद हुआ। यह अनुयोग चौदह मार्गणाके ज्ञानका बोधक है। अनुयोगके अक्षरोंमें चार आदि अनुयोगोंकी वृद्धि होने पर जितने अक्षर हों उनके समुदायको प्राभृतक प्राभृतक कहते हैं उसमें एक अक्षर घटाए अनुयोग समासका अंतिम भेद होता है। प्राभृत अधिकारको कहते हैं। उस प्राभृतके एक अधिकारको प्राभृतक प्राभृतक कहते हैं। चौवीस प्राभृतक प्राभृतकका एक प्राभृतक होता है इसमें एक अक्षर घटाए प्राभृतक प्राभृतक समासका अंतिम भेद है। बीस प्राभृतकका एक-वस्तुनाम श्रुतज्ञान है उसमें एक अक्षर घटाए अंतका प्राभृत समासका भेद है। इस वस्तुमें एक २ अक्षर बढ़ाते २ दस वस्तु प्रमाण ज्ञानको उत्पाद पूर्व ज्ञान कहते हैं। इसमें एक अक्षर घटाए वस्तु समासका अंतिम भेद है। इस उत्पाद पूर्वमें चौदह वस्तुज्ञानकी वृद्धि होनेपर अग्रायणीय पूर्व होता है इसमें एक घटाए उत्पादपूर्व समासका अंतिम भेद होता है। इस अग्रायणीय पूर्वमें आठ वस्तुज्ञान जोड़नेपर वीर्यप्रवाद होता है। इसमें अठारह वस्तुज्ञान जोड़नेपर अस्तिनास्ति प्रवाद होता है। इसमें बारहवस्तु ज्ञान जोड़नेपर ज्ञानप्रवाद होता है। इसमें फिर बारह वस्तु ज्ञान जोड़नेपर सत्य-प्रवाद होता है। इसमें सोलह वस्तु जोड़ने पर आत्मप्रवाद होता है। इसमें बीस वस्तु जोड़ने पर कर्मप्रवाद होता है। इसमें तीस वस्तु

जोड़नेपर प्रत्याख्यानप्रवाद होता है। इसमें पंद्रह वस्तु जोड़ने पर विद्यानुवाद पूर्व होता है। इसमें दस वस्तु जोड़ने पर कल्याणवाद होता है। इसमें दश वस्तु जोड़नेपर प्राणवाद होता है। इसमें दश वस्तु जोड़नेपर क्रिया विशाल होता है। इसमें दश वस्तु जोड़नेपर त्रिलोकबिंदुसार पूर्व होता है। हरएकमें एक अक्षर घटाने पर उसके पहले पूर्वका समासका अंत भेद होता है। इस तरह १०+१४+८+१८+१२+१२+१६+२०+३०+१५+१०+१०+१०+१०=१९५ सर्व एकसौ पंचाणवे वस्तुओंके ये चौदह पूर्व होते हैं। बीस २० प्राभृतक एक वस्तुमें होते हैं इससे चौदह पूर्वमें ३९०० उनतालीससौ प्राभृतक हुए। इन १४ पूर्वोंको पूर्व समास कहते हैं। यह श्रुतज्ञानका अंतिम भेद है–इन बीस २० भेदोंमेंसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके पर्याय और पर्याय समास दो भेद हैं, शेष अठारह भेद अक्षरात्मक श्रुतज्ञानके हैं। द्रव्यश्रुत वह है जिसके सुननेसे भाव श्रुतज्ञान हो। ऊपर जो अठारह प्रकार द्रव्यश्रुतके भेद हैं उनहीको बारह अंग और चौदह प्रकीर्णकोंमें विभक्त किया गया है।

कुल अपुनरुक्त अक्षर जिनमें यह द्रव्यश्रुत बांटा गया है द्वि वर्गधाराका छठा वर्गस्थान जो एकट्ठी है उसमें एक अक्षर घटाये जितने हों उतने हैं। अर्थात् दोको दोसे गुणे चार भए यह एक वर्गस्थान भया। फिर चारको चारसे गुणे सोलह हुए, यह दूसरा वर्गस्थान भया। १६ को १६ से गुणे २५६ हुए यह तीसरा वर्गस्थान हुआ। २५६ को २५६ से गुणे चौथा हुआ। इस तरह छः वर्गस्थानमें एक घटानेपर कुल अक्षर १८४४६७४४०७३७०

९९९१६१९ होते हैं। एक मध्यम पदमें अपुनरुक्त अक्षर १६३४८३०७८८८होते हैं तब कुल अक्षरोंमें पद कितने होंगे? भाग देनेपर ११२८३९८००९ पद निकलेंगे तथा ८०१०८१-७९ अक्षर बच रहेंगे एकसौ बारह करोड़ तिरासी लाख अठावन हजार पांच पदोंमें आचारांग आदि द्वादश प्रकार जिनवाणीके अंग हैं इसको अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान कहते हैं तथा आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एकसौ पचहत्तर अक्षरोंमें चौदह प्रकीर्णक हैं जिनको अंगबाह्य कहते हैं। जैसा कहा है—

वारुत्तरसयकोड़ी तेसीदी तह य होंति लक्खाणं।
अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अंगाणं॥ ३४९॥
अड्कोड़िएयलक्खा अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च।
पण्णत्तरि वण्णाओ पइण्णयाणं पमाणं तु॥ ३५०॥

भावार्थ—११२८३५८००५ कुल पद अंगोंके हैं तथा प्रकीर्णकोंके अक्षर ८०१०८१७५ हैं।

कुल अपुनरुक्त अक्षर १८४४६७४४०७३७०९९९१६१९ हैं। ये कैसे बनते हैं सो कहते हैं कि मूल वर्ण चौसठ हैं उनहीका परस्पर संयोग करनेसे इतने अक्षर बन जाते हैं। जैसे कहा है—

तेत्तीस वेंजिणाइं सत्तावीसा सरा तहा भणिया।
चत्तारि य जोगवहा चउसट्ठी मूलवण्णाओ॥ ३५१॥

अर्थात् तेतीस व्यंजन हैं अर्थात् क् ख् ग् घ् ङ्, च् छ् ज् झ् ञ्, ट् ठ् ड् ढ् ण्, त् थ् द् ध् न्, प् फ् ब् भ् म्, य् र् ल् व् श् ष् स् ह्, तथा सत्तावीस स्वर हैं अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ ये नौ स्वर हैं प्रत्येकके ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतके भेदसे तीन प्रकार भेद

हैं। जैसे अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ॠ३, ऌ, ॡ, ॡ३, ए, ए, ए३, ऐ, ऐ, ऐ३, ओ, ओ, ओ३, औ, औ, औ३, ये सत्ताईस स्वर हुए। चार अक्षर योगवाह हैं। जैसे अं अः ᳲक ᳲप सब मिलके ६४ अक्षर मूल वर्ण हैं, इनहीके परस्पर मिलानका विधान यह है–जैसे क् एक अक्षर है क् ख् द्विसंयोगी अक्षर है, क् ख् ग् त्रिसंयोगी है, क् ख् ग् घ् चार संयोगी है, क् ख् ग् घ् ङ् पांच संयोगी है। इसी तरह १० संयोगी बनेगा क् ख् ग् घ् ङ्, च् छ् ज् झ् ञ्। इसी तरह ख् ग् मिलानेसे द्विसंयोगी एक, ख् ग् घ् मिलानेसे त्रिसंयोगी एक, ख् ग् घ् ङ् मिलानेसे चार संयोगी एक, इस तरह मिलानेसे अक्षर बनते जायँगे क् से ञ् तक मिलानेका नकशा गोम्मटसारमें इस तरह दिया है–

| क् | ख् | ग् | घ् | ङ् | च् | छ् | ज् | झ् | ञ् | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | प्रत्येक |
| १ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | द्विसंयोगी |
| | जोड़ २ | १ | ३ | ६ | १० | १५ | २१ | २८ | ३६ | त्रिसंयोगी |
| | | जोड ४ | १ | ४ | १० | २० | ३५ | ५६ | ८४ | चतुःसंयोगी |
| | | | जोड़ ८ | १ | ५ | १५ | ३५ | ७० | १२६ | पंचसंयोगी |
| | | | | जोड़ १६ | १ | ६ | २१ | ५६ | १२६ | षट्संयोगी |
| | | | | | जोड़ ३२ | १ | ७ | २८ | ८४ | सप्तसंयोगी |
| | | | | | | जोड़ ६४ | १ | ८ | ३६ | अष्टसंयोगी |
| | | | | | | | जोड़ १२८ | १ | ९ | नवसंयोगी |
| | | | | | | | | जोड़ २५६ | १ | दससंयोगी |
| | | | | | | | | | जोड़ ५१२ | |

इस तरह ६४ अक्षरोंतक मिलाते हुए एक अंतका अक्षर ६४ अक्षरवाला होगा, तथा दूने दूने होते होते कुल अक्षर एक कम एकट्ठी प्रमाण अर्थात् २० अंक प्रमाण हो जांयगे। दोके अंकको ६४ चौसठ जगह लिखकर परस्पर गुणा करनेसे व १ घटानेसे कुल अक्षर एकट्ठीसे एक कम आजावेंगे। ऊपरके नकशेमें ञके खानेमें द्विसंयोगी ९ व त्रिसंयोगी ३६ हैं सो इस तरह होंगे—क्ञ्, ख्ञ्, ग्ञ्, घ्ञ्, ङ्ञ्, च्ञ्, छ्ञ्, ज्ञ्, झ्ञ्, ये नव द्विसंयोगी हुए। क्ख्ञ्, क्ग्ञ्, क्घ्ञ्, क्ङ्ञ्, क्च्ञ्, क्छ्ञ्, क्ज्ञ्, क्झ्ञ्, ख्ग्ञ्, ख्घ्ञ्, ख्ङ्ञ्, ख्च्ञ्, ख्छ्ञ्, ख्ज्ञ्, ख्झ्ञ्, ग्च्ञ्, ग्घ्ञ्, ग्ङ्ञ्, ग्च्ञ्, ग्छ्ञ्, ग्ज्ञ्, ग्झ्ञ्, घ्ङ्ञ्, घ्च्ञ्, घ्छ्ञ्, घ्झ्ञ् ङ्च्ञ्, ङ्छ्ञ्, ङ्ज्ञ्, ङ्झ्ञ्, च्छ्ञ्, च्ज्ञ्, च्झ्ञ्, छ्ज्ञ्, छ्झ्ञ्, ज्झ्ञ्, इस तरह छत्तीस त्रिसंयोगी हुए। अव द्वाशांगवाणीका स्वरूप व प्रत्येकके पद लिखते हैं—

१—आचारांग—इसमें मुनियोंके बाहरी आचरण हैं—कैसे चले बैठे उठे आदि।

२—सूत्रकृतांग—इसमें सूत्र रूप संक्षेपसे ज्ञानका, विनय आदि व धर्मक्रिया रूप कथन है।

३—स्थानांग—जिसमें एक दो तीन चार इस तरह बढ़ते २ स्थानोंका कथन हो जैसे संग्रहनयसे जीव एक प्रकार है, व्यवहार-दो प्रकार है संसारी व मुक्त, उत्पाद व्यय ध्रौव्यकरि तीन प्रकार है इत्यादि।

४—समवायांग—जिसमें समानतासे जीवादि पदार्थ बताए हों जैसे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय समान हैं। मुक्त जीव मुक्त जीव समान हैं। इस तरह द्रव्य क्षेत्रकालभावकी समानता वताई है।

५–व्याख्या प्रज्ञप्ति–इसमें गणधरके किये ६०००० प्रश्नोंके उत्तर हैं जैसे जीव अस्ति है कि नास्ति है, एक है कि अनेक हैं, नित्य है कि अनित्य है। इत्यादि।

६–ज्ञातृ धर्मकथा या नाथ धर्म कथा–इसमें तीर्थंकरके धर्मकी कथा व त्रैसठ शलाका पुरुषोंके धर्मकी कथा है।

७–उपासकाध्ययन–इसमें श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमा, क्रिया, मंत्रादिकका वर्णन है।

८–अंतकृद्दशांग–इसमें हरएक तीर्थंकरके समयमें दश दश मुनि घोर उपसर्ग सह मोक्ष गए उनका कथन है। श्री वर्द्धमान-स्वामीके समय ऐसे मुनि १ नमि, २ मतंग, ३ सोमिल, ४ राम-पुत्र, ५ सुदर्शन, ६ यमलीक, ७ वलिक, ८ किष्कंबल, ९ पाल-वष्ट १० पुत्र ये १० भये।

९–अनुत्तरोपपादिक दशांग–इसमें हरएक तीर्थंकरके समयमें दश मुनि उपसर्ग सह समाधिमरणकर विजयादिक अनु-त्तरोंमें जन्में उनका कथन है। श्री वर्द्धमानस्वामीके समयमें ऐसे मुनि १ ऋजुदास, २ धन्य, ३ सुनक्षत्र, ४ कार्तिकेय, ५ नंद, ६ नंदन, ७ सालिभद्र, ८ अभय, ९ वारिषेण, १० चिलाती पुत्र ये दश भये।

१०–प्रश्नव्याकरणांग–इसमें अतीत अनागत वर्तमान काल सम्बन्धी लाभ अलाभ आदि प्रश्नोंके उत्तर कहनेकी विधि तथा आक्षेपिणी अर्थात् चार अनुयोगको कहनेवाली व धर्ममें दृढ़ करनेवाली, विक्षेपिणी अर्थात् एकांत मतको खंडन करनेवाली, संवेजिनी अर्थात् धर्मानुराग करानेवाली, निर्वेजिनी अर्थात् संसा-रादिसे वैराग्य करानेवाली इन चार कथाओंका वर्णन है।

११–विपाकसूत्र–कर्मोंके उदय बंध सत्ता आदिका कहनेवाला है। इन ११ अंगोंके पद इस भांति हैं–

अट्ठारस छत्तीसं बादालं अडकडी अडवि छप्पण्णं।
सत्तरि अट्ठावीसं चउदालं सोलससहस्सा॥ ३५७॥
इगिदुगिपंचेयारं तिवीसदुतिणउदिलक्ख तुरियादी।
चुलसीदिलक्खमेया कोडी य विवागसुत्तम्हि॥ ३५६॥

| | | | |
|---|---|---|---|
| भावार्थ–१ | आचारांगके | मध्यमपद | १८००० |
| २ | सूत्रकृतांग | " | ३६००० |
| ३ | स्थानांग | " | ४२००० |
| ४ | समवायांग | " | १६४००० |
| ५ | व्याख्याप्रज्ञप्ति | " | २२८००० |
| ६ | ज्ञातृकथांग | " | ५५६००० |
| ७ | उपासकाध्ययनांगके | " | ११७०००० |
| ८ | अंतकृतदशांग | " | २३२८००० |
| ९ | अनुत्तरोपपादिक | " | ९२४४००० |
| १० | प्रश्नव्याकरण | " | ९३१६००० |
| ११ | विपाकसूत्र | " | १८४००००० |
| | | कुल पद | ४१५०२००० |

१२ वां अंग दृष्टिप्रवाद है इसमें कुल पद १०८६८५-६००५ हैं। सब द्वादशांगवाणीके पद ११२८३५८००५ हुए। बारहवें अंगके ५ अधिकार हैं।

१ परिकर्म, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ पूर्वगत, ५ चूलिका।

१–जिनमें गणितादिके सूत्र हैं सो परिकर्म है इसके पांच भेद हैं– १ चंद्रप्रज्ञप्ति, २ सूर्यप्रज्ञप्ति, ३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४ द्वीपसागर

प्रज्ञप्ति, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति। इसमें जीव अजीवादि पदार्थोंका प्रमाण है। २—सूत्र उसे कहते है जिसमें क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद मतोंके तीनसै तरेसठ एकांतमतोंका निरूपण है। ३—प्रथमानुयोगमें तरेसठ शालाका पुरुषोंके पुराण हैं। ४—चौदापूर्व हैं सो आगे कहते हैं। ५—चूलिका पांच प्रकार है—१ जलगता, २ स्थलगता, ३ मायागता, ४ रूपगता, ५ आकाशगता। अर्थात् जल, थलमें चलनेके मंत्रादि व इन्द्रजाल विक्रियाके मंत्रादि व हाथी घोड़ा आदि रूप रखनेके मंत्रादि व आकाशमें चलनेके मंत्रादिका जिनमें वर्णन है इनके पद इस भांति हैं—

| | | |
|---|---|---|
| १ चंद्रप्रज्ञप्तिमें | मध्यम पद | ३६,०५००० |
| २ सूर्य ,, | ,, | ५०३००० |
| ३ जंबूद्वीप ,, | ,, | ३२५००० |
| ४ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति | ,, | ५२३६००० |
| ५ व्याख्या ,, | ,, | ८४३६००० |
| | परिकर्मके कुल पद | १८१०५००० |
| १ परिकर्मके | कुल पद | १८१०५००० |
| २ सूत्रके | मध्यमपद | ८८००००० |
| ३ प्रथमानुयोगके | ,, | ५००० |
| ४ १४ पूर्वके | ,, | ९५५०००००५ |
| ५ चूलिकाके प्रत्येकके २०९८९२०० | ,, | |
| | तब पांचोंके | १०४९४६००० |
| बारहवें दृष्टिवादके कुलपद | | १०८६८५६००५ |

* * *

| चौदह पूर्वोंका वर्णन व पद संख्या | पद |
|---|---|
| १—उत्पाद पूर्व—पदार्थोंका उत्पाद व्यय ध्रौव्य कथन | १०००००० |
| २—अग्रायणीय पूर्व—७०० सुनय कुनय व ७ तत्व, ९ पदार्थ, ६ द्रव्योंका कथन | ९६००००० |
| ३—वीर्यानुवादपूर्व—जीव अजीवादिके वीर्यका; क्षेत्र, काल, भाव व तपके वीर्यका व द्रव्यगुण पर्यायकी शक्तिका कथन | ७०००००० |
| ४—अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व—अस्तिनास्ति आदिके सात भंगका कथन | ६०००००० |
| ५—ज्ञानप्रवाद पूर्व—आठ ज्ञानका कथन | ९९९९९९९ |
| ६—सत्य प्रवाद पूर्व—१२ प्रकार भाषा, दस प्रकार सत्य व असत्यके भेदोंका कथन | १००००००६ |
| ७—आत्मप्रवाद पूर्व—आत्मस्वरूपका कथन | २६००००००० |
| ८—कर्मप्रवाद पूर्व—कर्मप्रकृतिके बंधोदयादि कथन | १८०००००० |
| ९—प्रत्याख्यान पूर्व—त्यागका विधान कथन | ८४००००० |
| १०—विद्यानुवाद पूर्व—७०० अल्पविद्या, ५०० महाविद्या साधनेके मंत्र यंत्र व आठ निमित्तज्ञान कथन | ११०००००० |

| | |
|---|---|
| ११–कल्याणवाद पूर्व–शलाका पुरुषोंके कल्याणक कथनादि | २६००००००० |
| १२–प्राणवाद पूर्व–आठ प्रकार वैद्यक, स्वरोदय रोगहारी मंत्रादि कथन | १३००००००० |
| १३–क्रियाविशाल–संगीत, छंद, अलंकार, ७२ पुरुष ६४ स्त्री कला, गर्भाधानादि ८४ क्रिया, सम्यग्दर्शनादि १०८ क्रिया आदि कथन | ९०००००००० |
| १४–त्रिलोकबिंदुसार तीन लोक स्वरूप, बीज गणित, मोक्ष स्वरूपादि कथन | १२५०००००० |
| १४ पूर्वके कुल पद=९५५००००००५ | |

* * *

१४ प्रकीर्णकोंके कुल अपुनरुक्त अक्षर ८०१०८१७५ हैं उनके नाम इस भांति है—

१–सामायिक–सामायिकके भेद आदि कथन।

२–चतुर्विंशतिस्तव–२४ तीर्थंकरकी स्तुति।

३–वंदना–एक तीर्थंकरको मुख्यकर वन्दना।

४–प्रतिक्रमण–सात प्रकार प्रतिक्रमण व गतदोष निवारण कथन।

५–वैनयिक–पांच प्रकार विनयका कथन।

६–कृतिकर्म–नित्य नैमित्तिक वन्दना क्रिया कथन।

७–दशवैकालिक–काल विकाल स्वरूप कथन व मुनिकी आहार शुद्धता कथन।

८–उत्तराध्ययन–उपसर्ग परीषह सहन विधान कथन।

९–कल्पव्यवहार–मुनि योग्य आचरण कथन।

१०–कल्पाकल्प–मुनि योग्य व अयोग्य द्रव्य क्षेत्रादि कथन।

११–महाकल्प–जिन कल्पी स्थविरकल्पी मुनिका चारित्र।

१२–पुंडरीक–चार प्रकार देवोंमें उपजनेके कारण दान, पूजादि वर्णन।

१३–महापुण्डरीक–इंद्र अहमिंदमें उपजनेके कारण महातपादि कथन।

१४–निषिद्धिका–प्रायश्चित्तका कथन।

यह १४ प्रकीर्णक अंग बाह्य श्रुतज्ञानके भेद हैं।

श्रुतज्ञानद्वारा छःद्रव्योंका ज्ञान केवलज्ञानके समान हो जाता है केवल अन्तर यह है कि यह परोक्ष है केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जैसा गोमटसारमें कहा है—

सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं॥ ३६८॥

भावार्थ–श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों समस्त वस्तुओंके द्रव्य गुण पर्याय जाननेकी अपेक्षा समान हैं, विशेष यह है कि श्रुत ज्ञान परोक्ष है केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यश्रुतके द्वारा भावश्रुतज्ञान प्राप्त कर मुख्यतासे आत्माको अनुभव करना चाहिये, यही स्वात्मानुभव यथार्थ भावश्रुतज्ञान है। इसीके प्रतापसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। आत्मज्ञानीको ही समयसारमें निश्चयनयसे श्रुतकेवली कहा है—

जो हि सुदेणाभिगच्छदि अप्पाणमिणंतु केवलं शुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा॥

भावार्थ–जो श्रुतज्ञानके द्वारा अपने आत्माको केवल मात्र शुद्ध अनुभव करता है वही श्रुतकेवली है ऐसा लोकके ज्ञाता ऋषिगण कहते हैं ।

उत्थानिका–आगे अवधिज्ञानको कहते हैं–

ओहिं तहेव घेप्पदु देसं परमं च ओहिसव्वं च ।
तिण्णिवि गुणेण णियमा भवेण देसं तहा णियदं ॥४६॥

अवधिं तथैव गृह्यतां देशं परमं चावधिसर्वं च ।
त्रयोपि गुणेण नियमात् भवेन देशं तथा नियतं ॥ ४६ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(तहेव) तैसे ही (ओहिं) अवधि-ज्ञानको ( घेप्पदु ) ग्रहण करो, (देशं) देशावधि ( च परमं ) और परमावधि ( ओहिसव्वं ) और सर्वावधि ( तिण्णिवि ) तीनों ही (णियमा) नियमसे (गुणेण) सम्यक्तादि गुणसे होती हैं (तहा) तथा (भवेण) भवके द्वारा (णियदं) नियमसे (देसं) देशावधि होती है ।

विशेषार्थ–जो अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर मूर्तीक वस्तुको प्रत्यक्ष रूपसे जानता है वह अवधिज्ञान है । जैसे पहले श्रुतज्ञानको उपलब्धि, भावना तथा उपयोगकी अपेक्षा तीन भेदसे कहा था वैसे यह अवधिज्ञान भावनाको छोड़कर उपलब्धि तथा उपयोग स्वरूप है । अवधिज्ञानकी शक्ति सो उपलब्धि है, चेतनकी परिणतिका उधर झुकना सो उपयोग है तथा उसके तीन भेद और भी जानो–देशावधि, परमावधि, सर्वावधि । किन्तु इन तीनमेंसे परमावधि और सर्वावधि ज्ञान उन चरमशरीरी मोक्षगामी मुनियोंके होता है जो चैतन्य भावके उछलनेसे पूर्ण व आनन्दमई परम सुखामृत रसके आस्वादरूप परम समरसी भावमें परिणमन

कर रहे हैं। जैसा कि बचन है " परमोही सव्वोही चरमशरीरस्स विरदस्स" ये तीनों ही अवधिज्ञान विशेष सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके कारण नियमसे होते हैं तथा जो भवप्रत्यय अवधि है अर्थात् जो देव नारकियोंके जन्मसे होनेवाली अवधि है वह नियमसे देशावधि ही होती है यह अभिप्राय है।

भावार्थ—यह अवधिज्ञान पुद्गलोंको और संसारी जीवोंको जान सक्ता है। अमूर्तीक शुद्ध जीवोंको व अन्य अमूर्तीक चार द्रव्योंको नहीं जान सक्ता है। इस अपेक्षा यह ज्ञान केवलज्ञान होनेमें सहाई नहीं है जब कि श्रुतज्ञान सहाई है। यह अवधिज्ञान न भी हो तो भी मुनि श्रुतज्ञानके बलसे केवलज्ञानी हो सक्ते हैं। अवधि नाम मर्यादाका है। यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है। यही मर्यादा जहां कम है वह देशावधि है; जहां इससे भी अधिक है वह परमावधि है; जहां सर्व तरहसे पूर्ण है वह सर्वावधि है, तौभी द्रव्यकी अपेक्षा एक पुद्गलके परमाणु मात्रसे अधिक सूक्ष्मको यह सर्वावधि नहीं जान सक्ता है। श्री गोमटसारजीमें कहा है—

**भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्वअंगुत्थो।**
**गुणपच्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिह्नभवो ॥ ३७० ॥**

भावार्थ—भवप्रत्यय अवधिज्ञान जो जन्मसे ही होता है सो देव व नारकियोंके होता है तथा जन्मसे पैदा होनेवाले तीर्थंकरोंके भी होता है सो यह अवधिज्ञान सारे अंगसे होता है अर्थात् सर्व आत्माके प्रदेशोंमें ठहरे हुए अवधिज्ञानावरण तथा वी कर्मके क्षयोपशमसे पैदा होता है तथा जो सम्यग्दर्शनादि

वाला गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है वह पर्याप्त मनुष्य तथा सैनी पंचेन्द्री तिर्यंच पर्याप्तके संभव है सो सर्व अंगसे नहीं होता है किन्तु संख आदि चिह्नोंके वहां होता है अर्थात् नाभि कमलके ऊपर शंख, कमल, वज्र, सथिया, माछला, कलश इत्यादिकका आकाररूप जहां शरीरमें भले लक्षण हों वहांके आत्म प्रदेशोंमें तिष्टता जो अवधि ज्ञानावरणीय कर्म तथा वीर्यांतराय कर्म है उनके क्षयोपशमसे पैदा होता है।

जो गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है वह छः प्रकार है—

१ अनुगामी—जहां पैदा हो उससे भिन्न क्षेत्रमें तथा भिन्न भवमें साथ साथ जावे।

२—अननुगामी—जो ज्ञान अन्य क्षेत्रमें अथवा अन्य भवमें साथ न जावे।

३—वर्धमान—जो ज्ञान उत्पन्न होनेके पीछे बढ़ता जावे।

४—हीयमान—जो ज्ञान उत्पन्न होनेके पीछे घटता जावे।

५—अवस्थित—जो ज्ञान एकसा रहे।

६—अनवस्थित—जो ज्ञान कभी बढ़े कभी घटे।

**देसोहिस्स य अवरं णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं।**
**परमोही सव्वोहो च चरमसरीरस्स विरदस्स॥ ३७३॥**

भावार्थ—देशावधिका जघन्य भेद संयमी असंयमी मनुष्य तिर्यंचोंके होता है, देवनारकीमें नहीं होता है तथा उत्कृष्ट भेद संयमी महाव्रती मनुष्यमें होता है। परमावधि व सर्वावधि ज्ञान चरमशरीरी महाव्रतीके होते हैं।

अवधिज्ञानके असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं। देशावधिका

जघन्यज्ञान कितने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको जान सक्ता है सो बताते हैं-

णोकम्मुरालसंचं मज्झिमजोगज्जियं सविस्सचयं।
लोयविभत्तं जाणदि अवरोहो दव्वदो णियमा ॥ ३७६ ॥

भावार्थ-मध्यमें योगोंके परिणमनसे इकट्ठा किया हुआ जो नो कर्मरूप औदारिक शरीरका संचय अर्थात् औदारिकका सत्ता-रूप द्रव्य जिसमें उसके योग्य विस्रसोपचयरूप परमाणु भी हों अर्थात् जो बंधे न हों परन्तु वहीं तिष्ठते हों उन सहित जितना द्रव्य हो उसको लोकप्रमाण असंख्यातका भाग देनेपर जितना एक भाग मात्र द्रव्य हो उतनेको जघन्य देशावधि जान सक्ता है इससे अल्पस्कंधको न जाने किन्तु इससे अधिक मोटे स्कंधको तो जान ही सक्ता है। यह सूक्ष्म स्कंध भी इंद्रियगोचर नहीं है उसको यह ज्ञान प्रत्यक्ष देखता है।

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तिदियसमयम्हि।
अवरोगाहणमाणं जहण्णयं ओहिखेत्तं तु ॥ ३७७ ॥

भावार्थ-सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीवके जन्मसे तीसरे समयमें जो जघन्य अवगाहनाका प्रमाण है वही देशावधिका जघन्य क्षेत्र है। इतने क्षेत्रमें तिष्ठते पहले प्रमाण स्थूल स्कंध तकको जान सक्ता है इस क्षेत्रके बाहरकी न जाने। यह घनांगुलके असं-ख्यातवें भाग प्रमाणक्षेत्र है अर्थात् एक उत्सेध या व्यवहार अंगु-लके असंख्यातवें भागको घन करनेसे घनांगुलका असंख्यातवां भाग होता है। शरीरका नाप उत्सेधांगुलसे है। द्वीपसमुद्रादिकी माप इससे पांचसौगुणा प्रमाणांगुलसे है।

आवलिअसंखभागं तीदभविस्सं च कालदो अवरं ।
ओही जाणदि भावे कालअसंखेज्जभागं तु ॥ ३८२ ॥

भावार्थ-कालकी अपेक्षासे जघन्य देशावधिज्ञान आवलीके असंख्यातवें भाग मात्र अतीत व अनागतको जाने अर्थात् अपने योग्य द्रव्यकी व्यंजन पर्याय या अवस्थाको जो इतने समयोंमें हो चुकी हैं व होंगी उन्हें जाने है तथा भावकी अपेक्षा अर्थपर्यायको जाने अर्थात् उस द्रव्यकी परिणमन रूप अर्थपर्याय हैं उनमेंसे आवलीके असंख्यातवें भागके असंख्यातवें भाग प्रमाण जो पर्यायें हैं उनको जाने। जघन्य देशावधिके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे बढ़ते२ मध्यम देशावधिके द्रव्यादि होते हैं।

द्रव्यकी अपेक्षा सूक्ष्म२ जानेगा। उसका नियम यह है कि सिद्ध राशिके अनंतवें भाग या अभव्यराशिसे अनंत गुणा जो है उसको ध्रुवहार कहते हैं इससे पहले जानने योग्य द्रव्यको भाग देने पर जितना लब्धि आवे उतने परमाणुके स्कंधको आगेका भेद जानेगा, यही नियम सर्वावधिके द्रव्य तक जान लेना चाहिये। उत्कृष्ट देशावधिका द्रव्य कार्माणवर्गणाको एक वार ध्रुवहारका भाग देनेपर जितना हो उतनेको जानलेना है. मध्यमें अनेक भेद हैं। द्रव्यकी अपेक्षा जब सूच्यंगुलके असंख्यातवां भाग प्रमाण भेद हो जावें वहांतक जघन्यक्षेत्र मात्र ज्ञानका विषय रहता है। फिर एक प्रदेश बढ़ जावे। इसी तरह जब फिर द्रव्यकी अपेक्षा सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण भेद हो जावें तब एक प्रदेश क्षेत्र और बढ़जावे इसतरह उत्कृष्ट देशावधिका क्षेत्र लोक प्रमाण है।

अंगुलअसंखभागं अवरं उक्कस्सयं हवे लोगो।
इदि वग्गणगुणगारो असंखधुवहारसंवग्गो ॥ ३६० ॥

भावार्थ—जघन्य देशावधिका क्षेत्र सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनाके समान घनांगुलका असंख्यातवां भाग मात्र है और उत्कृष्ट क्षेत्र लोक प्रमाण है अर्थात् उत्कृष्ट देशावधि सर्व लोकमें तिष्ठे अपने योग्य विषयको जान सक्ता है। इस तरह दो कम जितने भेद देशावधिके द्रव्यकी अपेक्षासे होते हैं उतने ध्रुवहार लिखकर परस्पर गुणना इसको संवर्ग कहते हैं ऐसा करनेसे जो प्रमाण हुआ वही कार्माण वर्गणाका गुणाकार जानना।

वग्गणरासिपमाणं सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तंपि।
दुगसहियपरमभेदपमाणवहाराण संवग्गो ॥ ३६१ ॥

भावार्थ—कार्मण वर्गणाराशिका प्रमाण सिद्ध राशिसे अनंतवे भाग मात्र है तथापि परमावधि ज्ञानके जितने भेद हैं उनमें दो मिलाकर जो प्रमाण हों उतने ध्रुवहार लिखकर परस्पर गुणा किये जो प्रमाण हो उतने परमाणुके स्कंधरूप कार्मण वर्गणा जाननी। कार्मण वर्गणाको एकवार ध्रुवहारका भाग देनेपर उत्कृष्ठ देशावधिका द्रव्य होता है। पीछे परमावधिके जितने भेद हैं उतनीवार क्रमसे ध्रुवहारका भाग दिये उत्कृष्ठ परमावधिका विषयरूप द्रव्य होता है। उसीको एकवार ध्रुवहारका भाग दिये एक परमाणु मात्र सर्वावधिका विषय होता है।

देशावधिज्ञानके मध्यम भेदोंका नमूना बताते हैं कि अब यह ज्ञान विस्रसोपचय सहित तैजस शरीर रूप स्कंधको जाने व विस्रसोपचय सहित कार्मण शरीररूप स्कंधको जाने व विस्रसोपचय

विना केवल तैजस वर्गणाको जाने व विस्रसोपचय रहित केवल भाषा-वर्गणाको जाने व विस्रसोपचय रहित केवल मनोवर्गणाको जाने, इन पांच स्थानोंमें क्षेत्रका प्रमाण असंख्यात द्वीप समुद्र है व कालका प्रमाण पांच असंख्यात वर्ष है। भावार्थ—असंख्यातद्वीप समुद्रमें प्राप्त प्रकार स्कंधको असंख्यात वर्ष अतीत अनागत यथायोग्य पर्यायवारीको जाने। यहां इन पांच भेदोंमें पहले भेदमें जितना क्षेत्र कालका प्रमाण है उससे दूसरा भेद सम्बन्धी क्षेत्रकालका प्रमाण असंख्यात गुणा है उससे तीसरेका उससे चौथेका उससे पांचवेंका असंख्यात गुणा है। सामान्यसे सबका असंख्यात द्वीप समुद्र और असंख्यात वर्षकाल है क्योंकि असंख्यातके भेद बहुत हैं।

आवलिअसंखभागो जहण्णकालो कमेण समयेण ।
वड्ढदि देसोहिवरं पल्लं समऊणयं जाव ॥ ३९९ ॥

देशावधिका विषयभूत जघन्यकाल आवलीका असंख्यातवां भाग प्रमाण है सो यह अनुक्रम कर ध्रुववृद्धि या अध्रुववृद्धि कर एक एक समय बढ़ते२ एक समय कम पल्य प्रमाण उत्कृष्ट देशावधिका काल है। अर्थात् उत्कृष्ट देशावधि एक समय कम पल्य प्रमाण अतीत अनागतकालके अपने योग्य विषयको जाने हैं। देशावधि ज्ञानके उगनीसकांडक या मोटे२ भाग होते हैं।

(१) प्रथम कांडकके अंतमें क्षेत्र घनांगुलके असंख्यातवें भाग है व काल आवलीके असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

(२) दूसरे कांडके अंतमें क्षेत्र घनांगुल प्रमाणकाल कुछकम आवली
(३) तीसरे „ „ „ ३से ९ घनांगुल „ ३से ९ आवली
(४) चौथे „ „ „ एक हाथ „ ३से ९ आवली

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| (५) पांचवें कांडकके अंतमें | क्षेत्र | | एक कोश | काल | अंतर्मुहूर्त्त |
| (६) छठे | ,, | ,, | ,, एक योजन | ,, | कुछकम मुहूर्त्त |
| (७) सातवें | ,, | ,, | ,, पचीसयोजन | ,, | कुछकम एक दिन |
| (८) आठवें | ,, | ,, | ,, भरतक्षेत्र | ,, | आधमास |
| (९) नौमें | ,, | ,, | ,, जंवूद्वीप | ,, | कुछ कम १ मास |
| (१०) दसमें | ,, | ,, | ,, ढाईद्वीप | ,, | एक वर्ष |
| (११) ग्यारहवें | ,, | ,, | ,, रुचकद्वीप तक | ,, | ३से ९ वर्ष |
| (१२) बारहवें | ,, | ,, | ,, संख्यातद्वीप समुद्र | ,, | संख्यात वर्ष |
| (१३) तेरहवें | ,, | ,, | ,, असंख्यातद्वीपसमुद्र | ,, | असंख्यात वर्ष |

इसके आगे हरएक कांडकमें असंख्यातगुण क्षेत्र व काल बढ़ता जाता है।

(१९) उन्नीसवें कांडकके अंतमें क्षेत्र सर्वलोक, काल एक समय कम पल्य तव यह उत्कृष्ट देशावधि कार्मणवर्गणाको एकवार ध्रुवहारका भाग देनेपर जितना सूक्ष्म स्कंध हो उसको जान सक्ता है।

**पल्ल समऊण काले भावेण असंखलोगमेत्ता हु।**
**दव्वस्स य पज्जाया वरदेसोहिस्स विसया हु॥ ४१०॥**

भावार्थ—देशावधिका उत्कृष्ट काल एक समय कम पल्य प्रमाण है उसमें भावकी अपेक्षा असंख्यातलोकप्रमाण जो द्रव्यकी पर्यायें हैं उनको उत्कृष्ट देशावधि जाने हैं अर्थात् इतने अतीत कालमें जो द्रव्यकी पर्यायें हुईं व इतने भविष्यकालमें होंगीं उन सव पर्यायों-मेंसे असंख्यातलोकप्रमाण पर्यायोंको उत्कृष्ट देशावधि भावकी अपेक्षा जानता है।

इस अवधिज्ञानमें जब कालकी वृद्धि हो तब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों ही बढ़ते हैं। जब क्षेत्रकी वृद्धि हो तब कालकी वृद्धि होय भी और न भी होय। जब द्रव्य और भावकी वृद्धि हो तो कालकी वृद्धि होय वा न होय। द्रव्य और भावकी वृद्धि एक साथ होती है।

परमावधि ज्ञानका जघन्य द्रव्य उतना होगा जितना देशावधि ज्ञानका उत्कृष्ट द्रव्य था उसको एकबार ध्रुवहारका भाग देने पर जो आवे उतने परमाणुके स्कंधको यह जान सक्ता है। अग्निकायकी अवगाहनाके भेदोंको अग्निकायके जीवोंकी संख्यासे गुणा करनेपर जितना हो उतने भेद परमावधिके हैं। हरएक भेदमें ध्रुवहारका भाग देनेपर अन्तमें उत्कृष्ट परमावधिके जानने योग्य परमाणुका स्कंध आजावेगा।

सव्वावहिस्स एक्को परमाणू होदि णिव्वियप्पो सो।
गंगामहाणइस्स पवाहोव्वं धुवो हवे हारो ॥ ४१४ ॥

भावार्थ—उत्कृष्ट परमावधिके विषयभूत द्रव्यको ध्रुवहारका भाग देनेपर एक परमाणु मात्र आता है सो सर्वावधिके ज्ञानका विषय है। इस सर्वावधि ज्ञानके भेद नहीं होते हैं, जैसे महागंगा नदी हिमवानसे निकल क्रमसे पूर्व समुद्रमें जाती है तैसे जघन्य देशावधिके ज्ञानमें ध्रुवहारका भाग होते होते परमावधि ज्ञानका उत्कृष्ट भेद निकलेगा सो अन्तमें परमाणुतक ठहरा। परमावधिज्ञानके विषयभूत द्रव्यकी अपेक्षा जितने भेद हैं उतने ही भेद क्षेत्र व कालकी अपेक्षा हैं। हरएक भेदमें एक दूसरेसे असंख्यात गुणा क्षेत्र और काल जानना चाहिये।

सर्वावधिका उत्कृष्ट क्षेत्र पांच दफे असंख्यात लोक प्रमाणसे लोकको गुणे इतना है अर्थात् शक्तिकी अपेक्षा अलोकाकाशमें भी क्षेत्र चला गया है जो परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रसे असंख्यातगुणा है तथा कालकी अपेक्षा परमावधिके उत्कृष्ट कालको असंख्यात लोकप्रमाणसे गुणे जितना हो उतना काल सर्वावधि ज्ञानका है।

**आवलिअसंखभागा जहण्णदव्वस्स होंति पज्जाया।**
**कालस्स जहण्णादो असंखगुणहीणमेत्ता हु ॥ ४२१ ॥**
**सव्वोहित्तियकमसो आवलियअसंखभागगुणिदकमा।**
**दव्वाणं भावाणं पदसंखा सरिसगा होंति ॥ ४२२ ॥**

भावार्थ—भावकी अपेक्षा जघन्य देशावधि ज्ञानके विषयभूत द्रव्यकी पर्यायें आवलीके असंख्यातवें भाग हैं अर्थात् यह प्रमाण जघन्य देशावधिके कालके प्रमाणसे असंख्यात गुणा कम है। देशावधिके विषयभूत द्रव्यकी अपेक्षा जघन्य भेद जहां है वहां ही भावकी अपेक्षा द्रव्यकी पर्यायरूप आवलीका असंख्यातवां भाग प्रमाण जघन्य भेद है। जहां द्रव्यकी अपेक्षा दूसरा भेद है वहां ही भावकी अपेक्षा दूसरा भेद है जो पहले भेदको आवलीके असंख्यातवें भाग प्रमाणसे गुणनेपर होता जाता है। जैसे द्रव्यके भेद व्यवहारके भाग देने पर सूक्ष्म सूक्ष्म होते जाते वैसे भाव आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणनेपर हरस्थानपर बढ़ते जाते हैं। यही क्रम सर्वावधिज्ञान तक द्रव्य तथा भावोंका जानना चाहिये। द्रव्य और भावोंके भेदोंकी संख्या बराबर होती है।

**सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं प [illegible]**
**जाव य पढमे णिरये जोयणमेक्कं [illegible] ॥**

भावार्थ—सातवें नरकमें अवधिका क्षेत्र एक कोस है। फिर आध आध कोस हरएकमें बढ़ता हुआ प्रथम नरकमें एक योजन अर्थात् चार कोस है ।

तिरिये अवरं ओघो तेजोयंते य होदि उक्कस्सं ।
मणुए ओघं देवे जहाकमं सुणह वोच्छामि ॥ ४२४ ॥

भा०—तिर्यंच जीवमें जघन्य देशावधि ज्ञानसे लेकर वहांतक देशावधि होता है जिसका विषय तैजस शरीर है। मनुष्यगतिमें जघन्यसे उत्कृष्ट सर्वावधि तक सब भेद होते हैं। देवोंका क्रमसे कहते हैं। सुनो—

पणुवीसजोयणाइं दिवसंतं च य कुमारभोम्माणं ।
संखेज्जगुणं खेत्तं वहुगं कालं तु जोइसिगे ॥ ४२५ ॥
असुराणमसंखेज्जा कोडीओ सेसजोइसंताणं ।
संखातीदसहस्सा उक्कस्सोहोण विसओ दु ॥ ४२६ ॥
असुराणमसंखेज्जा वस्सा पुण सेसजोइसंताणं ।
तस्संखेज्जदिभागं कालेण य होदि णियमेण ॥
भवणतियाणमधोधो थोवं तिरियेण होदि वहुगं तु ।
उड्ढेण भवणवासो सुरगिरिसिहरोत्ति पस्संति ॥ ४२६ ॥

भावार्थ—भवनवासी और व्यंतरोंमें अवधिका विषय जघन्य क्षेत्र पचीस योजन है और काल कुछ कम एक दिन है। ज्योतिषियोंमें जघन्य क्षेत्र इससे असंख्यात गुणा व काल इससे अधिक है। असुरकुमार भवनवासियोंके उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात कोड़ योजन है, शेष नौ तरहके भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिषियोंका उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात हजार योजन है। असुर कुमारोंका उत्कृष्ट काल असंख्यात वर्ष है इससे संख्यातवां भाग काल शेष भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिषियोंका उत्कृष्ट है। इन तीनों प्रकारके देवोंके

नीचेकी तरफ क्षेत्र थोड़ा है, वरावरकी तरफ क्षेत्र बहुत है। भवनवासी देव अपने स्थानसे मेरुगिरिके शिपर तक देख सक्ते हैं।

सक्कीसाणा पढमं विदियं तु सणकुमारमाहिंदा।
तदियं तु ब्रह्मलांतव सुक्कसहस्सारया तुरियं ॥ ४२६ ॥
आणदपाणदवासी आरण तह अच्चुदा य पस्संति।
पंचमखिदिपेरंतं छट्ठिं गेवेज्जगा देवा ॥ ४३० ॥
सव्वं च लोयणालिं पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा।
सक्खेत्ते य सकम्मे रूवगदमणंतभागं च ॥ ४३१ ॥

भावार्थ—सौधर्म ईशान स्वर्गवाले अवधिसे प्रथम नरक तक, सानत्कुमार माहेन्द्रके देव दूसरे नरक तक, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लांतव कापिष्टवाले तीसरे नर्क तक, शुक्र महाशुक्र, शतार सहस्रारवाले चौथे नर्कतक, आनत प्राणत, आरण अच्युतवाले पांचवें तक, नौ ग्रैवेयकवाले छठे नर्क तक तथा नौ अणुदिश व पांच अणुत्तरवाले त्रस नाड़ी तक देखते हैं। ऊपर सब स्वर्गके देव अपने स्वर्गके विमानकी ध्वजादंडके शिपर तक देखते हैं। नौ अणुदिशवाले कुछ अधिक तेरह राजू प्रमाण लंबी और पांच अणुत्तरवाले चारसे पच्चीस धनुष कम इकीस योजनसे घाट चौदह राजूतक लंबा तथा एक राजू चौड़ा अवधिके क्षेत्रको जानते हैं—

सोहम्मीसाणाणमसंखेज्जाओ हु वस्सकोडीओ।
उवरिमकप्पचउक्के पल्लासंखेज्जभागो दु ॥ ४३४ ॥
तत्तो लांतवकप्पप्पहुदी सव्वत्थसिद्धिपेरंतं।
किंचूणपल्लमेत्तं कालपमाणं जहाजोग्गम् ॥ ४३६ ॥

भा०—सौधर्म ईसानवालोंके अवधिका काल असंख्यात कोड़ वर्ष प्रमाण है, उसके ऊपर चार स्वर्गवालोंका यथायोग्य पल्यका असं-

ख्यातवां भाग है, उसके ऊपर लांतवको आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि तकके यथायोग्य कुछ कम एक पल्य प्रमाण है ।

जोइसियंतणोहोखेत्ता उत्ता ण होंति घणपदरा।
कप्पसुराणं च पुणो विसरित्थं आयदं होदि ॥ ४३६ ॥

भा०—भवनवासी आदि तीन प्रकार देवोंके अवधिका क्षेत्र बराबर चौकोर घनरूप नहीं है, किंतु मनुष्य, नारकी व तिर्यंचके बराबर चौकोर घनरूप है । तथा कल्पवासीका क्षेत्र लम्बा बहुत चौड़ा कम है ।

इस तरह कुछ वर्णन गोमटसार देखकर लिखा है विशेष वहांसे जानना योग्य है। जिस आत्मानुभवके प्रतापसे सर्वावधि ज्ञान होसक्ता है वही हर तरह उपादेय हैं यह भावार्थ है ।

उत्थानिका—आगे मनःपर्ययज्ञानको कहते हैं—

विउलमदी पुण णाणं अज्जवणाणं च दुविह मणणाणं ।
एदे संजमलद्धी उवओगे अप्पमत्तस्स ॥ ४७ ॥

विपुलमतिः पुनर्ज्ञानं ऋजुज्ञानं च द्विविधं मनःज्ञानं ।
एतौ संयमलब्धो उपयोगे अप्रमत्तस्य ॥ ४७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(पुण) फिर (अज्जवणाणं) ऋजुमतिज्ञान (च) और ( विउलमदी णाणं ) विपुलमतिज्ञान (दुविहं) यह दो प्रकारका (मणणाणं) मनःपर्ययज्ञान होता है (एदे) ये दानों (अप्पमत्तस्स) अप्रमत्त मुनिके (उवओगे) उपयोगमें (संजमलद्धी) संयमके द्वारा प्राप्त होते हैं ।

विशेषार्थ—यह आत्मा मनःपर्यय ज्ञानावरणीयके क्षयोपशम होनेपर दूसरेके मनमें प्राप्त मूर्तीकवस्तुको जिसकेद्वारा प्रत्यक्ष

जानता है वह मनःपर्यय ज्ञान है, उसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। इनमें विपुलमति मनःपर्ययज्ञान दूसरेके मनमें प्राप्त पदार्थको सीधा व वक्र दोनोंको जानता है जब कि ऋजुमति मात्र सीधेको ही जानता है। इनमेंसे विपुलमति उन चरमसरीरी मुनियोंके ही होता है जो निर्विकार आत्मानुभूतिकी भावनाको रखनेवाले हैं तथा ये दोनों ही उपेक्षा संयमकी दशामें संयमियोंको ही होते हैं और केवल उन मुनियोंको ही होते हैं जो वीतराग आत्मतत्वके सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान व चारित्रकी भावना सहित, पन्द्रह प्रमाद रहित अप्रमत्त गुणस्थानके विशुद्ध परिणाममें वर्त रहे हों। जब यह उत्पन्न होता है तब सातवें गुणस्थानमें ही होता है यह नियम है। फिर प्रमत्तके भी बना रहता है, यह तात्पर्य है।

इस ज्ञानकी भी केवलज्ञानके लिये आवश्यक्ता नहीं है। यह एक विशेष ऋद्धि है। श्रीगोमटसारजीमेंसे इसका कुछ वर्णन यहां दिया जाता है—

**चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।**
**मणपज्जवन्ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए॥ ४३७॥**

भावार्थ—भूतकालमें जिसका चिंतवन किया था व भविष्यमें जो चिंतवन किया जायगा व जो आधा या अपूर्ण विचारमें आया उस सर्व अनेक भेद रूप पदार्थको जो जाने सो मनःपर्यय ज्ञान है इसकी उत्पत्ति तथा क्षेत्र मनुष्यलोक अर्थात् ४५ लाख योजन प्रमाण चौड़े ढाईद्वीपमें ही है। पराये मनमें तिष्ठता जो अर्थ सो मन है उसको पर्येति अर्थात् जाने सो मनःपर्यय है।

**मणपज्जव च दुविहं उज्जुविउलमदित्ति उज्जुमदी तिविहा।**
**उज्जुमणवयणे काए गदत्थविसयात्ति णियमेण॥ ४३८॥**

भावार्थ—मनःपर्यय ज्ञानके दो भेद हैं ऋजुमति, विपुलमति। ऋजुमतिके तीन भेद हैं। सरलपने मन या वचन या कायसे किये हुए पदार्थको जो दूसरेके मनमें चिंतवनमें आया उसको ऋजुमति जानता है।

**विउलमदीवि य छद्धा उजुगाणुजुवयणकायचित्तगयं।**
**अत्थं जाणदि जम्हा सद्दत्थगया हु ताणत्था ॥ ४३९ ॥**

भावार्थ—यह विपुलमति छः प्रकार है—सरल मन, वचन, कायसे किये हुए तथा वक्रमन वचन कायसे किये हुए पदार्थको जो दूसरेके मनमें हो उसे यह जानता है।

इन दोनोंके विषय शब्दको व अर्थको प्राप्त भए प्रगट होते हैं अर्थात् दूसरेके कहनेसे व विना कहे उस पदार्थके निमित्तसे प्रगट होते हैं। जैसे—कोई जीव सरल मनसे किये हुए त्रिकाल सम्बन्धी पदार्थोंको चिंतवता भया या सरल वचनकरि किये हुएको कहता भया या सरल कायसे किये जानेवालेको करता भया, पीछे भूलकर कालांतरमें याद न कर सका तब आयकर ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानीको पूछता भया वा याद करनेका अभिप्राय धर मौन हीसे खड़ा रहा तब वहां वह मुनि ऋजुमति ज्ञानसे सर्व जान लेगा। इस ही तरह सरल तथा वक्र मन बचन कायसे किये हुए त्रिकाल सम्बन्धी पदार्थको कोई चिंतवता भया, कहता भया या करता भया फिर भूलकर आयकर विपुलमतिवालेसे पूछे या मौनसे खड़ा रहे तो वे मुनि विपुलमतिसे सब जान लेवेंगे।

**तियकालविसयरूवं चिंतितं वट्टमाणजीवेण।**
**उजुमदिणाणं जाणदि भूदभविस्सं च विउलमदी ॥४४१॥**

भावार्थ–तीनकाल सम्बन्धी पुद्गल द्रव्यको वर्तमान कालमें कोई जीव चिंतवन करे उसको ऋजुमति जानता है तथा तीनकाल सम्बन्धी पुद्गल द्रव्यको किसी जीवने भूतकालमें चिंतया था, वर्तमानमें चिंतता है तथा भविष्यमें चिंतवेगा ऐसे तीनकालमें चिंतवन किये हुए पुद्गल द्रव्यको विपुलमति जानता है।

**सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जह ओही।**
**मनपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा ॥ ४४१ ॥**

भावार्थ–जैसे पहले कहा था कि भवप्रत्यय अवधि ज्ञान सर्व अंगसे व गुणप्रत्यय शंखादिक चिह्नोंसे उपजता है वैसे यह मनःपर्ययज्ञान द्रव्यमनसे नियम पूर्वक उपजता है और अंगोंके प्रदेशोंसे नहीं उपजाता है।

**हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा।**
**अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा ॥ ४४२ ॥**

भावार्थ–यह द्रव्यमन हृदय स्थानमें प्रफुल्लित आठ पत्तोंके कमलके आकार अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे तेइस जातिकी पुद्गल वर्गणामेंसे मनोवर्गणाके स्कन्धोंसे निपजता है यह नियम है।

**णोइंदियत्ति सण्णा तस्स हेव सेसइंदियाणं वा।**
**वत्ततामावादो मणमणपज्जं च तत्थ हवे ॥ ४४३ ॥**

भावार्थ–मनका नाम नोइंद्रिय या कुछ इन्द्रिय है, क्योंकि मन और इन्द्रियोंकी तरह प्रगट नहीं दिखता है। इसी द्रव्यमनमें मतिज्ञानरूप भावमन भी होता है और मनपर्यय ज्ञान भी होता है। यह प्रगट है कि मनःपर्यय ज्ञानावरणका क्षयोपशम द्रव्यमनके स्थान पर ही होता है अन्यत्र नहीं।

मणपज्जवं च णाणं सत्तसु विरदेसु सत्तइड्ढोणं ।
एगादिजुदेसु हवे वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु ॥ ४४४ ॥

भावार्थ–यह मनःपर्ययज्ञान प्रमत्तसे क्षीण कषाय गुणस्थान तक उन साधुओंके पाया जाता है जो बुद्धि, तप, वैक्रियिक, औषधि, रस, वल, अक्षीण इन सात ऋद्धियोंमेंसे एक दो आदि सहित हों व जिनका चारित्र वर्द्धमान विशेष होरहा हो। पैदा तो अप्रमत्तमें होता है,परन्तु सात गुणस्थानोंमें पाया जाता है।

परमणसिट्ठियमट्ठं ईहामदिणा उज्जुट्ठियं लहिय ।
पच्छा पच्चक्खेण य उज्जुमदिणा जाणदे णियमा ॥४४७॥

भावार्थ–परके मनमें सरलपने चिंतवनरूप तिष्ठता जो पदार्थ उसको पहले तो ईहा नाम मतिज्ञानसे विचार करे कि इसके मनमें क्या है? फिर ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानसे उसको प्रत्यक्ष जान लेता है यह नियम है।

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं ।
ओहिं वा विउलमदी लहिऊण विजाणए पच्छा ॥४४८ ॥

भावार्थ–भूतकालमें चिंतया था व भविष्यकालमें चिंतवेगा या वर्तमानकालमें अपूर्ण चिंतया ऐसे दूसरेके मनमें तिष्ठे हुए अनेक भेद लिये पदार्थको पहले प्राप्त होय अर्थात् इसके मनमें ऐसा है यह जान पीछे अवधिज्ञानकी तरह विपुलमति उस अर्थको प्रत्यक्ष जानता है।

दव्वं खेत्तं कालं भावं पडि जीवलक्खियं रूवि ।
उजुविउलमदी जाणदि अवरवरं मज्झिमं च तहा ॥४४९॥

भावार्थ-द्रव्यप्रति, क्षेत्रप्रति, कालप्रति या भावप्रति जीवसे चिंतवन किया जो रूपी पुद्गल द्रव्य या पुद्गलके संबंधको धरे संसारी जीव द्रव्य उसको जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदसे ऋजुमति तथा विपुलमति जानते हैं।

अवरं दव्वमुरालियसरीरणिज्जिण्णसमयबद्धं तु।
चक्खिंदियणिज्जण्णं उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे ॥ ४५० ॥

भावार्थ—ऋजुमति ज्ञान जघन्यपने औदारिक शरीरके निर्जरा रूप एक समयप्रबद्धको जाने अर्थात् एक समयमें जितने औदारिक शरीरके परमाणु झडें उनके स्कंधको जाने व उत्कृष्ट चक्षु-इन्द्रियकी निर्जरा मात्र द्रव्यको जाने।

मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं।
खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदोस्सावरं दव्वं ॥ ४५१ ॥

भावार्थ—मनोवर्गणाके जघन्यसे लगाकर उत्कृष्ट भेद तक जितने भेद हैं उनको अनन्तका भाग देनेपर जो एक भाग रहे वह मनःपर्याय ज्ञानमें ध्रुवहार जानना चाहिये। ऋजुमतिके उत्कृष्ट विषयभूत द्रव्यको इससे भाग देनेपर जो आवे उतने परमाणुके स्कंधको जघन्य विपुलमति मनःपर्यय जाने।

अट्ठण्हं कम्माणं समयपवद्धं विविस्ससोवचयं।
धुवहारेणिगिवारं भजिदे विदियं हवे दव्वं ॥ ४५२ ॥
तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं।
धुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सयं दव्वं ॥ ४५३ ॥

भावार्थ—आठ कर्मका समुदायरूप समयप्रबद्ध प्रमाण द्रव्य जिसमें विस्रसोपचय न मिले हों उनको एकवार मनःपर्ययके ध्रुवहारसे भाग देनेपर विपुलमतिका दूसरा भेद होता है। इसी तरह इसको फिर ध्रुवहारका भाग देनेपर तीसरा भेद होता है। असंख्यात कल्पकालके जितने समय हैं उतने वार ध्रुवहारका भाग देनेपर अन्तमें जो परिमाण रहे उतने परमाणुके स्कन्धको उत्कृष्ट विपुलमति ज्ञान जाने है।

गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणधपुत्तं।
विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं ॥४५४॥

भावार्थ—ऋजुमतिका जघन्य क्षेत्र दो तीन कोस है, उत्कृष्ट सात आठ योजन प्रमाण है। विपुलमतिका जघन्य क्षेत्र आठ नव योजन प्रमाण है। उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्य लोक है, या ढाईद्वीप है।

णरलोएत्ति य वयणं विक्खंभणियामयं ण वट्टस्स।
जम्हा तग्घणपदरं मणपज्जवखेत्तमुद्दिट्ठं ॥ ४५५ ॥

भावार्थ—नरलोक कहनेसे जितना वह चौड़ा है उतना ही लम्बा चौकोर लेना अर्थात् पैंतालिस लाख योजन चौकोर है, ऊंचाई थोड़ी है। मानुषोत्तर पर्वतके चारों कोनोंमें रहे हुए देव या तिर्यंचोंके चिंतये हुए पदार्थको भी उत्कृष्ट विपुलमति जान सक्ता है।

दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं।
अडणवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं ॥ ४५६ ॥

भावार्थ—ऋजुमतिज्ञान जघन्य भूत भवि०१ दो तीन भव व उत्कृष्ट सात आठ भव जाने व विपुलमतिका जघन्य आठ नव भव व उत्कृष्ट पल्यका असंख्यातवां भाग मात्र काल है।

आवलिअसंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं।
तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी ॥ ४५७ ॥

भावार्थ—ऋजुमतिका विषयभूत भाव जघन्य तो आवलीका असंख्यातवां भाग प्रमाण है, उत्कृष्ट उससे असंख्यात गुणा है तो भी आवलीका असंख्यातवां भाग है। विपुलमतिका जघन्य ऋजुमतिके उत्कृष्टसे असंख्यात गुणा है। उत्कृष्ट असंख्यात लोकप्रमाण है इतने भावोंको जाने।

पडिवादो पुण पढमा अप्पडिवादो हु होदि निदिया हु।
सुद्धो पढमो वोहो सुद्धतरो विदियवोहो दु ॥ ४४६ ॥

भावार्थ—पहला ऋजुमति ज्ञान छूट सक्ता है। दूसरा विपुलमति अप्रतिपती है, केवलज्ञान तक रहता है। ऋजुमति विशुद्ध है इससे अधिक विशुद्ध विपुलमति है।

इस तरह थोड़ासा वर्णन किया है विशेष गोमटसारादि ग्रन्थोंसे जानना योग्य है।

उत्थानिका—आगे केवलज्ञानको कहते हैं—

णाणं णेयणिमित्तं केवलणाणं ण होदि सुदणाणं।
णेयं केवलणाणं णाणाणाणं च णत्थि केवलिणो ॥४८॥

ज्ञानं ज्ञेयनिमित्तं केवलज्ञानं न भवति श्रुतज्ञानं।
ज्ञेयं केवलज्ञानं ज्ञानाज्ञानं च नास्ति केवलिनः ॥ ४८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(केवलणाणं) केवलज्ञान (णेयणिमित्तं) ज्ञेयके निमित्तसे (ण होदि) नहीं होता है, (सुदणाणं ण होदि) न वह श्रुतज्ञान है। (केवलिणो) केवली भगवानके (णाणाणाणं च णत्थि) ज्ञान अज्ञानकी कल्पना नहीं है उसे (केवल) मात्र (णाणं) ज्ञान (णेयं) जानना योग्य है।

विशेषार्थ—केवलज्ञान मतिज्ञानकी तरह घटपट आदि जानने योग्य पदार्थोंके आश्रयसे नहीं उत्पन्न होता है इसलिये वह जैसे ज्ञेय पदार्थोंके निमित्तसे नहीं होता है वैसे ही श्रुतज्ञानरूप भी नहीं है। यद्यपि दिव्यध्वनिके समयमें इस केवलज्ञानके आधारसे गणधरदेव आदिकोंके श्रुतज्ञान होता है, तथापि वह श्रुतज्ञान गणधरदेवादिको ही होता है केवली अरहन्तोंके नहीं है। केवली भगवानके

ज्ञानमें किसी सम्बन्धमें ज्ञान व किसीमें अज्ञान नहीं होता है, किन्तु सर्व ज्ञेयोंका विना क्रमके ज्ञान होता है अथवा मतिज्ञान आदि भेदोंसे नाना प्रकारका ज्ञान नहीं है, किन्तु एक मात्र शुद्ध ज्ञान ही है। यहां जो मतिज्ञान आदिके भेदसे पांच ज्ञान कहे गए हैं वे सब व्यवहारनयसे हैं। निश्चयमे अखंड एक ज्ञानके प्रकाश-रूप ही आत्मा है जैसे मेघादि रहित सूर्य होता है यह तात्पर्य है।

भावार्थ—केवलज्ञान एक शुद्ध आत्माका स्वाभाविक ज्ञान है जो सर्व तीन लोक अलोकके सर्व पदार्थोंकी तीनकालवर्ती पर्यायोंको विना किसी क्रमसे एकदम जानता रहता है। जैसे सूर्य अपने निर्मल प्रकाशसे एक ही काल अपने सामनेके सर्व पदार्थोंको प्रगट करता है वैसे केवलज्ञान सर्व ज्ञेयोंको एक काल जानता है। ज्ञानावरणीय कर्मका बिलकुल आवरण नहीं रहा है इसीसे वह न मतिज्ञानकी तरह घट पटके आलम्बनसे क्रमरूप जानता है न मनके-द्वारा विचारपूर्वक श्रुतज्ञानकी तरह जानता है। वह एक विलक्षण पूर्ण ज्ञान परम स्पष्ट प्रत्यक्ष है जिसकी कोई उपमा नहीं कही जा सक्ती है।

पंचाध्यायीकारने कहा है—

अयमर्थो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात्।
प्रत्यक्षं क्षायिकमिदमक्षातीतं सुखम् तदक्षयिकम् ॥६१८॥

भावार्थ—जो ज्ञान सर्व ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुआ है तथा जो आत्माधीन है, इन्द्रियोंके या मनके आधीन नहीं है, आत्मीक सुखमई है व अविनाशी है वही प्रत्यक्ष केवलज्ञान है। इस ज्ञानकी प्राप्तिकी सदा भावना करनी योग्य है।

इस तरह मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानोंको कहते हुए पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

आगे तीन प्रकार अज्ञानको कहते हैं—

मिच्छत्ता अण्णाणं अविरदिभावो य भावआवरणा।
णेयं पडुच्च काले तह दुण्णय दुप्पमाणं च ॥ ४९ ॥
मिथ्यात्वात् अज्ञानम् अविरतिभावश्च भावावरणं।
ज्ञेयं प्रतीत्य काले तथा दुर्नय दुःप्रमाणं च ॥ ४६ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-( मिच्छत्ता ) द्रव्य मिथ्यात्वके उदयसे ( अण्णाणं ) ज्ञान, अज्ञान रूप अर्थात् कुमति, कुश्रुत व विभंगज्ञानरूप होता है (अविरदिभावो य) तथा व्रत रहित भाव भी होता है ( भावआवरणा ) इस तरह तत्वार्थ श्रद्धानरूप भाव सम्यग्दर्शन व भावसंयमका आवरणरूप भाव होता है (तह) तैसे ही मिथ्यात्वके उदयसे (णेयं पडुच्च काले) ज्ञेयरूप जीवादि पदार्थोंको आश्रय करके तत्व विचारके समयमें (दुण्णय दुप्पमाणं च) सुनय दुर्नय होजाता है व प्रमाण दुःप्रमाण होजाता है। यहां यह तात्पर्य है कि मिथ्यात्वसे विपरीत तत्त्वार्थका श्रद्धानरूप जो व्यवहार सम्यक्त है तथा जो निश्चय सम्यक्तका कारण है अथवा जिस व्यवहार सम्यक्तका फल निर्विकार शुद्धात्मानुभवरूप निश्चय सम्यक्त है वे दोनों ही व्यवहार और निश्चय सम्यक्त ग्रहण करने योग्य हैं।

भावार्थ—जब इस जीवके मिथ्यात्वका उदय होता है तब यह मति, श्रुत, अवधिसे पदार्थोंको जानता हुआ भी उनसे मूल स्वरूप व कारण व भेदोंमें यथार्थपना नहीं रखता हुआ आत्महित

नहीं कर सक्ता है इसलिये वे तीनों ज्ञान कुमति, कुश्रुत व विभंगज्ञान कहलाते हैं। उस समय उसका प्रमाण ज्ञान अप्रमाण है व नय ज्ञान कुनय ज्ञान है। श्लोकवार्तिकमें कहा है:—

यथा सरजसालाम्बू फलस्य कटुकस्य तत्।
क्षिप्तस्य पयसो दृष्टः कटुभावस्तथाविधः॥ १९॥
तथात्मनोपि मिथ्यात्वपरिणामे सतोप्यते।
मत्यादिसंविदां तादृङ्मिथ्यात्वं कस्यचित् सदा॥२०॥

भावार्थ—मिथ्यात्वके उदयसे ज्ञान विपर्यय अर्थात् मिथ्या होजाता है। जैसे रज सहित कड़वी तुम्बीमें प्राप्त भया दूध कड़वा होजाता है तैसे ही आत्माके मिथ्यात्वभाव होते हुए मति आदि तीन ज्ञान मिथ्या कहे जाते हैं।

उत्थानिका—आगे यदि एकांतसे ऐसा माना जाय कि द्रव्यका गुणोंके साथ प्रदेशोंकी अपेक्षा भेद है या गुणोंका द्रव्यके साथ भेद है तो दोष आयगा ऐसा बताते हैं।

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे।
दव्वाणंतियमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति॥ ५०॥

यदि भवति द्रव्यमन्यद्गुणतश्च द्रव्यतोऽन्ये।
द्रव्यानंत्यमथवा द्रव्याभावम् प्रकुर्वन्ति॥ ५०॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जदि) यदि (दव्वं) द्रव्य (गुणदो) गुणसे (अण्णं) अन्य (हवदि) होवे (य) और (गुणा य) गुण भी (दव्वदो) द्रव्यसे (अण्णं) भिन्न हों तो (दव्वाणंतियं) द्रव्योंके अनंतपनेको (अधवा) अथवा (दव्वा भावं) द्रव्यके नाशको (पकुव्वंति) कर डालें।

विशेषार्थ—प्रदेशोंकी अपेक्षा भी यदि द्रव्यसे गुण अलग २ हों तो जो अनंतगुण द्रव्यमें एक साथ रहते हैं वे अलग २ होकर अनंत द्रव्य हो जावेंगे और द्रव्यसे सब गुण भिन्न २ होगए तब द्रव्यका नाश हो जावेगा। यहां पूछते हैं कि गुण किसीके आश्रय या आधार रहते हैं या वे आश्रय विना होते हैं? यदि वे आश्रयसे रहते हैं ऐसा कोई माने और उसको कोई दोष दे तो यह कहना होगा कि जो अनंतज्ञान आदि गुण जिस किसी एक शुद्ध आत्मा द्रव्यमें आश्रयरूप हैं उस आत्म—द्रव्यसे यदि वे गुण भिन्न २ होजावें, इसी तरह दूसरे शुद्ध जीव द्रव्यमें भी जो अनंत गुण हैं वे भी जुदे २ होजावें तब यह फल होगा कि शुद्धात्म द्रव्योंसे अनंतगुणोंके जुदा होनेपर शुद्ध आत्मद्रव्य अनंत होजावेंगे। जैसे ग्रहण करने योग्य परमात्म द्रव्यमें गुण और गुणीका भेद होनेपर द्रव्यकी अनंतता कही गई वैसे ही त्यागने योग्य अशुद्ध जीव द्रव्यमें तथा पुद्गलादि द्रव्योंमें भी समझ लेनी चाहिये अर्थात् गुण और गुणीका भेद होते हुए मुख्य या गौणरूप एक एक गुणका मुख्य या गौण एक एक द्रव्य आधार होते हुए द्रव्य अनंत हो जावेंगे तथा द्रव्यके पाससे जब गुण चले जांयगे तब द्रव्यका अभाव हो जायगा। जब यह कहा है कि गुणोंका समुदाय द्रव्य है। यदि ऐसे गुणसमुदाय रूप द्रव्यसे गुणोंका एकांतसे भेद माना जायगा तो गुण समुदाय द्रव्य कहां रहेगा, किसी भी तरह नहीं रह सक्ता है।

भावार्थ—यहां आचार्यने बताया है कि गुण और गुणीका निवास एक साथ रहता है। प्रदेशोंकी अपेक्षा वे कभी जुदे नहीं हो सक्ते

हैं। आत्मामें ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुण व्यापक हैं, इनके विना आत्मा नहीं व आत्माके विना ये नहीं–जहां आत्मा है वहीं ये ज्ञानादि गुण हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि पुद्गलके गुण हैं। जहां परमाणु या स्कंधरूप पुद्गल द्रव्य है वहीं उसके स्पर्शादि गुण हैं। कभी भी कोई गुण विना द्रव्यके आधारके नहीं पाए जा सक्ते हैं। यदि कोई एकांतसे कहे कि द्रव्यसे गुण जुदे होते हैं व रहते हैं तव एक एक गुण भिन्न २ होकर अपनी सत्ता रखता हुआ एक एक द्रव्य रूप हो जायगा इससे जितने गुण उतने द्रव्य हो जांयगे तव जो गुणका समुदाय रूप द्रव्य है सो कहीं न रहेगा अर्थात् ऐसे द्रव्यका नाश होजावेगा।

यदि मिट्टीसे चिकनापन, भारीपन, सफेदपन, ठंडापन, सुगंधपन, मिष्टपन आदि निकल निकल कर जुदे जुदे हो जावें तो मिट्टीका नाश होजावेगा और चिकनई, सफेदी, सुगन्ध, मिष्टता ये गुण अलग२ पाए जावेंगे सो यह बात प्रत्यक्ष अनुभवसे विरोध रूप है–कभी भी मिट्टीसे उसके स्पर्शादि जुदे नहीं किये जासक्ते हैं न मिट्टीका सर्वथा नाश होसक्ता है, न कहीं मिट्टीको छोड़कर चिकनापन भिन्न अपनी सत्ता मिट्टीकी तरह रखता है। यह सब असंभव है इससे यही बात निश्चय रखनी चाहिये कि द्रव्यसे गुण कभी भिन्न नहीं होते हैं, उनका द्रव्यके साथ संज्ञा आदिकी अपेक्षा भेद है तौ भी वे द्रव्यके ही आश्रय रह सक्ते हैं—

पंचाध्यायीकार कहते हैं—

तेषा[illegible] देशो न हि ते देशात्पृथक्त्वसत्ताकाः।
न हि देशे [illegible]ः किन्तु विशेषैश्च तादृशो देशः॥३६

अत्रापि च संदृष्टिः शुक्लादीनामियं तनुस्तन्तुः ।
न हि तन्तौ शुक्लाद्याः किन्तु सिताद्यैश्च तादृशस्तन्तुः ॥४०

भावार्थ—गुणोंका समूह ही देश या अखंड द्रव्य है, वे गुण द्रव्यसे भिन्न अपनी सत्ता नहीं रखते हैं और ऐसा भी नहीं कह सक्ते हैं कि द्रव्यमें गुण रहते हैं, किंतु उन गुणोंके एकत्त्वसे ही वह द्रव्य कहलाता है। जैसे यहां दृष्टांत डोरेका है। शुक्ल आदि गुणोंका एकत्त्व ही डोरा है। शुक्लादि गुण तंतुमें रहते हैं ऐसा न कहकर यही मानते हैं कि शुक्लादि गुणोंकी एकता रूप ही तंतु है।

अथ चेद्भिन्नो देशो भिन्ना देशाश्रिता विशेषाश्च ।
तेषामिह संयोगाद्द्रव्यं दंडीव दंडयोगाद्वा ॥ ४१ ॥
नैवं हि सर्वसंकरदोषत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
तत्किं चेतनयोगादचेतनं चेतनं न स्यात् ॥४२॥

भावार्थ—यदि द्रव्य भिन्न और उसके आश्रित गुण भिन्न माने जावें और गुणोंके संयोगसे द्रव्य हुआ है जैसे दंडके संयोगसे दंडी हुआ है ऐसा माना जावे तो ठीक नहीं है, क्योंकि सर्व द्रव्य एकसे होजावेंगे जिससे सर्व संकरदोष आवेगा। यह बात प्रसिद्ध दृष्टांतसे सिद्ध है। गुणोंको भिन्न मानकर फिर मिलाप माननेसे अचेतन जड़ द्रव्य चेतन गुणके संयोगसे चेतन द्रव्य बन जायगा अथवा जड़ताके संयोगसे चेतन अचेतन होजायगा—किसी भी द्रव्यका कोई नियम नहीं रहेगा इसलिये यही सिद्ध है कि गुण कभी द्रव्यसे जुदे नहीं पाए जाते हैं। गुण और द्रव्यकी सदा एकता रहती है।

उत्थानिका—आगे फिर दिखलाते हैं कि द्रव्य और गुणोंमें यथोचित् अभिन्न प्रदेशपना है—उनकी एकता है।

अविभत्तमणण्णत्तं दव्वगुणाणं विभत्तमणत्तं ।
णिच्छंति णिच्चयण्हू तव्विवरीदं हि वा तेसिं ॥ ५१ ॥

अविभक्तमनन्यत्वं द्रव्यगुणानां विभक्तमन्यत्वं ।
नेच्छन्ति निश्चयज्ञास्तद्विपरीतं हि वा तेषां ॥ ५१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(दव्वगुणाणं) द्रव्य और गुणोंका (अविभत्तम्) एकपना तथा (अणण्णत्तं) अभिन्नपना है (णिच्चयण्हू) निश्चयनयके ज्ञाता (विभत्तं अणत्तं) इनका विभाग व भिन्नपना (णिच्छंति) नहीं चाहते हैं। (वा) अथवा (तेसिं) उनका (तव्वि-वरीदं) उससे विपरीत स्वभाव अर्थात् भिन्नपनेसे विपरीत अभिन्न-पना भी (हि) निश्चयसे सर्वथा नहीं मानते हैं।

विशेषार्थ-जैसे परमाणुका वर्णादि गुणोंके साथ अभिन्नपना है अर्थात् उनमें परस्पर प्रदेशोंका भेद नहीं है तैसे शुद्ध जीव द्रव्यका केवलज्ञानादि प्रगटरूप स्वाभाविक गुणोंके साथ और अशुद्ध जीवका मतिज्ञान आदि प्रगटरूप विभाव गुणोंके साथ तथा शेष द्रव्योंका अपने २ गुणोंके साथ यथासंभव एकपना है अर्थात् द्रव्य और गुणोंके भिन्न२ प्रदेशोंका अभाव जानना चाहिये। निश्चय स्वरूपके ज्ञाता जैनाचार्य्य जैसे हिमाचल और विंध्याचल पर्वतमें भिन्नपना है अथवा एक क्षेत्रमें रहते हुए जल और दूधका भिन्न प्रदेशपना है ऐसा भिन्नपना द्रव्य और गुणोंका नहीं मानते हैं तौभी एकांतसे द्रव्य और गुणोंका अन्यपनेसे विपरीत एकपना भी नहीं मानते हैं। अर्थात् जैसे द्रव्य और गुणोंमें प्रदेशोंकी अपेक्षा अभिन्नपना है तैसे संज्ञा आदिकी अपेक्षासे भी एकपना है ऐसा नहीं मानते हैं। अर्थात् एकांतसे द्रव्य और गुणोंका न

एकपना मानते हैं न भिन्नपना मानते हैं। विना अपेक्षाके एकत्व व अन्यत्व दोनोंको नहीं मानते हैं, किंतु भिन्न २ अपेक्षासे दोनों स्वभावोंको मानते हैं। प्रदेशोंकी एकतासे एकपना है। संज्ञादिकी अपेक्षा द्रव्य और गुणोंका अन्यपना है ऐसा आचार्य मानते हैं। यहां यह तात्पर्य है कि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावमई आत्मतत्वसे भिन्नरूप जो विषय व कषाय हैं उनसे रहित होकर उस ही परम चैतन्य स्वरूप परमात्म तत्वसे जो एकता रूप निर्विकल्प परम आह्लाद मई सुखामृत रसके स्वादका अनुभव है उसको धारनेवाले जो पुरुष हैं उनको वही आत्मा ग्रहण करने योग्य है जो लोकाकाश प्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेशोंके साथ तथा अपने केवलज्ञानादि गुणोंके साथ एक रूप है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बता दिया है कि द्रव्योंके प्रदेशोंमें ही द्रव्योंके गुण रहते हैं-हरएक गुण हरएक अपने आधाररूप द्रव्यके सर्व प्रदेशोंमें व्यापक होता है-कहीं कभी कोई गुण द्रव्यसे भिन्न नहीं पाया जासक्ता है। गुणोंका आश्रय द्रव्य है। इसतरह द्रव्य और गुणोंमें एकता है। यह एकता प्रदेशोंकी एकताकी अपेक्षासे है, किन्तु सर्वथा एकता नहीं है। द्रव्य और गुणोंमें संज्ञा, लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा अन्यपना भी है। जीव द्रव्य अनंतगुणोंका अखंड समूह है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुख आदि सर्व गुण अपने२ भिन्न२ स्वभावको रखते हुए एक दूसरेसे भिन्न होकर भी जीवके सर्व प्रदेशोंमें व्यापक हैं। यही जीवका अपने गुणोंसे अभिन्नपना है, किन्तु जीवका नाम व प्रयोजन तथा ज्ञान दर्शन आदि गुणोंका नाम व प्रयोजन भिन्न२

है इससे द्रव्य और गुणोंमें भेदपना है। ऐसा स्याद्वादनयसे द्रव्य और गुणोंका एकत्व और अनेकत्व समझना चाहिये।

पंचाध्यायीकारने गुणका स्वरूप इस तरह बताया है:-

द्रव्याश्रया गुणाः स्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च।
करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु ॥ १०४ ॥
अयमर्थो विदितार्थैः समप्रदेशाः समं विशेषा ये।
ते ज्ञानेन विभक्ताः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥१०५॥
दृष्टांतः शुक्लाद्या यथा हि समतन्तवः समं सन्ति।
बुद्ध्या विभज्यमानाः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥१०६

भावार्थ—जो द्रव्यके आश्रय रहते हैं वे ही गुण हैं। वे गुण विशेष रहित विशेष हैं अर्थात् गुणोंमें गुण नहीं रहते हैं, उन्हीं गुणोंके द्वारा हाथमें रक्खे हुए पदार्थकी तरह वस्तु स्पष्ट प्रतीत होती है। इसका खुलासा यह है कि एक गुणके जितने प्रदेश हैं वे ही सर्व ही गुणोंके हैं इसलिये सर्व ही गुणोंके जो एक द्रव्यमें रहते हैं समान प्रदेश हैं। उन प्रदेशोंमें रहनेवाले गुणोंका जब क्रमसे ज्ञानद्वारा विचार किया जाता है तब श्रेणीवार अनेक गुण जाने जाते हैं। वास्तवमें द्रव्यमे अन्यत्र गुण कहीं वास नहीं करते हैं। जैसे समान तंतुओंमें पाए जानेवाले शुक्ल आदि गुण सब समान हैं। उन शुक्लादि गुणोंका बुद्धिसे विभाग किया जावे तो क्रमसे श्रेणीवार अनेक गुण प्रगट होंगे जैसे शुक्लपना, हलकापना, गंध, रस आदि।

इसी तरह अपने आत्माको स्वाभाविक ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोंका अखंड पिंड जानकर हमें उसका ही अनुभव करना योग्य है। यह भाव है।

इस तरह गुण और गुणीमें संक्षेपसे अभेद और भेदके व्याख्यानकी अपेक्षा गाथा तीन कहीं। ये गाथाएं नं० ४३, ५० व ५१ जाननी।

उत्थानिका—आगे यह बताते हैं कि द्रव्य और गुणोंमें नाम आदिकी अपेक्षा भेद है तो भी ये एकांतसे द्रव्य और गुणोंका भिन्नपना नहीं साधते हैं।

ववदेसा संठाणा संखा विसया य होंति ते बहुगा।
ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंते ॥ ५२ ॥

**व्यपदेशाः संस्थानानि संख्या विषयाश्च भवन्ति ते बहुकाः।**
**ते तेषामनन्यत्वे अन्यत्वे चापि विद्यंते ॥ ५२ ॥**

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(ववदेसा) कथन या संज्ञाके भेद (संठाणा) आकारके भेद (संखा) संख्या या गणना (य विसया) और विषय या आधार (ते बहुगा होंति) ये बहुत प्रकारके होते हैं (ते) ये चारों (तेसिं) उन द्रव्य और गुणोंकी (अणण्णत्ते) एकतामें (चावि) तैसे ही (अण्णत्ते) उनकी भिन्नपनामें (विज्जंते) होते हैं।

विशेषार्थ—नैयायिक ऐसा कहते हैं कि यदि एकांतसे द्रव्य और गुणोंका भेद नहीं है तो व्यपदेश आदि सिद्ध नहीं होते हैं? इसका उत्तर यह है कि द्रव्य और गुणोंका किसी अपेक्षा भेद व किसी अपेक्षा अभेद होनेपर भी व्यपदेश आदि हो सक्ते हैं। जैसे कर्ता, कर्म्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छः कारक दो तरह होते हैं। एक भेदमें जैसे देवदत्तकी गौ ऐसा कहा जाय, दूसरे अभेदमें जैसे वृक्षकी शाखा, जीवके अनन्तज्ञानादि गुण। इसी

संज्ञा कारकको बताते हैं कि देवदत्त नामका पुरुप कर्ता होकर फल-रूप कर्मको अपने अंकुशरूप करणसे धनदत्तके लिये वृक्षमेंसे बाग रूप अधिकरणमें तोड़ता है। यह भेदमें संज्ञाकारकका दृष्टांत कहा-इसमें छहों ही कारक भिन्न२ हैं। तैसे ही आत्मा कर्त्ता होकर अपने ही आत्मारूप कर्मको अपने ही आत्मारूप करण द्वारा अपने ही आत्माके निमित्त अपने आत्माकी निकटतासे अपने ही आत्मारूप आधारमें ध्याता है। यह अभेदमें छः कारकोंका दृष्टांत है। इन दोनों दृष्टांतोंमें संज्ञाका भेद व अभेद बताया गया। अब आकारकी अपेक्षा बताते हैं। जैसे दीर्घ देवदत्तकी दीर्घ ही गौ है यह भेदमें संस्थान है, तथा दीर्घ वृक्षके दीर्घ शाखाका भार है तथा मूर्त द्रव्यके मूर्त्तगुण होते हैं यह अभेदमें संस्थान है। अब संख्याको कहते हैं—देवदत्तके दस गांव हैं यह भेदमें संख्या है तैसे ही वृक्षकी दस शाखा हैं या द्रव्यके अनंत गुण हैं यह अभेदमें संख्या है। गाथामें विषय शब्दका यहां अर्थ आधार है। उसे दिखाते हैं जैसे गोष्ठ (गौशाला)में गायें हैं यह भेदमें विषय कहा तैसे ही द्रव्यमें गुण हैं यह अभेदमें विषय कहा। इस तरह व्यपदेश आदि भेद तथा अभेद दोनोंमें सिद्ध होते हैं इसलिये द्रव्य और गुणोंका एकांतसे भेद नहीं सिद्ध होता है। इस गाथामें नामकर्मके उदयसे उत्पन्न नर नारक आदि नामोंको निश्चयसे न रखता हुआ भी जो शुद्ध जीवास्तिकायके नामसे कहने योग्य है, व निश्चय नयसे जो समचतुरस्र आदि छः शरीरके संस्थानोंसे रहित है तौ भी व्यवहारनयसे भूतपूर्व न्यायसे अंतिम शरीरके आकारसे कुछ कम आकारधारी संस्थान रखता है। व

जो केवलज्ञान आदि अनंत गुणरूपसे अनंत संख्यावान है तौ भी लोकाकाश प्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेश रखनेसे असंख्यात संख्या रखता है तथा जो पंचेन्द्रियके विषयसुखके रसास्वादी जीवोंका विषय न होनेपर भी पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे रहित शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग सदानंदमई एक सुखरसरूप ध्यानका विषय है, जो ध्यान सर्व आत्माके प्रदेशोंमें परम समता रसके भावमें परिणमन कररहा है, ऐसा जो शुद्ध जीवास्तिकाय स्वरूप आत्मा है वही ग्रहण करने योग्य है यह तात्पर्य है।

भावार्थ-इस गाथामें यह बताया है कि नाम, आकार, संख्या और आधार ये चार बातें भेद और अभेद दोनोंमें सिद्ध हो सक्ती हैं जिसका खुलासा वृत्तिकारने ऊपर कर दिया है। द्रव्य और गुणोंका प्रदेशोंकी अपेक्षा भेद नहीं है किन्तु संज्ञा आदिकी अपेक्षा भेद है। जैसे जीवद्रव्यमें ज्ञान सुख आदि गुण हैं, जीवकी संज्ञा जीव है। ज्ञान व सुख आदिकी संज्ञा ज्ञान, सुख आदि है। जीवका आकार असंख्यात प्रदेशी है। ज्ञान व सुख आदिका भी आकार जीवके समान असंख्यात प्रदेशी है। जीवकी संख्या असंख्यात प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात व अखंडपनेकी अपेक्षा एक है। ज्ञान व सुख गुण अपने २ अभेदपनेकी अपेक्षा एक हैं, अनंत पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा ज्ञान अनंतरूप है। जीवका आधार जीव है जब कि ज्ञान व सुख गुणोंका आधार जीव है।

यदि सर्वथा जीव और ज्ञानादि गुणोंका अभेद माने तो भिन्न२ नाम रखके उनका कथन नहीं किया जासक्ता है और न

वे भिन्न२ अपने२ भावको झलका सक्ते हैं इसलिये द्रव्यसे गुण कभी भिन्न सत्ता प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं रखते हैं इससे इनमें अभेद है तब भी संज्ञा आदिकी अपेक्षा भेद है । यह अनेकांत सिद्धांत ही वस्तुका सच्चा स्वरूप है । एकांतसे भेद ही है व अभेद ही है, दोनों माननेमें बहुत दोष आते हैं । पञ्चाध्यायीकार कहते हैं—

**अथ चैतयोः पृथक्त्वे हठादहेतोश्च मन्यमानेऽपि ।**
**कथमिव गुणगुणिभावः प्रमीयते सत्समानत्वात् ॥ ४४ ॥**
**यत्किंचिदस्ति वस्तु स्वतः स्वभावे स्थितं स्वभावश्च ।**
**अविनाभावो नियमाद्विवक्षितो भेदकर्ता स्यात् ॥ ४७ ॥**

भावार्थ—यदि कोई द्रव्य और गुणको हठसे विना हेतु ही भिन्न२ माने तौ दोनोंकी सत्ता समान हो जायगी तब यह कैसे समझमें आयगा कि यह गुण है और यह गुणी है, क्योंकि गुण समुदाय ही द्रव्य है—गुण द्रव्यसे अलग नहीं पाया जा सक्ता है। जो कोई वस्तु है वह अपने गुणोंमें स्थित है और वह गुण भी उस वस्तुमें अवश्य रहते हैं। इन दोनोंका अविनाभाव है तौ भी कथनकी अपेक्षा नाम आदिसे भेद कहा जाता है ।

उत्थानिका—आगे निश्चयसे भेद और अभेदका उदाहरण बताते हैं

णाणं धणं च कुव्वादि धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं ।
भण्णंति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू ॥ ५३ ॥

**ज्ञानं धनं च करोति धनिनं यथा ज्ञानिनं च द्विविधाभ्यां ।**
**भणंति तथा पृथक्त्वमेकत्वं चापि तत्त्वज्ञाः ॥ ५३ ॥**

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जह) जैसे (णाणं) ज्ञान (णाणिणं) ज्ञानीको (च) और (धणं) धन (धणिणं) धनीको (कुव्वदि) करता है

(चदुविधेहिं) ऐसा दो तरहसे अभेदऔर भेदसे (भण्णंति) कह सक्ते हैं (तह) तैसे (तच्चण्हू) तत्वज्ञानी (पुधत्तं एयत्तं चावि) भेदपने और अभेदपनेको कहते हैं।

विशेषार्थ—जैसे धनका अस्तित्व भिन्न है और धनी पुरुषका अस्तित्व भिन्न है इसलिये धन और धनीका नाम भिन्न है, धनका आकार भिन्न है, धनी पुरुषका आकार भिन्न है, धनकी संख्या भिन्न है, धनी पुरुषकी संख्या भिन्न है, धनका आधार भिन्न है, धनीका आधार भिन्न है तौभी धनको रखनेवाला धनी ऐसा जो कहना है सो भेद या पृथकृत्व व्यवहार है। तैसे ही ज्ञानका अस्तित्व ज्ञानीसे अभिन्न है सो ऐसे ज्ञानका अभिन्न अस्तित्व रखनेवाले ज्ञानी आत्माके साथ अभेद कथन है। ज्ञानका नाम ज्ञानीसे अभिन्न है, ज्ञानीका नाम ज्ञानसे अभिन्न है, ज्ञानका संस्थान ज्ञानीसे अभिन्न है, ज्ञानीका संस्थान ज्ञानसे अभिन्न है। ज्ञानकी संख्या ज्ञानीसे अभिन्न है, ज्ञानीकी संख्या ज्ञानसे अभिन्न है, ज्ञानका आधार ज्ञानीसे अभिन्न है, ज्ञानीका आधार ज्ञानसे अभिन्न है। इस तरह ज्ञान और ज्ञानीमें अपृथकृत्व या अभेद कथन है। इन दोनों दृष्टांतोंके अनुसार दृष्टांतमें विचार लेना चाहिये। जहां भिन्न २ द्रव्य हों उनका नामादि भिन्न २ जानना चाहिये। जैसे पूर्वकी गाथामें देवदत्त और गौका दृष्टांत दिया। जिस एक ही द्रव्यमें नामादि कहे जावें वहां निश्चयसे अभेद जानना चाहिये। जैसे वृक्षकी शाखा या जीवके अनंतज्ञान आदि गुण इत्यादि। यहां इस सूत्रमें जिसका जीवके साथ अभिन्न व्यपदेश, अभिन्न संस्थान, अभिन्न संख्या, अभिन्न आधार है और जो जीवको ज्ञानी बताता

है व जिसके ही लाभ विना अनादिकालसे यह जीव नरनारक आदि गतियोंमें घूमा है व जो वास्तवमें मोक्षरूपी वृक्षका बीज है व जिसकी ही भावनाके बलसे उसीके फलस्वरूप विना क्रमसे समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको जाननेवाला सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसीही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानकी भावना ज्ञानियोंको करनी योग्य है यह अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें भेद और अभेद सम्बन्धके दो उदाहरण दिये हैं जिनका नामादि बिलकुल भिन्न २ हो उनका परस्पर सम्बन्ध कहना सो भेद सम्बन्ध कथन है। जैसे राजा और राज्य ये दोनों सब तरह भिन्न२ हैं तौभी यह कहना कि इस राजाका इतना राज्य है सो भेद सम्बन्धका व्यवहार है। जिनका प्रदेशभेद बिलकुल न हो उन एक द्रव्यके गुणोंमें परस्पर भेद कहना सो अभेद सम्बन्ध व्यवहार है। जैसे जिसमें ज्ञान हो वह ज्ञानी है। ज्ञान गुण और ज्ञानी आत्माकी सत्ता एक ही है तौभी समझनेके लिये ज्ञान और ज्ञानीमें नाम आदिकी अपेक्षा भेदका व्यवहार किया जाता है यह मात्र व्यवहार है। वास्तवमें ज्ञान और ज्ञानीका तथा द्रव्य और उसके गुणोंका अभेद या एकत्व है। द्रव्य गुणोंके विना कुछ नहीं और गुण द्रव्यके विना कुछ नहीं ऐसा अमिट एकत्व है। वृत्तिकारने ऊपर जो ज्ञान और ज्ञानीमें व्यपदेशादिकी एकता बताई है उसका भाव यही समझना चाहिये कि उनका अभिप्राय ज्ञान और ज्ञानीकी एक ही सत्ता बतानेका है। संज्ञा संख्या आदिकी अपेक्षा गुण और गुणीमें भेद करते हैं तो भी निश्चयसे भेद नहीं है यह अभिप्राय है। जैसे आम्र फलका अपने स्पर्श रस गंध वर्णादि गुणोंके

साथ नामादिका भेद होते हुए भी प्रदेश भेद नहीं है तैसे गुण और गुणीका अभेद सम्बन्ध जानना योग्य है।

जैसा पंचाध्यायीकारने कहा है—

**स्पर्शरसगन्धवर्णालक्षणभिन्ना यथा रसालफले।**
**कथमपि हि पृथक्कर्तुं न तथा शक्यास्त्वखंडदेशत्वात्॥**

भावार्थ—यद्यपि आमके फलमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण भिन्न २ हैं क्योंकि इनके लक्षण भिन्न २ हैं तथापि सर्व ही अखंड रूपसे एक हैं क्योंकि उनको पृथक् नहीं किया जासक्ता।

उत्थानिका—आगे दिखलाते हैं कि यदि ज्ञानको ज्ञानीसे विलकुल जुदा मानोगे तो क्या दोष होगा?

**णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदो दु अण्णमण्णस्स।**
**दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं॥ ५४॥**

**ज्ञानी ज्ञानं च सदार्थांतरितो त्वन्योऽन्यस्य।**
**द्वयोरचेतनत्वं प्रसजति सम्यग् जिनावमतं॥ ५४॥**

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(णाणी) ज्ञानी आत्मा (णाणं च) और उसका ज्ञान (अण्णमण्णस्स) एक दूसरेसे (सदा) हमेशा (अत्थंतरिदो दु) यदि भिन्न पदार्थ हों तो (दोण्हं) दोनों आत्मा और ज्ञानको (अचेदणत्तं) अचेतनपना (पसजदि) प्राप्त हो जायगा यह (सम्मं) भले प्रकार (जिणावमदं) जिनेन्द्रका कथन है।

विशेषार्थ—जैसे यदि अग्नि गुणी अपने गुण उष्णपनेसे अत्यन्त भिन्न हो जावे तो अग्नि दग्ध करनेके कार्यको न कर सकनेके निश्चयसे शीतल हो जावे तैसे ही ज्ञान गुणसे अत्यन्त

भिन्न यदि ज्ञानी जीव माना जावे तो वह जीव पदार्थके जाननेको असमर्थ होता हुआ अचेतन जड़ हो जावे तब ऐसा हो जावे जैसे देवदत्त घसियारेसे उसका घास काटनेका दतीला भिन्न है वैसे ज्ञानसे ज्ञानी भिन्न हो जावे सो ऐसा नहीं कहा जा सक्ता है। दतीला तो छेदनेके कार्यमें मात्र बाहरी उपकरण है परन्तु भीतरी उपकरण तो वीर्यांतरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न पुरुषका वीर्य-विशेष है। यदि भीतर शक्ति न हो तो दतीला हाथमें होते हुए भी छेदनेका काम नहीं हो सक्ता है। तैसे ही प्रकाश, गुरु आदि बाहरी सहकारी कारणोंके होते हुए यदि पुरुषमें भीतर ज्ञानका उपकरण न हो तो वह पदार्थको जानने रूप कार्य नहीं कर सक्ता है। यहां यह तात्पर्य है कि जिस ज्ञानके अभावसे जीव जड़ होता हुआ वीतराग सहज व सुन्दर आनंदसे पूर्ण पारमार्थिक सुखको उपादेय न जानता हुआ संसारमें भ्रमा है उसही रागादि विकल्पोंसे रहित अपने शुद्धात्मानुभवमई ज्ञानको ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्य और गुणका न कभी भेद था, न है, न होसक्ता है। दोनों साथ साथ रहनेवाले होते हैं। गुण और गुणीकी कभी जुदाई नहीं होसक्ती है। वास्तवमें यदि किसी भी समय गुणको गुणीसे जुदा मानलें तो वह गुणी गुणी ही नहीं रह सक्ता है–जैसे यदि कभी भी जीवसे उसका ज्ञान गुण जुदा मानलें तो जीव जड़ होजावे और ज्ञान गुण जीवके आधार विना अपनी सत्ता न रखता हुआ नष्ट होजावे। लोकमें जीव ही जानते हैं। कहीं भी कोई ज्ञान गुण जानता हुआ नहीं दीखता है।

प्रवचनसारमें भी श्रीकुंदकुंद महाराजने ज्ञान और आत्माको एक ही कहा है—

णाणं अप्पत्तिमदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा॥ २८॥

भावार्थ—ज्ञान ही आत्मा रूप कहा गया है। ज्ञान आत्माके विना नहीं वर्तन करता है इसलिये ज्ञान आत्मा रूप है, आत्मा ज्ञान रूप है तथा अन्य सुखादि रूप भी है। आत्मा अनंतगुणोंका समुदाय है उनमें एक ज्ञान गुण भी है। ज्ञान मेरे आत्माका अमिट स्वभाव है ऐसा जानकर निरंतर आत्मज्ञानका मनन कार्यकारी है। इसतरह व्यपदेशादिके व्याख्यानकी मुख्यतासे तीन गाथाएं कहीं।

उत्थानिका—आगे फिर कहते हैं कि यदि ज्ञानको ज्ञानीसे अत्यन्त भेदरूप मानो तो समवाय नामके सम्बन्धसे भी उनकी एकता नहीं की जासक्ती है।

ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी।
अण्णाणीति य वयणं एगत्तप्पसाधगं होदि॥ ५५॥

न हि सः समवायादर्थांतरितस्तु ज्ञानतो ज्ञानी।
अज्ञानीति च वचनमेकत्वप्रसाधकं भवति॥ ५५॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(दु) तथा (णाणदो) ज्ञानसे (अत्थंतरिदो) अत्यन्त भिन्न होता हुआ (सो) वह जीव (समवायादो) समवाय सम्बन्धसे (णाणी) ज्ञानी (ण हि) नहीं होता है. (अण्णाणीति य वयणं) यह जीव अज्ञानी है ऐसा वचन (एगत्तप्पसाधगं होदि) गुण और गुणीकी एकताका साधनेवाला हो जाता है।

विशेषार्थ—यहां दो विचार पैदा होते हैं कि ज्ञानके साथ जीवका समवाय सम्बन्ध होनेके पूर्व यह जीव ज्ञानी था कि अज्ञानी? यदि कहोगे कि ज्ञानी था तो ज्ञानका समवाय सम्बन्ध हुआ यह कहना व्यर्थ होगा क्योंकि ज्ञानी तो पहले ही से था। अथवा यदि कहोगे कि वह अज्ञानी था तो वहां भी दो विचार हैं कि वह अज्ञान गुणके समवाय सम्बन्धसे अज्ञानी था कि स्वभावसे अज्ञानी था। यदि यह जीव अज्ञान गुणके समवायसे अज्ञानी था तो अज्ञान गुणका समवाय कहना वृथा होगा क्योंकि अज्ञानी तो पहलेसे ही था। अथवा यदि मानोगे कि स्वभावसे अज्ञानीपना है तो जैसे अज्ञानीपना स्वभावसे है वैसे ज्ञानीपना ही स्वभावसे क्यों न मान लिया जावे क्योंकि ज्ञान आत्माका गुण है गुण और गुणी भिन्न नहीं होते। यहां यह तात्पर्य है कि जैसे सूर्यमें मेघोंके पटलोंसे आच्छादित होते हुए प्रकाश पहलेसे ही मौजूद है फिर जितना २ पटल हटता है उतना २ प्रकाश प्रगट होता है तैसे जीवमें निश्चय नयसे क्रमवर्ती जाननेसे रहित तीन लोक सम्बन्धी व उसके भीतर रहनेवाले सर्व पदार्थोंके अनंत स्वभावोंको प्रकाश करनेवाला अखंड प्रकाशमई केवलज्ञान पहलेसे ही मौजूद है किन्तु व्यवहारनयसे अनादि कालसे कर्मोंसे ढका हुआ वह पूर्ण प्रगट नहीं है व उस पूर्ण ज्ञानका पता नहीं चलता है फिर जितना२ कर्म पटल घटता जाता है उतना २ ज्ञान प्रगट होता जाता है। ज्ञान जीवके बाहर कहीं भी नहीं है जहांसे जीवमें आता हो और पीछे समवाय सम्बन्धसे जीवसे मिल जाता हो।

भावार्थ—इस गाथामें बताया है कि जो कोई ऐसा मानते हैं

कि जीवसे ज्ञान गुण भिन्न था पीछे समवाय सम्बन्धसे मिला उनका मानना ठीक नहीं है, क्योंकि गुण और गुणी सदा ही एकरूप पाए जाते हैं—कभी भी गुणीसे गुण भिन्न रहता ही नहीं। यहां दिखला दिया है कि यदि ज्ञान जीवमें न था पीछेसे मिला तो ज्ञानके मिलनेसे पहले जीव अज्ञानी भया, यदि अज्ञान स्वभाव माना जावे तो ज्ञान स्वभाव माननेमें क्या बाधा है? वास्तवमें आत्मामें पूर्ण ज्ञान सदा मौजूद है—ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके अनुसार प्रगट होता है। यदि ज्ञानावरणीय कर्मका सर्वथा नाश होजावे तो पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो जावे। गुण और गुणी सदा अभेद रहते हैं यही श्रद्धान ठीक है। वास्तवमें गुण और पर्यायोंसे विशिष्ट ही द्रव्य होता है जैसे मोक्षपंचाशिकामें कहा है:—

**गुणपर्ययतादात्म्यविशिष्टं द्रव्यमुच्यते।**
**उत्पत्तिव्ययनैयत्वं पर्यायास्तस्य शाश्वताः॥ ८॥**

भावार्थ—जो गुण और पर्यायोंसे तादात्म्य हो अर्थात् एक रूप हो उसे ही द्रव्य कहते हैं। द्रव्यकी पर्यायें उत्पन्न हो कर नष्ट होती रहती हैं तो भी द्रव्य सदा बना रहता है, पर्यायें भी सदा हुआ करती हैं।

इस तरह अपने ज्ञानको पूर्ण मानकर उसीके विकाशका यत्न करना जरूरी है।

उत्थानिका—आगे फिर समर्थन करते हैं कि गुण और गुणीकी एकताको छोड़ कर और कोई समवाय नहीं है।

**समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य।**
**तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धित्ति णिद्दिट्ठा॥ ५६॥**

समवर्तित्वं समवायः अपृथग्भूतत्वमतयुसिद्धत्वं च ।
तस्माद् द्रव्यगुणानां अयुता सिद्धिरिति निर्दिष्टा ॥ ५६ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(समवत्ती) द्रव्य और गुणका साथ २ रहना (समवाओ) समवाय है (अपुधब्भूदो य) यही अपृथग्भूत या अभिन्न है (अजुदसिद्धो य). तथा यही अयुतसिद्ध है-कभी मिलकर नहीं हुआ है (तम्हा) इसलिये (दव्वगुणाणं) द्रव्य और उसके गुणोंका ( अजुदा सिद्धित्ति ) अयुत सिद्धपना है ऐसा ( णिद्दिट्ठा ) कहा गया है ।

विशेषार्थ-जैन मतमें समवाय उसीको कहते हैं जो साथ २ रहते हों अर्थात् जो किसी अपेक्षा एकरूपसे अनादिकालसे तादात्म्य सम्बन्ध या न छूटनेवाला सम्बन्ध रखते हों ऐसा साथ वर्तन गुण और गुणीका होता है इससे दूसरा कोई अन्यसे कल्पित समवाय नहीं है। यद्यपि गुण और गुणीमें संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा भेद है तथापि प्रदेशोंका भेद नहीं है इससे वे अभिन्न हैं। तथा जैसे दंड और दंडी पुरुषका भिन्न २ प्रदेशपनारूप भेद है तथा वे दोनों मिल जाते हैं ऐसा भेद गुण और गुणीमें नहीं है इससे इनमें अयुतसिद्धपना या एकपना कहा जाता है। इस कारण द्रव्य और गुणोंका अभिन्नपना सदासे सिद्ध है। इस व्याख्यानमें यह अभिप्राय है कि जैसे जीवके साथ ज्ञान गुणका अनादि तादात्म्य सम्बन्ध कहा गया है तथा वह श्रद्धान करने योग्य है वैसे ही जो अव्याबाध, अप्रमाण, अविनाशी, व स्वाभाविक रागादि दोष रहित परमानंदमई एक स्वभाव रूप पारमार्थिक सुख है इसको आदि लेकर जो अनंत गुण केवलज्ञानमें

अंतर्भूत हैं उनके साथ भी जीवका तादात्म्यसम्बन्ध जानना योग्य है तथा उसी ही जीवको रागादि विकल्पोंको त्यागकर निरंतर ध्याना चाहिये।

भावार्थ-जैन सिद्धांत कहता है कि कोई समवाय नामका दूसरा पदार्थ नहीं है जो गुण और गुणीको कभी जोड़ देता हो। गुण और गुणी सदासे ही एक प्रदेशवाले हैं। वे कभी न जुदे थे, न कभी वे मिले और न वे कभी जुदे २ होंगे-उनका अनादि कालसे अमिट तादात्म्य सम्बन्ध है। जो कभी जुदे हों फिर मिलें उनमें युत सिद्धपना कहा जाता है, परन्तु जो सदासे ही एक प्रदेशवाले हैं उनमें युतसिद्धपना दंड और दंडी पुरुषकी तरह नहीं कहा जासक्ता है। आत्मामें ज्ञानका तादात्म्य है ऐसा ही श्री विद्यानंदिस्वामीने आप्तपरीक्षामें कहा है:—

स्वयं ज्ञत्त्वे च सिद्धेऽस्य महेशस्य निरर्थकम्।
ज्ञानस्य समवायेन ज्ञत्वस्य परिकल्पनम्॥ ७४॥

भावार्थ-इस परमात्माके स्वयं ज्ञानपना सिद्ध है तथा ज्ञानके समवाय सम्बन्धसे यह ज्ञानीमय भया यह कहना निरर्थक है।

इस तरह समवायका खंडन करते हुए दो गाथाएं कहीं।

उत्थानिका-आगे दृष्टांत दार्ष्टान्त देकर द्रव्य और गुणोंमें किसी अपेक्षा अभेदके व्याख्यानको संकोच करते हुए कहते हैं-

वण्णरसगंधफासा परमाणुपरूविदा विसेसा हि।
दव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति॥ ५७॥
दंसणणाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि णण्णभूदाणि।
ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो॥ ५८॥

वर्णरसगंधस्पर्शाः परमाणुप्ररूपिता विशेषा हि।
द्रव्यतश्च अनन्याः अन्यत्वप्रकाशका भवन्ति ॥ ५७ ॥
दर्शनज्ञाने तथा जीवनिबद्धे अनन्यभूते।
व्यपदेशतः पृथक्त्वं कुरुते हि नो स्वभावात् ॥५८॥-युगम्

अन्वयसहित सामान्यार्थ-( हि ) निश्चयसे ( वण्णरसगंध-फासा ) वर्ण, रस, गंध, स्पर्श ( परमाणुपरूविदा ) परमाणुमें कहे हुए ( विसेसा ) गुण ( दव्वादो य अणण्णा ) पुद्गल द्रव्यसे अभिन्न हैं तौभी (अण्णत्तपगासगा) व्यवहारसे संज्ञादिकी अपेक्षा भेदपनेके प्रकाशक (होंति) हैं (तहा) तैसे (जीवणिबद्धाणि) जीवसे तादात्म्य सम्बन्ध रखनेवाले (दंसणणाणाणि) दर्शन और ज्ञान गुण (णण्ण-भूदाणि) जीवसे अभिन्न हैं सो (ववदेसदो) संज्ञा आदिसे (पुधत्तं) परस्पर भिन्नपना (कुव्वंति) करते हैं। (हि) निश्चयसे (सभावादो ण) स्वभावसे पृथक्पना नहीं करते हैं।

विशेषार्थ—प्रदेशोंकी अपेक्षा जैसे पुद्गल परमाणुसे उसके स्पर्शादि गुण अभिन्न हैं वैसे जीवसे उसके ज्ञानदर्शनादि गुण अभिन्न हैं। संज्ञा आदिकी अपेक्षा जैसे परमाणुका स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे भेद है वैसे जीवका अपने ज्ञान दर्शन गुणसे भेद है।

यहां यह तात्पर्य है कि इस अधिकारमें यद्यपि आठ प्रकार ज्ञानोपयोग और चार प्रकार दर्शनोपयोगके व्याख्यानके कालमें शुद्ध तथा अशुद्धकी अपेक्षा नहीं की थी तथापि निश्चयनयसे आदि मध्य अंतसे रहित परमानंदमई परमचैतन्यवान भगवान आत्मामें जो निराकुलता लक्षण पारमार्थिक सुख है उस ग्रहण करने योग्य सुखका उपादान कारण जो केवल दर्शन और केवलज्ञान दो उप-योग हैं वे ही ग्रहण करने योग्य हैं ऐसा श्रद्धान तथा ज्ञान करना

चाहिये । तथा उन्हींको ही आर्त्त रौद्र आदि सर्व विकल्पजाल त्यागकरके ध्याना योग्य है ।

भावार्थ—उपयोगका कथन समाप्त करते हुए आचार्यने बता दिया है कि गुण और गुणीमें नामादिकी अपेक्षा भेद तो है परन्तु वास्तविक कोई भेद नहीं है—जहां गुणी है वहीं उसके गुण रहते हैं। गुण और गुणीमें स्याद्वादनयसे कथंचित् भेद व कथंन्चित् अभेद मानना ही सच्चा ज्ञान है । जीवमें बारह उपयोगके भेद तो व्यवहारनयसे हैं, निश्चयनयसे शुद्ध ज्ञानदर्शन उपयोग ही जीवका निजगुण है अतएव इन्हीं गुणोंका रागद्वेष त्यागकर ध्यान करना योग्य है जिससे परम स्वाभाविक आनन्द अनुभवमें आजावे ।

श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासनमें कहते हैं—

**स्वपरज्ञप्तिरूपत्वान्न तस्य कारणान्तरं ।**
**ततश्चितां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यतां ॥ १६२ ॥**

**दृग्बोधसाम्यरूपत्वाज्जानन् पश्यन्नुदासिता ।**
**चित्सामान्यविशेषात्मा स्वात्मनैवानुभूयतां ॥ १६३ ॥**

भावार्थ—आत्मा स्वयं आपा परको जाननेवाला है उसके लिये अन्य कारणकी जरूरत नहीं है इससे चिंताको छोड़ स्वसंवेदन ज्ञानसे ही उसका अनुभव करो । यह आत्मा दर्शनज्ञानमई समताभावके रखनेसे मात्र देखने जाननेवाला व उदासीन है ऐसा चैतन्य सामान्य विशेषरूप आत्मा अपने ही आत्मा द्वारा अनुभव करने योग्य है ।

इस तरह दृष्टांत और दार्ष्टांत रूपसे दो गाथाएं कहीं । यहां पहले 'उवओगो दुवियप्पो' इत्यादि पूर्व कहे प्रमाण पाठके

क्रमसे दर्शन ज्ञानको कहते हुए स्थल पांचसे नव गाथाएं कहीं। फिर 'ण वियप्पदि णाणादो' इत्यादि पाठ क्रमसे नैयायिकके लिये गुण और गुणीका भेद हटाते हुए चार अंतर स्थलोंसे दस गाथाएं कहीं। इस तरह समुदाय रूप उगनीस गाथाओंके द्वारा जीवाधिकारके व्याख्यान रूप नव अधिकारोंमें छठा उपयोग अधिकार समाप्त हुआ। *

उत्थानिका–आगे वीतराग परमानन्दमई अमृत रस रूप समतारसकी परिणतिमें रहनेवाले शुद्ध जीवास्तिकायसे भिन्न जो कर्मोंका कर्तापना भोक्तापना व उनसे संयोगपना ये तीन स्वरूप हैं उस सम्बन्धमें पहले अठारह गाथाओंकी समुदाय पातनिकासे जो सूचना की थी उसीका वर्णन अब "जीव अणाइणिहणा" इत्यादि पाठक्रमसे पांच अंतर स्थलोंके द्वारा करते हैं।

उनमेंसे पहले ही जिन जीवोंका आगे कर्तापना, भोक्तापना व संयोग ये तीन भाव कहेंगे उनका पहले स्वरूप व उनकी संख्या कहते हैं।

जीवा अणाइणिहणा संता णंता य जीवभावादो।
सब्भावदो अणंता पंचग्गगुणप्पधाणा य ॥ ५९ ॥
जीवा अनादिनिधनाः सांता अनंताश्च जीवभावात्।
सद्भावतोऽनंताः पंचाग्रगुणप्रधानाः च ॥ ५६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जीवा) जीव (जीवभावादो) अपने जीव सम्बन्धी भावोंकी अपेक्षा (अणाइणिहणा) अनादि अनंत

* हमने मुद्रित प्रतिके अनुसार "ण वियप्पदि" गाथाके पीछे मतिज्ञानादिका व्याख्यान किया है। परंतु इस पीठिकाके अनुसार इसके पहले होना चाहिये था, सो पाठकगण विचार लेवें।

हैं, ( संता ) सांत हैं ( णंता य ) और अनंत हैं ( पंचगगुणप्पधाणा य ) इस तरह पांच मुख्यगुणधारी हैं तथा ( सब्भावदो ) सत्तापनेकी अपेक्षा ( अणंता ) अनंत हैं।

विशेषार्थ—ये जीव शुद्ध पारिणामिक परमभावको ग्रहण करनेवाली शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे शुद्ध चैतन्यरूप हैं इससे अनादि अनंत हैं अर्थात् पारिणामिक भाव सदा बना रहता है, और औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीन भावोंकी अपेक्षा सादि सांत हैं अर्थात् ये तीन भाव कर्मोंके उदय, उपशम, या क्षयोपशमके द्वारा होते हैं और नष्ट होते हैं तथा क्षायिकभावोंकी अपेक्षा सादि अनंत हैं। क्षायिक भावोंको सादिसांत न मानना चाहिये क्योंकि वे भाव कर्मोंके क्षयसे केवलज्ञानादि रूपसे उत्पन्न होकर सदा बने रहते हैं वे भाव सिद्ध जीवके समान जीवके स्वाभाविक भाव हैं और स्वभावका कभी नाश नहीं होता है। यद्यपि ये जीव स्वभावसे शुद्ध हैं तथापि व्यवहारनयसे अनादिकालसे कर्मबंध होनेके कारण कर्दम सहित जलकी तरह औदयिक आदि भावोंमें परिणमन करते हुए देखे जाते हैं इस तरह स्वरूपका व्याख्यान किया गया। अब संख्याको कहते हैं कि ये जीव द्रव्य स्वभावकी गणनासे अनंत हैं अर्थात् इनकी संख्या अक्षय अनंत है; सांत, अनंत शब्दका दूसरा व्याख्यान करते हैं जिनका अंत हो अर्थात् जिनके संसारका अंत हो सके वे जीव सांत अर्थात् भव्य हैं व जिनके संसारका अंत न हो सके वे जीव अनंत अर्थात् अभव्य हैं। ये अभव्य जीव अनंत हैं इनसे भी अनंतगुणे भव्य हैं, इन भव्योंसे भी अनंतगुणे अभव्य समान भव्य हैं जिनका भी संसार अंत होनेका अवसर

नहीं आयगा—इस सूत्रका यह तात्पर्य है कि जो भव्य जीव सादि सांत मिथ्यात्व रागादि दोषके त्यागमें परिणमन करनेवाले हैं उनको अनादि अनंत अनंतज्ञानादि गुणके धारी शुद्ध जीव ही गृहण करने योग्य हैं ।

भावार्थ—वृत्तिकारने इस गाथाके जो दो अर्थ किये हैं वे दोनों ठीक २ मूल गाथासे झलक जाते हैं । एक अर्थ तो यह है कि अनंतानंत जीव अपने जीवके भावको सदा रखते हुए कभी जीवपनेसे शून्य न थे, न कभी होवेंगे इसलिये वे अनादि और अनंत हैं—वे कभी न जन्मे न कभी नाश होवेंगे । जैसे यह लोक अनादि अनंत है वैसे जीव भी अनादि अनंत हैं । उनहीमें दो भेद हैं—एक भव्य जीव जिनका संसार अंत हो सक्ता है दूसरे अभव्य जीव जिनका संसार अंत नहीं होसक्ता है । ये सब जीव औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पांच प्रकार भावोंको रखनेवाले हैं ।

जिनमें कर्मोंके उदयादिकी अपेक्षा न हो वे पारिणामिक भाव हैं। निश्चय नयसे शुद्धजीवत्त्व पारिणामिक भाव है जो अनादिसे अनंतकालतक सर्व जीवोंमें बना रहता है । जो जीव व्यवहारनयसे अशुद्ध हैं उनके अशुद्ध जीवत्व उस समय तक है जबतक वे शुद्ध न हों—व्यवहार नयसे ही उनमें भव्यत्व और अभव्यत्व दो भाव पारिणामिक हैं—जो सिद्ध होनेकी योग्यता रखते हैं वे भव्य हैं। जिनमें यह योग्यता गाढ़ कर्मोंके बन्धनोंकी अपेक्षा नहीं है वे अभव्य हैं। सर्वज्ञने जैसा जीवोंको जाना है वैसा उन्होंने वर्णन किया है। अभव्य जीवोंको धर्मोपदेशका निमित्त मिलनेपर भी वे अपने

सम्यग्दर्शन गुणका विकाश नहीं करपाते हैं। वे मुनि होकर तप भी करते हैं फिर भी आत्मानुभवके स्वादसे वंचित रहते हुए मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। यद्यपि वे पुण्यके उदयसे नौग्रैवेयक तक चले जाते हैं तथापि सम्यग्दर्शन न पाते हुए संसारका नाश नहीं कर सक्ते हैं। ऐसे अभव्य जीव एक नियमित संख्यामें अनंत हैं इनसे अनंतानंत गुणे भव्य जीव हैं उनमेंसे ही मोक्ष प्राप्त करते हुए सिद्ध होते रहते हैं क्योंकि काल अनंत हैं इससे उनका कभी क्षय नहीं होसक्ता—उनकी राशि अक्षय अनंत आकाशके समान है ऐसा सर्वज्ञने जानकर आगम द्वारा बताया है। जैसे आकाशकी किसी दिशाको तय करते हुए अनंतकालमें भी उस दिशाका अंत नहीं होसक्ता है इसी तरह भव्यजीवोंमेंसे मुक्ति प्राप्त करते हुए भी कभी उनका अंत नहीं आसक्ता है।

जो दो भाव उपशम सम्यक्त और उपशम चारित्र हैं वे मोहनीय कर्मोके उपशम अर्थात् दबनेसे उत्पन्न होते हैं वे औपशमिक भाव हैं। जैसे कर्दम सहित पानीकी मिट्टी निर्मलीके डालनेसे नीचे बैठ जावे, ऊपर पानी साफ है; ऐसे ये भाव होते सो अंतर्मुहूर्तके लिये ही होते हैं इसलिये ये भाव सादिसांत हैं अर्थात् आदि सहित और अंतसहित हैं।

जो भाव कर्मोंके क्षयसे होते हैं वे क्षायिक भाव हैं जैसे क्षायिक सम्यक्त, क्षायिकचारित्र जो मोहनीय कर्मके क्षयसे होते हैं। अनन्तज्ञान जो ज्ञानावर्णीयके क्षयसे, अनन्तदर्शन जो दर्शनावरणीके क्षयसे; अनंतदान, अनंतलाभ, अनंत भोग, अनंतउपभोग तथा अनंतवीर्य जो अंतराय कर्मके क्षयसे होते हैं इस तरह जो

क्षायिक भाव हैं जो वास्तवमें जीवके स्वभाव हैं परंतु वे अनादि-
कालसे ही कर्मोंके उदयके प्रभावसे ढक रहे थे या पूर्ण प्रगट
नहीं थे वे ही भाव पूर्ण कर्मोंके नाश होनेपर प्रगट होजाते हैं।
जैसे कर्दमको पानीसे निकाल देनेपर पानी स्वच्छ हो जाता है ऐसे
निर्मल क्षायिक भाव एक दफे प्रकाशमें आकर फिर कभी नहीं
नष्ट होते हैं इसलिये वे भाव सादि अनंत हैं।

जो भाव कर्मोंके सर्वघाति स्पर्धकोंके अर्थात् उन कर्मवर्गणा-
ओंके जो सर्व तरह आत्मगुणके घातक हैं उदयाभाव क्षयसे अर्थात्
विना फल दिये झड़जानेके कारणसे तथा उनहीमेंसे जो उदयमें
नहीं आते हैं उनका सत्तामें वने रहनेरूप उपशमसे और उसी
समय देशघाति स्पर्द्धकोंके अर्थात् जो कुछ आत्मगुणके घातक हैं
उनके उदय होनेसे जो मिश्रभाव जीवके होते हैं वे क्षायोपशमिक
हैं। जैसे कर्दम सहित पानीकी कुछ मिट्टी निकल जाय कुछ दव
रही हो कुछ पानीमें मिली हो तव जैसा कुछ गंदला पानी भाव है
वैसा जीवका होता है यह भाव क्षायोपशमिक है। इसके अठारह
भेद तत्वार्थसूत्रमें कहे गए हैं—

मति श्रुत अवधि मनःपर्यय ये चार सुज्ञान, कुमति
कुश्रुतक, कुअवधि ये तीन अज्ञान, चक्षु, अचक्षु, अवधि ये तीन
दर्शन, क्षायोपशमिक दान लाभ भोग उपयोग वीर्य ये पांच लब्धि,
क्षायोपशमिक सम्यक्त, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम इनमेंसे
चार सुज्ञान एक अवधिदर्शन व क्षायोपशमिक सम्यक्त, क्षायोपशमिक
चारित्र व संयमासंयम ये आठ भाव भव्य सम्यग्दृष्टिके होते हैं और
जब वह मोक्षके लिये कर्मोंको क्षय करता जाता है तब ये छूट जाते

हैं इसलिये ये भाव सादि सांत हैं। तीन अज्ञान, दो दर्शन और पांच लब्धि ये दस भाव भव्य अभव्य दोनोंके होते हैं। अनादि कालीन निगोद जीवके दो अज्ञान एक अचक्षु दर्शन व पांच लब्धि ऐसे आठ भाव अनादिकालसे प्रवाहकी अपेक्षासे हैं। कुअवधि देव नारकीकी अवस्थामें होती है, चक्षु दर्शन चौइन्द्री पंचेन्द्रीके ही होता है इसलिये ये भाव अनादि निगोदियाके न होनेकी अपेक्षा प्रवाहसे भी सांत हैं।

ये क्षायोपशमिक भाव होते रहते हैं व वदलते रहते हैं इस पर्याय पलटनेकी अपेक्षा सादि सांत हैं। जो जीव संसारमें ही बने रहते हैं उनके प्रवाहकी अपेक्षा यथासंभव अनादि अनंत रहते हैं।

जो भाव कर्मोंके उदयकी अपेक्षासे हों उनको औदयिक भाव कहते हैं जैसे कर्दमसे गंदला पानी वैसे ये भाव कर्मोंसे मैले कलुषित होते हैं। सूत्रमें ये भाव इक्कीस हैं—

चार गति, चार कषाय, तीन वेद, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयत, एक असिद्धत्व, छः लेश्याएं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल; ऐसे इक्कीस भाव औदयिक हैं। ये समय समय भिन्न २ कर्मोंके उदयसे होते हैं और नष्ट होते हैं इसलिये ये भाव पर्यायकी अपेक्षा सादि सांत हैं तथापि प्रवाहकी अपेक्षा जो संसारमें ही बने रहेंगे उनकी दृष्टिसे यथासंभव अनादि अनंत हैं व जो मुक्त होंगे उनकी अपेक्षा अनादि सांत हैं।

इनमेंसे एक जीवके एक समयमें एक ही गति, एक ही कषाय, एक ही वेद व एक ही लेश्याभाव उदयमें होगा फिर वे वदलकर दूसरे हो जांयगे इससे ये भाव सादि सांत हैं। अनादिसे अनंत

तक संसारमें रहनेवालेके मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व ये चार भाव सदा ही प्रवाह रूपसे बने रहेंगे इसमें ये अनादि अनंत हैं तथा जो संसारसे मुक्त होंगे उनके ये चार भाव अनादि सांत होंगे।

इसतरह पांच भावोंके धारी जीव इस संसारमें भिन्न २ सत्ताको धरनेवाले अनंतानंत हैं-

पंचाध्यायीकारने इन पांच भावोंका स्वरूप बताया है सो ये हैं-

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात् स्वतः।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः॥ ९६८॥
यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात्।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः॥९६९॥
यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम्॥ ९७०॥
कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ।
नाम्नाप्यौदयिकोऽन्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान्॥ ९७१॥
कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः॥९७२॥

भावार्थ-विरोधी कर्मोंके उदयके स्वयं उपशम होनेसे जो प्राणियोंके भाव होता है वह औपशमिक है। विपक्षी कर्मोंके सर्वथा क्षय होनेसे जो आत्माका भाव होता है वह क्षायिक है यह भाव आत्माका शुद्ध स्वाभाविक भाव है। जो भाव सर्वघाति स्पर्धकोंके उदय न होनेपर व देशघातिस्पर्द्धकोंके उदय होनेपर हो वह क्षायोपशमिक भाव है। जो भाव संसारी जीवोंके कर्मोंके उदयसे होता है वह औदयिक भाव है यही आत्माके गुणोंका घातक और कर्मबन्धका मूल कारण है अर्थात् संसारी जीवके कर्मोंका बन्ध

मात्र औदयिक भावसे ही होता है। जितना कर्मोंके उदयसे आत्मामें मलीनपना होता है वही नवीन कर्मोंका वन्ध करता है। वास्तवमें औपशमिक, क्षयोपशमिक व क्षायिक भावोंमें तो जीवका निज भाव प्रगट होता है। यह निज भाव वन्धका कारण नहीं होता है। जैसे औपशमिक सम्यक्त वन्धकारक नहीं है, न मतिज्ञान श्रुतज्ञान क्षायोपशमिकभाव वन्धकारक हैं, न क्षायिक सम्यक्त आदि क्षायिक भाव वन्धकारक हैं इन भावोंके साथ साथ जो मिथ्यात्व कषाय व अज्ञान आदिके भाव औदयिक होते हैं वे ही नवीन वंधके कारण हैं। पारिणामिक भावोंमें न वंधके उदयकी अपेक्षा है न वे वंधके मुख्य कारण होसक्ते हैं। जो भाव कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखते हों वे पारिणामिक भाव हैं, जो आत्माके स्वाभाविक भाव हैं। इस तरह पांच भावोंका स्वरूप जानना चाहिये—

श्री गोमटसार भव्यमार्गणामें कहा है:—

भविया सिद्धो जेसिं जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाभव्वा संसारादो ण सिज्झन्ति ॥ ५५६ ॥

भव्वत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा।
ण हु मलविगमे णियमा ताणं कणोवलाणमिव ॥५५७॥

ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहातीदणंतसंसारा।
ते जीवा णायव्वा णेव य भव्वा अभव्वा य ॥ ५५८ ॥

अवरो जुत्ताणंतो अभव्वरासिस्स होदि परिमाणं।
तेण विहीणो सव्वो संसारी भव्वरासिस्स ॥ ५५९ ॥

भावार्थ—होने योग्य है सिद्धि अर्थात् अनंतज्ञानादिकी प्राप्ति जिनके ऐसे भव्य सिद्ध हैं ऐसा कहनेसे यह मतलब है कि भव्य दो प्रकार हैं, कोई भव्य ऐसे हैं जो मुक्ति होनेके केवल योग्य

ही हैं, परन्तु कभी सामग्रीको पायकर मुक्ति लाभ न करेंगे तथा कोई भव्य ऐसे हैं जो सामग्रीको पाकर मुक्त होंगे। इन दोनों लक्षणसे रहित जो जीव जिनमें न मुक्ति होनेकी योग्यता है और न जो मुक्त होंगे वे अभव्य जीव जानने। जो भव्य जीव मात्र भव्यपनेकी योग्यता रखते हैं, परन्तु सिद्ध न होंगे उनको भवसिद्ध कहते हैं। जैसे कोई सुवर्ण सहित पाषाण ऐसे हैं जिनको कभी मैलके नाश करनेकी सामग्री न मिले वैसे कोई भव्य ऐसे हैं जिनको कर्ममल नाश करनेकी कभी सामग्री नियमसे नहीं मिल सके। जैसे अहमिंद्रदेवोंके नरकादिमें जानेकी शक्ति है परन्तु वे कभी गमन नहीं करते हैं वैसे कोई भव्य ऐसे हैं जो मुक्ति होनेके योग्य हैं परन्तु कभी मुक्त नहीं होते हैं। तथा जो जीव कोई नवीन ज्ञानादिक अवस्थाको प्राप्त न होंगे इससे वे भव्य नहीं हैं और जो अनन्तचतुष्टय रूप भए इससे अभव्य भी नहीं हैं ऐसे मोक्षके आनन्दके भोगनेवाले अनंत संसारसे रहित सिद्ध जीव हैं वे न भव्य हैं, न अभव्य हैं; वे मात्र शुद्ध जीवत्व पारिणामिक भावको धरनेवाले हैं। जघन्य युक्तानंत प्रमाण अभव्य जीवोंका प्रमाण है उससे रहित सर्व संसारी जीव अनंतानंत भव्य जीब हैं।

हमको उचित है कि इस विकल्पको छोड़कर—कि हम भव्य हैं कि अभव्य हैं—अपनेको शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध ज्ञान-दर्शन आनंद स्वभावका धारी मानकरके हमें इसी स्वभावकी भावना करनी योग्य है, यही हमारा पुरुषार्थ हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त कराकर व मुक्तिमार्गपर आरूढ़ कराकर मोक्ष पहुंचा देगा।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे

नाश और जन्म होते हैं तथापि द्रव्यार्थिक नयसे नहीं होते हैं। ऐसा कहनेमें कोई पूर्वापर विरोध नहीं है।

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होइ उप्पादो।
इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं ॥६०॥

एवं सतो विनाशोऽसतो जीवस्य भवत्युत्पादः।
इति जिनवरैर्भणितमन्योऽन्यविरुद्धमविरुद्धम्‌ ॥ ६० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(एवं) ऊपर कहे प्रमाण पर्यायकी अपेक्षासे (जीवस्स) जीवके (सदो) विद्यमान पर्यायका (विणासो) नाश व (असदो) अविद्यमान पर्यायका (उप्पादो) जन्म होता है (इति) ऐसा (जिणवरेहिं) जिनेन्द्रोंने (भणिदं) कहा है ( अण्णोण्णविरुद्धं ) यह बात परस्पर विरोधरूप है तथापि (अविरुद्धं) विरुद्ध नहीं है।

विशेषार्थ–पूर्व गाथामें जैसा कहा है उस तरह औदयिक भावकी अपेक्षासे आयुके नाशसे मनुष्य पर्याय जो अब विद्यमान है उसका नाश होता है तथा गति नामकर्मके उदयसे अविद्यमान देवादि पर्यायका जन्म होता है यह बात सर्वज्ञ भगवानने कही है। पहले द्रव्यके वर्णनकी पीठिकामें सत्‌ रूप विद्यमान जीवका नाश तथा असत्‌ रूप अविद्यमान जीव द्रव्यका जन्म नहीं होता है ऐसा कहा था, यहां कहा है कि सत्‌ रूप जीवका नाश होता है और असत्‌ रूप जीवका उत्पाद होता है इसलिये विरोध आ जायगा सो आचार्य कहते हैं कि विरोध नहीं आयगा क्योंकि वहां द्रव्यकी पीठिकामें द्रव्यार्थिक नयसे उत्पाद और व्ययका निषेध किया गया है, यहां पर्यायार्थिक नयसे उत्पाद व्यय होने हैं ऐसा कहा है इसमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय परस्पर

अपेक्षावान हैं। यहां यह अभिप्राय है कि यद्यपि पर्यायार्थिक नयसे किसी पर्यायकी अपेक्षा जीव द्रव्य सादि सान्त कहा गया है तथापि शुद्ध निश्चयनयसे जो अनादि अनन्त एक टंकोत्कीर्ण ज्ञाता मात्र एक स्वभावधारी व निर्विकार सदा आनन्द स्वरूप जीव द्रव्य है वह ही ग्रहणकरने योग्य है।

भावार्थ-इस गाथामें पर्यायार्थिकनयसे वताया है कि जीवमें अवस्थाएं जो बदलती रहती हैं उनकी अपेक्षा विद्यमान अवस्थाका नाश होनेसे ही जो अवस्था न थी सो प्रगट होती है जैसे संसार अवस्थाका नाश होना सो ही अविद्यमान-जो पहले न थी ऐसी-सिद्ध अवस्थाका प्रगट होना है, परन्तु जिस पदार्थमें ये अवस्थाएं बदलती हैं वह पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षा वही रहता है। वही जीव संसार अवस्थामें था सो ही मोक्ष अवस्थामें है। स्याद्वादनयसे नित्य और अनित्यपना दोनों एक द्रव्यमें विना किसी [illegible]के सिद्ध होता है सर्वथा नित्य पदार्थ भी व्यर्थ है तथा सर्वथा अनित्य पदार्थ भी व्यर्थ है। जिसमें दोनों स्वभाव होंगे वही पदार्थ कुछ काम कर सक्ता है। आप्तमीमांसामें स्वामी समंतभद्राचार्य कहते हैं—

**न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तम न्वयात**
**व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥**

भावार्थ-पदार्थ अपने द्रव्यपनेकी अपेक्षा न जन्मता है न नष्ट होता है वही द्रव्य अन्वयरूपसे अपनी सर्व पर्यायोंमें रहता है परंतु विशेष या पर्यायकी अपेक्षा वही द्रव्य नाश भी होता है और जन्मता भी है। हे अर्हन्! आपके मतमें सत् द्रव्य वही है जिसमें एक साथ उत्पाद व्यय औ

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्रमें जो जीवके भिन्न २ पर्याय धारनेकी अपेक्षा उत्पाद व्यय कहा है उस पर्याय धारणका कारण नर नारक आदि गतिनामा नाम कर्मका उदय है ऐसा कहते हैं—

णेरइयतिरियमणुआ देवा इदि णामसंजुदा पयडी।
कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं॥ ६१॥
नारकतिर्यङ्मनुष्या देवा इति नामसंयुताः प्रकृतयः।
कुर्वन्ति सतो नाशमसतो भावस्योत्पादं॥ ६१॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(णेरइयतिरियमणुआ देवा इदि) नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ये (णामसंजुदा पयडी) गति नाम कर्मकी प्रकृतियां हैं सो (सदो भावस्स) विद्यमान पर्यायका (णासं) नाश और (असदो उप्पादं) अविद्यमान पर्यायका जन्म (कुव्वंति) करती हैं।

विशेषार्थ—जैसे समुद्र समुद्ररूपसे अविनाशी है तौ भी उसकी तरंगोंमें उपजना विनशना हुआ करता है तैसे यह जीव स्वाभाविक आनंदमई एक टंकोत्कीर्ण (टांकीसे पत्थरमें उकेरी मूर्तिके समान) ज्ञाता दृष्टा स्वभावसे नित्य है तौभी व्यवहारनयसे अनादिकालके प्रवाह रूप कर्मोंके उदयके वशसे निर्विकार शुद्धात्माकी प्राप्तिसे हटा हुआ नरकगति आदि कर्मोंके उदयसे एक गतिको छोड़कर दूसरी गतिमें जन्मता रहता है। यह पर्यायके पलटनेकी अपेक्षा कहा है। वास्तवमें द्रव्यमें सदृश या विसदृश पर्यायें सदा ही होती रहती हैं, जैसा कि कहा है:—

अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणं।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले॥

अर्थात् अनादिसे अनन्तकाल तक बने रहनेवाले द्रव्यमें अपनी पर्यायें प्रति समय प्रगट होती रहती हैं और नष्ट होती रहती हैं जैसे समुद्रमें जलकी तरंगें उठती और बैठती रहती हैं। यहां यह तात्पर्य है कि जो कोई शुद्ध निश्चयनयसे मूल और उत्तर प्रकृतियोंसे रहित वीतराग परम आनन्दमई एक रूप चैतन्यके प्रकाशको रखनेवाला है वही शुद्ध जीवास्तिकाय ग्रहण करने योग्य है।

भावार्थ–इस गाथामें बताया है कि नामकर्मके उदयसे इस जीवकी गतियां बदलती रहती हैं। आयुकर्मके साथ जबतक जिस गतिका उदय होता है तबतक वह गति रहती है। जब आयुकर्म नष्ट होजाता है तब वह गति भी नष्ट होजाती है और उसी समय दूसरी आयु व दूसरी गतिका उदय प्रारम्भ होजाता है। निगोदिया जीव अनादिसे निगोदमें पड़ा हुआ साधारण वनस्पति कायमें तिर्यंच गतिमें ही पर्याय पलटा करता है, वही कभी पृथ्वी, अप, तेज या वायु हो जाता है कभी द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेन्द्रियमें आकर जन्मता है। पंचेन्द्रियोंमें कभी नरक, कभी मनुष्य, कभी देव हो जाता है। इस तरह जो पर्याय होती है उसका नाश होजाता है और जो पर्याय नहीं होती है उसका जन्म होजाता है।

इस तरह असत्का उत्पाद और सत्का विनाश सिद्ध होता है तौभी वह जीव द्रव्यपनेसे वही अपनी सर्व पर्यायोंमें रहता है।

पंचाध्यायीकार कहते हैं—

आया न्यायवलादेतत् त्रितयमेककालं स्यात्।
उत्पन्नमंकुरेण च नष्टं बीजेन पादपत्वं तत्॥

भावार्थ–जब बीज बोया जाता है तब बीज नष्ट होकर अंकुर पैदा होता है तथापि वृक्षपना बीज और अंकुर दोनोंमें मौजूद है—

अर्थात् जिस वृक्षका वह वीज है व जिसमें शक्तिसे वृक्षपना मौजूद है वही वीज जव अंकुरकी सूरतमें वदल जाता है तव भी उसी वृक्षपनेको रखता है जो वीजकी दशामें था, इस तरह यह अच्छी तरह सिद्ध है कि पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है।

इस तरह कर्मका कर्तापना आदि तीन वातोंकी पीठिकाके व्याख्यानकी अपेक्षा तीन गाथासे पहला अन्तर्स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे पीठिकामें पहले जो जीवके औदयिक आदि पांच भावोंकी सूचना की थी उन्हींका व्याख्यान करते हैं—

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा वहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा ॥६२॥
उदयेनोपशमेन च क्षयेण च द्वाभ्यां मिश्रिताभ्यां परिणामेन।
युक्तास्ते जीवगुणा वहुषु चार्थेषु विस्तीर्णाः ॥ ५२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(ते जीवगुणा) वे परमागममें प्रसिद्ध जीवके परिणाम (उदयेसु) कर्मोंके उदयसे होनेवाले औदयिक, (उवसमेण) कर्मोंके उपशमसे होनेवाले औपशमिक (य क्षयेण) और कर्मोंके क्षयसे होनेवाले क्षायिक (दुहिं मिस्सिदेहिं) दोनों क्षय और उपशमके मिश्रसे होनेवाले क्षायोपशमिक तथा (परिणामे) पारिणामिक भावोंसे (जुत्ता) संयुक्त (वहुसु य अत्थेसु) वहुतसे भेदोंमें (विच्छिण्णा) फैले हुए हैं।

विशेषार्थ—यहां वृत्तिकारने "वहुसुद सत्थेसु वित्थिण्णा" पाद लेकर यह अर्थ किया है कि वहुतसे शास्त्रोंमें इनका विस्तार किया गया है। इन पांच भावोंमें औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक ये तीन भाव कर्मोंकी अपेक्षासे हैं। यद्यपि क्षायिक भाव केव-

लज्ञानादि रूप है और वह वस्तुके स्वभावसे शुद्ध बुद्ध एक जीवका स्वभाव है तो भी कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है इसलिये यह भाव भी कर्मोकी अपेक्षासे ही है। शुद्ध पारिणामिक भाव साक्षात् कर्मोंकी विना अपेक्षाके है। यहां यह तात्पर्य है कि इस व्याख्यानसे यह समझना कि क्षायोपशिक, औपशमिक तथा क्षायिक भाव मोक्षके कारण हैं तथा मोहके उदय सहित औदयिक भाव वन्धका कारण है तथा शुद्ध पारिणामिक भाव न वन्धका कारण है न मोक्षका। जैसा कि कहा है–

"मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रोपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिका भावा निःक्रियाः पारिणामिकाः" ॥

अर्थात्–मिश्रादि तीन भाव मोक्ष करते हैं, औदयिक भाव बंध करते हैं व पारिणामिक भाव बंध मोक्षकी क्रियासे रहित हैं।

भावार्थ–यहां यह भाव समझना चाहिये कि यदि जीवोंको कूटस्थ नित्य सर्वथा माना जायगा तो उनमें परिणामोंका वदलना न होगा तथा यदि उन्हें सर्वथा क्षणिक माना जायगा तो भी उनमें भिन्न२ अवस्थाका होना नहीं होसकेगा! जैसा जैनसिद्धांत वस्तुका स्वरूप अनेकांत बताता है. ऐसा यदि श्रद्धान किया जायगा तो पदार्थोंके स्थिर होते हुए भी उनमें परिणामोंका होना वन सकेगा। वास्तवमें पदार्थ एक धर्मरूप है ही नहीं उसमें अनेक स्वभाव पाए जाते हैं। जीवमें औदयिक चार भाव जो कर्मोंके उदय, उपशम, क्षयोपशम तथा क्षयकी अपेक्षासे हैं इसी हेतुसे होसक्ते हैं तथा पारिणामिक भाव जीवके जीव स्वभावके स्थिर रहनेकी अपेक्षासे कहा गया है। इन पांच भावोंका कुछ वर्णन पहले किया जा

चुका है। इनमेंसे जो जीव अभव्य हैं उनके कभी औपशमिक और क्षायिक भाव ही होते हैं मात्र तीन भाव नही होते हैं। भव्योंके–जो सिद्ध होंगे–पांचों भाव संभव हैं। इन पांच भावोंके त्रेपन भेद हैं जो पहले बताए जा चुके हैं। वास्तवमें मोक्षमार्गमें सबसे पहले औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। इस भावके प्राप्त होते ही भेदज्ञान पैदा हो जाता है और यह आत्मा सर्व अनात्मकृत भावोंसे जुदा शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, निज भावका कर्ता, भोक्ता, परमात्माके समान शुद्ध अपने अनुभवमें श्रद्धानके बलसे आजाता है। तब ही अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद आता है। इस भावके पानेपर यह आत्मा निश्चयसे मोक्षमार्गी होजाता है और अवश्य एक दिन सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करलेता हैं। एक अपूर्व प्रसन्नता सम्यक्तके होते हुए होजाती है। जैसा श्लोकवार्तिकमें कहा है:—

प्रागौपशमिकस्योक्तिर्भव्यस्यानादिसंसृतौ ।
वर्तमानस्य सम्यक्त्वग्रहणे तस्य संभवात् ॥ ७ ॥
यो यत्कालुष्यहेतुः स्यात्स कुतश्चित् प्रशाम्यति ।
तत्र तोये यथा पंकः कतकादिनिमित्ततः॥ २ ॥
स्वयं संविद्यमाना वा सम्यक्त्वादिप्रसन्नता।
सिद्धात्र साधयत्येव तन्मोहस्योपशांतताम् ॥ ५ ॥

भावार्थ–अनादिकालसे संसारमें भ्रमण करनेवाले भव्य जीवको सबसे प्रथम औपशमिक सम्यक्त होता है इसलिये पहले औपशमिक भावको सूत्रमें कहा गया है। जो कोई इस आत्माके भावमें कलुषता लानेके कारण हैं वे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय हैं उनके उपशम होनेसे कलुषता दब जाती है तब आत्माका भाव कलुषता रहित ऐसा निर्मल होजाता है जैसे मैला पानी कतक आदिके

निमित्तसे ऊपर निर्मल होजाता है-मिट्टी सब नीचे बैठ जाती है। सम्यक्त आदि भावोंके होनेपर एक अपूर्व प्रसन्नता होती है जो उस आत्माको स्वयं अनुभवमें आती है। यह प्रसन्नता अवश्य अनुभव सिद्ध है और यही इस बातको सिद्ध करती है कि इस आत्माके मोहका उपशम होगया है। इसलिये हम सबको जिस तरह बने उद्यम करके इस सम्यग्दर्शनको प्राप्त करना चाहिये।

इस तरह दूसरे अन्तर स्थलमें पांच भावोंके कथनकी मुख्यतासे एक गाथा सूत्र कहा। अब तीसरा स्थल कहते हैं। अथानंतर इस स्थलकी प्रथम गाथामें यह कहा जाता है कि निश्चयसे यह जीव ही रागादि भावोंका कर्ता है। दूसरी गाथामें यह है कि. उदय प्राप्त द्रव्य कर्म व्यवहारसे रागादि भावोंको करते हैं इस तरह दो स्वतंत्र गाथाएं हैं। फिर प्रथम गाथामें यह कहा है कि यदि एकांतसे उदयप्राप्त द्रव्य कर्म ही जीवके रागादि विभावोंके करनेवाले हों तो जीव सर्व प्रकारसे अकर्ता हो जावेगा। दूसरी गाथामें इस दोषका खंडन है। इस तरह पुर्व पक्ष और उसके समाधानकी मुख्यतासे गाथाएं दो हैं। फिर प्रथम गाथामें आगमका यह कथन दिखाया है कि निश्चयसे जीव पुद्गल कर्मोंका कर्ता नहीं है तथा दूसरीमें जीव और कर्म दोनोंमें अभेद षट्कारककी व्यवस्था बताई है इस तरह दो स्वतंत्र गाथाएं हैं। ऐसे तीसरे स्थलमें कर्तापनेकी मुख्यतासे समुदायरूप छः गाथाएं कही हैं।

उत्थानिका-आगे इस प्रश्नके होनेपर कि औदयिक आदि भावोंको जीव किस रूपसे करता है, आचार्य उत्तर देते हैं-

कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं ।
सो तेण तस्स कत्ता हवदित्ति य सासणे पढिदं ॥६३॥
कर्म वेदयमानो जीवो भावं करोति यादृशकं ।
स तेन तस्य कर्ता भवतीति च शासने पठितं ॥६३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(कम्मं) कर्मोंको (वेदयमाणो) भोगता हुआ (जीवो) यह जीव (जारिसयं) जिस तरहका (भावं) भाव (करेदि) करता है (सो) वह जीव (तेण) उसी कारणसे (तस्स) उसी भावका (कत्ता) कर्ता (हवदित्ति य) होता है ऐसा (सासणे) जिनशासनमें (पढिदं) व्याख्यान किया गया है ।

विशेषार्थ-वीतराग परमानंदमई प्रचंड और अखंड ज्ञानकांडमें रमण करनेवाली आत्माकी भावनाको न पाकर अपने मन वचन कायके व्यापाररूप कर्मकांडमें परिणमन करके जो इस जीवने पूर्व कालमें ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म बांध लिये हैं उनहीके उदयमें आने-पर उनको भोगता हुआ यह जीव जैसा रागादि परिणाम करता है उसी भावका यह जीव अशुद्ध निश्चय नयसे उस ही अशुद्ध भावके द्वारा कर्ता होजाता है ऐसा परमागममें कथन है ।

भावार्थ-आत्मा परिणमनशील है-जब इसमें कर्मोंके उदयका निमित्त नहीं होता है तब तो यह अपने शुद्ध भावोंमें परिणमन किया करता है और जब मोहादि कर्मोंके उदयका निमित्त होता है तब यह रागादि अशुद्ध भावोंमें परिणमन कर जाता है । जैसे स्फटिकमणिमें अनेक वर्णकी निकटता होनेसे स्फटिकका सफेद-वर्ण अनेक वर्णरूप परिणमन करजाता है और जब अनेक वर्णोंकी निकटता नहीं होती है तब वह अपने स्वाभाविक निर्मलभावमें ही

झलकता है, ऐसा ही जीवके भावोंका परिणमन जानना चाहिये, क्योंकि अनादिकालसे यह जीव कर्मोंका सम्बन्ध रखता है—यह प्रवाहरूपसे कर्मोंको बांधा करता है और उनका फल भोगकर उनको छोड़ा करता है इसलिये मोहादिके उदयके निमित्तसे इसके अशुद्ध रागादिरूप परिणमन होजाता है उस समय चारित्र गुण ही विकार रूप होजाता है। तब अशुद्ध निश्चयनयसे ऐसा कहा जाता है कि यह जीव कर्ता है, रागादि भाव इसके कर्म हैं और इस जीवने ही अपनी परिणतिरूप क्रिया की है। यदि जीव परिणमनशील न हो तो कभी भी कोई पौद्गलिक कर्म जीवको रागादिरूप न परिणमासके और तब जीवके संसार व उससे मुक्ति नहीं वन सक्ती है। इसलिये यह जीव ही अपने अशुद्ध भावोंका कर्ता परमागममें कहा गया है।

ऐसा ही श्री अमृतचंद्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहते हैं—

**परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसंतत्या ।**
**परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च ॥**

भावार्थ—यह जीव अनादिकालकी परिपाटीसे नित्य ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयसे परिणमन करता हुआ अपने ही परिणामोंका कर्ता और भोक्ता होजाता है।

यह जीव अपने शुद्धात्माकी भावनासे गिरा हुआ अशुद्ध निश्चयसे कर्मोंके उदयसे उत्पन्न रागादि विभावोंका कर्ता और भोक्ता होता है, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे गाथा कही।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि व्यवहारसे रागादि परिणामोंका कारण उदयप्राप्त द्रव्य कर्म है—

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्झदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥ ८४ ॥
कर्मणा विनोदयो जीवस्य न विद्यत उपशमो वा।
क्षायिकः क्षायोपशमिकस्तस्माद् भावस्तु कर्मकृतः ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-( कम्मेण विणा ) द्रव्य कर्मोंके सम्बंध विना (जीवस्स) इस जीवके ( उदयं ) औदयिक (वा) या (उवसमं) औपशमिक या (खइयं) क्षायिक या (खओवसमियं) क्षायोपशमिक भाव (ण विज्झदे) नहीं होता है (तम्हा) इसलिये (भावं तु कम्मकदं) ये सब भाव कर्मकृत हैं।

विशेषार्थ-शुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षणधारी और भावकर्म, द्रव्य कर्म तथा नोकर्मसे विलक्षण परमात्मासे विपरीत जो उदयमें प्राप्त द्रव्यकर्म हैं उनके विना जीवके रागादि परिणामरूप औदयिक भाव नहीं हो सक्ता है। केवल औदयिक ही नहीं औपशमिक भाव भी द्रव्यकर्मके उपशम विना नहीं होता है। इसी तरह क्षायोपशिक भाव द्रव्यकर्मोंके क्षयोपशम विना और क्षायिक भाव द्रव्यकर्मोंके क्षय विना नहीं होता है इसलिये ये सब भाव कर्मकृत हैं, क्योंकि शुद्ध पारिणामिक भावको छोड़कर पूर्वमें कहे हुए औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक ये चार भाव द्रव्यकर्मके विना नहीं होते हैं इसीलिये यह जाना जाता है कि ये औदयिक आदि चारों भाव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्यकर्म कृत हैं। यहां यह तात्पर्य है कि इस सूत्रमें सामान्यसे केवलज्ञानादि क्षायिक नवलब्धि रूप जो क्षायिक भाव है तथा विशेष करके जो केवलज्ञानमें गर्भित निराकुलता लक्षण निश्चय सुख है उसको आदि लेकर

जो अनन्तगुणोंका आधार है वही क्षायिक भाव सब तरहसे ग्रहण करने योग्य है ऐसा मन द्वारा श्रद्धान करना व जानना चाहिये तथा मिथ्यात्त्व व रागादि विकल्पजाल त्याग करके उसी क्षायिक-भावका निरन्तर ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ–इस गाथामें यह स्पष्ट किया है कि विभावोंका होना या उनका कमती, बढ़ती होना तथा उनका मिटना और शुद्ध भावोंका होना तब ही सम्भव है जब यह आत्मा परिणमनशील हो और किसी अन्य पुद्गलमय द्रव्यकर्मके बंधसे गृसित हो। संसारी जीव आठ कर्मोंसे एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध रखते हैं। उन हीमेंसे प्रबलकर्म मोह है, इसके उदयसे ही मिथ्यात्त्व रागद्वेष आदि भाव होते हैं। जब यह मोह उपशम होता है या दबता है तब सम्यग्दर्शन तथा शांत भाव होता है। मोहके क्षयोपशमसे कुछ मलीन श्रद्धान या शांत भाव होता है। मोहके क्षयसे पूर्ण शांत भाव होता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अंतरायका जबतक क्षयोपशम रहता है तबतक एक देश या अपूर्ण ज्ञान दर्शन व आत्मवीर्य प्रगट रहता है। इन तीनका सर्वथा उदय और उपशम नहीं होता है। केवलज्ञानीके इन तीनका सर्वथा क्षय होनेसे केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनंतवीर्य प्रगट हो जाता है। वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार अघातिया कर्मोंका उदय बना रहता है इनमें उपशम तथा क्षयोपशम नहीं होता है किन्तु इनका सर्वथा क्षय सिद्ध होनेके समयमें ही होता है। यदि द्रव्य कर्मोंका सम्बन्ध जीवके साथ नहीं होता तो ये चार भाव संभव नहीं थे इसीलिये इन भावोंको कर्मकृत कहा गया है। इन आठ कर्मोंमें मोह ही अति प्रबल है

इसके नष्ट होनेसे शेष कर्म शीघ्र ही क्षय होजाते हैं। जैसा तत्वार्थसारमें कहा है:—

पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः।
संसारबीजं कार्त्स्न्येन मोहनीयं प्रहीयते॥ २१॥
ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम्।
प्रहीयन्तेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषतः॥ २२॥

भावार्थ—तप आदि कारणोंसे पूर्वबद्ध कर्मोंके नाश होते हुए जब संसारका बीज जो मोहनीय कर्म है वह नष्ट हो जाता है तब पीछे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके एक साथ क्षय होनेसे केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा हो जाता है। इसलिये जिस तरह बने मोहके क्षयका उपाय करना योग्य है।

इस तरह इन ही चार भावोंका अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे कर्म कर्ता है इस व्याख्यानकी मुख्यतासे गाथा कही। इस तरह अशुद्ध निश्चय नयसे रागादि भावोंका कर्ता जीव है ऐसा पूर्व गाथामें कहा था। यहां बताया कि व्यवहारसे इनका कर्ता कर्म है इस तरह दो स्वतंत्र गाथाएं कहीं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यदि एकांतसे ऐसा मानें कि जीव कर्मोंका कर्ता नहीं है तो क्या दोष आएगा? उस दोषको बताते हुए पूर्वपक्ष कहते हैं—

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।
ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं भावं॥६५॥
भावो यदि कर्मकृतः आत्मा कर्मणो भवति कथं कर्ता।
न करोत्यात्मा किंचिदपि मुक्त्वान्यं स्वकं भावं॥ ६५॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जदि) यदि (भावो) रागादिभाव

(कम्मकदो) कर्मकृत ही हो तो (किध) किस तरह (अत्ता) आत्मा (कम्मस्स कत्ता होदि) द्रव्यकर्मोंका कर्ता होवे, क्योंकि एकांतसे कर्मकृत भाव लेनेपर आत्माके रागादि भावके विना उसके द्रव्यकर्मोंका बन्ध नहीं होसक्ता है, क्योंकि (अत्ता) यह आत्मा ( सगं भावं ) अपने ही भावको (मुत्ता) छोड़कर (अण्णं किंचि वि) और कुछ भी द्रव्यकर्म आदिको (ण कुणदि) नहीं करता है।

विशेषार्थ—आत्मा यदि सर्वथा रागादि भावोंका अकर्ता माना जावे ऐसा पूर्व पक्ष होनेपर दूसरी गाथामें इसका खण्डन है। एक व्याख्यान तो यह है। दूसरा व्याख्यान यह है कि इस ही गाथामें ही पूर्वपक्ष है तथा इसका समाधान है इससे अगली गाथामें वस्तुकी मर्यादाका ही कथन है। किस तरह सो कहते हैं—पूर्व कहे प्रकारसे यदि कर्म ही रागादि भावोंके कर्ता हों तो आत्मा पुण्य पापादि कर्मोंका कर्ता नहीं होसकेगा ऐसा दूषण देते हुए सांख्यमतानुसारी शिष्य कहता है कि हमारा मत यह है—

अकर्ता निर्गुणः शुद्धो नित्य सर्वगतोऽक्रियः।
अमूर्तश्चेतनो भोक्ता जीवः कपिलशासने॥

अर्थात्—यह जीव कर्मका कर्ता नहीं है, निर्गुण है, शुद्ध है, नित्य है, सर्वव्यापी है, निष्क्रिय है, अमूर्तीक है, चेतन है, मात्र भोगनेवाला है यह कपिलका मत है। इस वचनसे हमारे मतसे तो आत्माके कर्मोंका अकर्तापना होना भूषण ही है दूषण नहीं है। इसी बातका खण्डन करते हैं कि जैसे शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा रागादि भावोंका कर्ता नहीं है ऐसा ही यदि अशुद्ध निश्चयनयसे भी यह जीव अकर्ता हो तो उसके द्रव्यकर्मोंके बन्धका अभाव

होगा। कर्मबंध न होनेसे संसारका अभाव होगा तब फिर यह सर्वदा ही मुक्त रहेगा यह बात प्रत्यक्षसे विरोधरूप है यह अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने फिर भी जीवका परिणमनशील होना दृढ़ किया है और बताया है कि रागादि औपाधिक भावोंका अशुद्ध निश्चयनयसे उपादान कर्ता जीव है, निमित्त कर्ता मोहनीय कर्मोंका उदय है। जैसे मिट्टीके द्वारा घट बनता है उसमें घटका उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार आदि हैं।

जिसकी पर्याय पलटे उसको बतानेवाली निश्चयनय है, जिसके निमित्तसे पर्याय पलटे उसको बतानेवाली व्यवहारनय है। इस घटके दृष्टांतमें निश्चयनयसे घटकी कर्ता मिट्टी है व व्यवहारनयसे घटका कर्ता कुम्हार आदि हैं। इस ही तरह रागादि भावोंके होनेमें जीवका वीतराग या चारित्र भाव ही पलटकर रागादिरूप होजाता है इसलिये रागादि भाव जीवकी ही अशुद्ध परिणति है, परन्तु ये रागादि भाव मोहनीयादि कर्मोंके उदय विना नहीं होसक्ते हैं इसलिये इन भावोंका व्यवहार नयसे द्रव्यकर्म कर्ता है। भाव दो प्रकारके होते हैं—एक स्वाभाविक, दूसरे औपाधिक। स्वाभाविक भाव शुद्ध भाव हैं उनमें कर्मोंके उदयका निमित्त नहीं होता है। जब कि औपाधिक भाव अशुद्ध भाव हैं वे कर्मोंके निमित्त विना नहीं होते हैं—जैसे स्फटिकमणिमें यदि काले पीले डाकका निमित्त न हो तो उसके स्वच्छ सफेद भाव होगा। यदि काले पीले डाकका निमित्त हो जायगा तो स्वच्छ भाव छिपकर काला पीला भाव प्रगट होगा। इसमें स्फटिककी चमक ही बदली है। वैसे ही कर्मोंके निमित्तसे अशुद्ध भाव होनेमें जीवके भावोंमें ही परिणति हुई है—

उस समय अवश्य जीवका स्वाभाविक भाव छिप गया है। जैसे मात्र काले पीले डाकमें विना स्फटिक सम्बंधके काला पीला रतन सरीखा चमकाव नहीं होसक्ता वैसे मात्र पुद्गलमई द्रव्यकर्ममें आत्माके भावोंके पलटन विना रागादि भाव प्रगट नहीं होसक्ता है। इसीलिये अशुद्ध निश्चय नयसे रागादिका कर्ता जीव है। यदि जीव सांख्यमतके समान सर्वथा अकर्ता माना जावे तो वह पाप पुण्य कर्म क्यों बांधेगा व क्यों उनका सुख दुःख फल भोगेगा और क्यों वह संसारकी अवस्था नाश करनेके लिये और मोक्ष होनेके लिये यत्न करेगा।

गाथामें यह भी बताया है कि जीव मात्र अपनी ही परिणतिको करता है वह स्वयं द्रव्य कर्मोंको बांधता नहीं है। उसके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर स्वयं ही द्रव्यकर्म बन्ध जाता है। जैसे अग्निकी उष्णताका निमित्त पाकर स्वयं ही जल भापरूप होजाता है। ऐसा ही श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

जोवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥

भावार्थ—जीवसे किये हुए रागादि भावोंका निमित्त पाकर अन्य पुद्गल जो इस लोकमें भरे हैं वे स्वयं कर्मरूपसे परिणमन कर जाते हैं। इसलिये हमको रागादि भावोंमें अपना कर्तृत्व मानकर उन रूप न परिणमनेका उद्यम करके वीतराग भावोंमें परिणमनेका पुरुषार्थ करना योग्य है।

इस तरह इस गाथाके प्रथम व्याख्यानमें पूर्व पक्ष किया गया। दूसरे व्याख्यानमें पूर्व पक्षका उत्तर भी दिया गया। ऐसी यह गाथा कही।

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्रमें आत्माको कर्मोंका अकर्ता होते हुए दूषण देते हुए पूर्व पक्ष किया था उसीका आगे खण्डन देते हैं। दूसरे व्याख्यानसे वस्तुकी मर्यादा बताते हैं—

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥६६॥
भावः कर्मनिमित्तः कर्म पुनर्भावकारणं भवति।
न तु तेषां खलु कर्ता न विना भूतास्तु कर्त्तारं ॥ ६६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(भावो) रागादि भाव (कम्मणिमित्तो) कर्मोंके निमित्तसे होता है (पुण) तथा (भावकारणं) रागादि भावोंके कारणसे (कम्मं) द्रव्य कर्मका वन्ध (हवदि) होता है (तेसिं) उन द्रव्य और भाव कर्मोंका (खलु) निश्चयसे (कत्ता ण दु) परस्पर उपादान कर्तापना नहीं है (दु) परन्तु (कत्तारं विणा) उपादान कर्ताके विना (ण भूदा) वे नहीं हुए हे।

विशेषार्थ—निर्मल चैतन्यमई ज्योति स्वभावरूप शुद्ध जीवास्तिकायसे प्रतिपक्षी भाव जो मिथ्यात्त्व व रागादि परिणाम है वह कर्मोंके उदयसे रहित चैतन्यका चमत्कार मात्र जो परमात्म स्वभाव है उससे उल्टे जो उदयमें प्राप्त कर्म हैं उनके निमित्तसे होता है तथा ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे रहित जो शुद्धात्मतत्व है उससे विलक्षण जो नवीन द्रव्यकर्म हैं सो निर्विकार शुद्ध आत्माकी अनुभूतिसे विरुद्ध जो रागादि भाव हैं उनके निमित्तसे बंधते हैं। ऐसा होनेपर भी जीव सम्बन्धी रागादि भावोंका और द्रव्य कर्मोंका परस्पर उपादान कर्तापना नहीं है तौभी वे रागादि भाव और द्रव्यकर्म दोनों विना उपादान कारणके नहीं हुए हैं किंतु जीव

सम्बन्धी रागादि भावोंका उपादान कर्ता जीव ही है तथा द्रव्य कर्मोंका उपादानकर्ता कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल ही हैं। दूसरे व्याख्यानमें यह तात्पर्य है कि यद्यपि शुद्ध निश्चयनयसे विचार किये जानेपर जीव रागादि भावोंका कर्ता नहीं है तथापि अशुद्ध निश्चयनयसे जीव रागादि भावोंका कर्ता है यह वात सिद्ध है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि अशुद्ध निश्चयनयसे जीव अपने रागादि भावोंका उपादान कारण है, क्योंकि जीवका ही वीतराग भाव मोह आदि द्रव्यकर्मोंके उदयके निमित्त होनेपर राग या द्वेषभावरूप बदल जाता है। इससे यह वात प्रगट है कि रागादि भाव जीवके ही चारित्र गुणका विकार या अशुद्ध परिणमन है जो वास्तवमें शुद्ध निश्चयनयसे जीवका स्वाभाविक भाव नहीं है, किन्तु औपाधिक या नैमित्तिक भाव है। जब कर्मके उदयकी उपाधि न रहेगी तब ही यह भाव भी नहीं होगा। इसी तरह ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंका उपादान कारण कार्मणवर्गणारूप पुद्गल द्रव्य है। यही पुद्गल द्रव्य आत्माके योग और कषाय भावोंका निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप होकर आत्माके प्रदेशोंमें सम्बंध कर लेता है। जैसे अग्निकी उष्णताका निमित्त पाकर पानी स्वयं भाफरूप होजाता है। इस तरह जीवके अशुद्ध भावोंमें और द्रव्यकर्मोंमें परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु उपादानकारणरूप सम्बन्ध नहीं है। जीवका चैतन्य भाव कभी भी पौद्गलिक द्रव्यकर्मोंका उपादान नहीं होसक्ता, जैसे कुमारका घट बनानेका भाव कभी भी घटका उपादान नहीं होसक्ता इसी तरह पौद्गलिक द्रव्यकर्म स्वयं रागादि

भावके विना जीवके परिणमनके कभी भी उपादान कारण नहीं हो सक्ते। पौद्गलिक गुणसे चैतन्य गुण नहीं बन सक्ता है जैसे विना कुम्हारके मिट्टीके भीतर स्वयं घट बननेका भाव नहीं हो सक्ता है। इससे यह सिद्ध किया गया कि जीव अपने अशुद्ध भावोंका आप उपादान कर्ता है तथा पुद्गल अपने द्रव्यकर्मोंका उपादान कर्ता है। जीवके भाव और द्रव्यकर्ममें मात्र परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे बीजसे वृक्ष होता है और उस वृक्षसे फिर दूसरा बीज होता है, इस बीजसे फिर दूसरा वृक्ष होता है इसी तरह रागादि भावोंके निमित्तसे ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोंका बंध होता है और बंध प्राप्त कर्मोंके उदयसे फिर नए रागादि भाव होते हैं, उन भावोंसे फिर नवीन द्रव्यकर्म बंधते हैं इसतरह बंधका प्रवाह अनादि कालसे संसारी जीवोंके साथ चला आया है। जगतमें जीव और पुद्गल दो द्रव्य न हों तो बंध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सक्ती है।

श्री समयसारजीमें भी यही भाव दर्शाया गया है—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं॥ ९८॥
ववहारेण दु एवं करेदि घडपडरहादिदव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि॥१०५॥
जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी॥१०८॥
जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण॥ ११२॥
जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥१०६॥

भावार्थ-आत्मा जिस भावको करता है उसी भावका यह कर्ता होता है, इस भावके निमित्तको पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं द्रव्य कर्म रूप परिणमन कर जाता है। व्यवहार नयसे ऐसा कहते हैं कि यह जीव नाना प्रकार घट पट रथ आदि द्रव्योंको व इंद्रियोंको व द्रव्य कर्मोंको व शरीरादि नोकर्मोंको करता है। जीवके भाव इन कार्योंके होनेमें निमित्त हैं इससे व्यवहारमें जीवकर्ता कहलाता है, परन्तु निश्चयसे जो पुद्गल द्रव्यके परिणाम ज्ञानावरण आदि होते हैं उनको आत्मा नहीं करता है। आत्मा तो ज्ञानी है वह तो जानता है। जीवके भावोंका निमित्त पाकर कर्मोंके बन्धका परिणाम देखकर यह बात मात्र व्यवहारसे कही जाती है कि जीवने कर्म किये। जो भाव शुभ या अशुभ आत्मा करता है उसका वह कर्ता होता है और वह भाव ही उसका कर्म है व उसीका ही आत्मा भोगनेवाला है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी यह कहा है कि जीव अपने शुभ अशुभ भावोंका कर्ता है। जैसे—

परिणममानस्य चिदश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥

भावार्थ-यह जीव परिणमनशील चैतन्यमई है। इसके स्वयं चैतन्य भावोंमें परिणमन होता है उसी भावका पूर्वबद्ध पौद्गलिक कर्म निमित्त मात्र होजाता है।

इसलिये जिन मोहनियादि कर्मोंके निमित्तसे रागादि भाव होते हैं उन कर्मोंके नाशके लिये हमको निरतर शुद्ध आत्माकी भावना करनी योग्य है।

इसतरह पूर्व गाथामें प्रथम व्याख्यानके द्वारा पूर्व पक्ष किया था यहां उसीका उत्तर दिया इसतरह दो गाथाएं कहीं।

उत्थानिका—आगे इस ही व्याख्यानको आगमके कथनसे दृढ़ करते हैं—

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ॥६७॥

कुर्वन् स्वकं स्वभावं आत्मा कर्त्ता स्वकस्य भावस्य।
न हि पुद्गलकर्मणामिति जिनवचनं ज्ञातव्यम् ॥ ६७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(अत्ता) आत्मा (सगं सहावं) अपने ही स्वभावको (कुव्वं) करता हुआ (सगस्स भावस्स) अपने ही भावका (कत्ता) कर्ता होता है (पुग्गलकम्माणं ण हि) पुद्गल कर्मोंका कर्ता नहीं होता है (इदि) ऐसा (जिणवयणं) जिनेन्द्रका वचन (मुणेयव्वं) मानना योग्य है।

विशेषार्थ—यद्यपि शुद्ध निश्चयनयसे जीवके स्वभाव केवलज्ञानादि शुद्ध भाव कहे जाते हैं तथापि कर्मके कर्तापनेके व्याख्यानमें अशुद्ध निश्चय नयसे रागादि भी जीवके अपने भाव कहे जाते हैं—इन रागादि भावोंका तो जीवको कर्ता अशुद्ध निश्चयनयसे कह सक्ते हैं, परन्तु पुद्गलकर्मोंका कर्ता जीवको निश्चयनयसे नहीं कहा जासक्ता यह जिनेन्द्रका आगम है। यहां यह तात्पर्य है कि यद्यपि यहां जीवको अशुद्ध भावोंका कर्ता स्थापित किया है तथापि ये सब अशुद्ध भाव त्यागने योग्य हैं और इनसे विपरीत जो अनंत सुख आदि शुद्धभाव हैं सो ग्रहण करने योग्य हैं।

भावार्थ—यहां भी आगम प्रमाणसे यही बात कही है कि जीव अपने ही चैतन्य भावका आप कर्ता है, वह कभी भी जीवसे भिन्न पुद्गल कर्मका उपादान कर्ता नहीं हो सक्ता है।

समयसारजीमें कहा है—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणओ अणाणिस्स ॥१३४॥

भावार्थ—आत्मा अपने भीतर जो भाव करता है उसीभावका वह कर्ता होता है। ज्ञानी जीवके ज्ञानमई और अज्ञानी जीवके अज्ञानमई भाव होते हैं। इस तरह आगमके कथन रूपसे गाथा कही।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि निश्चयसे अभेद षट्कारक रूप होकर कर्म पुद्गल अपने भावोंको करता है और जीव अपने भावोंको करता है—

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं ।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥ ६८ ॥

कर्मापि स्वकं करोति स्वेन स्वभावेन सम्यगात्मानं ।
जीवोऽपि च तादृशकः कर्मस्वभावेन भावेन ॥ ६८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(कम्मं पि) कर्म भी (सेण सहावेण) अपने स्वभावसे (सगं) आप ही (अप्पाणं) अपने द्रव्य कर्मपनेको (सम्मं) भले प्रकार (कुव्वदि) करता है (तारिसओ) तैसे ही (जीवो वि य) यह जीव भी (कम्मसहावेण भावेण) रागादि कर्मरूप अपने भावसे अपने भावोंको करता है।

विशेषार्थ—वृत्तिकार कर्ता कर्म आदि छः कारकोंको लगाकर व्याख्यान करते हैं कि यह कार्मण पुद्गल कर्ता होकर कर्मकारकपनेको प्राप्त अपने ही द्रव्य कर्मपनेको अपनी ही कर्म पुद्गलकी सहायता रूप करणकारकसे कर्म पुद्गलकी अवस्थाके लिये कर्म पुद्-

लोमेंसे कर्म पुद्गलके ही आधारमें करता है इस तरह यह पुद्गल अपने ही अभेद छः कारकोंके द्वारा परिणमन करता हुआ अपनी अवस्थाको पलटता है उसको दूसरे द्रव्यके कारककी अपेक्षा नहीं है । इसी तरह यह जीव भी स्वयंकर्ता होकर कर्मपनेको प्राप्त अपने आत्मीक भावको अपने ही आत्मारूपी करणसे अपने ही आत्माके लिए अपने ही आत्मामेंसे अपने ही आत्माके आधारमें करता है अर्थात् आत्मा अपने ही अभेद छः कारकोंके द्वारा परिणमन करता हुआ अपने भावोंको करता है उसे दूसरे किसी कारककी अपेक्षा नहीं है । यहां यह तात्पर्य है कि जैसे यह आत्मा अशुद्ध छः कारकोंसे परिणमन करता हुआ अपने अशुद्ध आत्मीक भावको करता है तैसे यह शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, उसीके सम्यक्-ज्ञान तथा उसीके आचरण रूपसे अभेद छः कारकोंके स्वभावसे परिणमन करता हुआ शुद्ध आत्मीक भावको करता है ।

भावार्थ-इस गाथामें यही भाव दृढ़ किया है कि जीव अपने भावोंका और पुद्गल अपने परिणामोंका आप स्वयं कर्ता है ।

कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये छः कारक भेद और अभेद दो तरहसे कहे जाते हैं। यहां अभेद कथन है । भेद कथनका दृष्टांत यह है कि जैसे मालीने बीजको अपने हाथोंसे फलके लिये बीजके ढेरसे लेकर खेतमें बोया । यहां छहों बातें भिन्न२ हैं । अभेदमें छहों बातें एक ही द्रव्यमें कही जाती हैं। जैसे दूधने मलाईको अपने दूधपनेसे दूधकी अवस्थाके लिये दूधमेंसे दूधमें ही बनाई, इसी तरह कार्मण वर्गणा योग्य पुद्गलने ज्ञानावरणादि कर्म बनाए। इस कार्यमें कर्ता पुद्गल कर्म, कर्म ज्ञाना-

वरणादि कर्म, करण पुद्गलकी स्वयं परिणमन शक्ति, सम्प्रदान पुद्गल कर्मकी उत्तर अवस्था, अपादान पुद्गल कर्मकी पूर्व अवस्था, अधिकरण पुद्गल कर्म द्रव्य–ये छःकारक जैसे पुद्गलमें लगे वैसे जीवकी अपनी परिणति होनेमें यह छः कारक सिद्ध होते हैं। जीवने रागादि भाव किये। यहां कर्ता अशुद्ध जीव, कर्म रागादि भाव, करण जीवकी परिणमन शक्ति, सम्प्रदान जीवका अशुद्ध भावपना, अपादान जीवकी पूर्व अवस्था जिससे रागादि हुए, अधिकरण जीवके प्रदेश। इस तरह जीव और पुद्गल अपने भिन्न२ अभेद छःकारकों द्वारा अपने ही परिणामोंको करते हैं। कोई द्रव्य अन्य द्रव्यके उपादान रूपसे कोई अवस्था नहीं कर सक्ता है।

समयसारजीमें कहा है—

जो जम्हि गुणो दव्वे सो अण्ण दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥ ११० ॥
दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता॥ १११ ॥

भावार्थ–जो गुण जिस द्रव्यमें होता है वह अन्य द्रव्यमें नहीं बदल सक्ता है। जब एक गुण दूसरे गुण रूप नहीं बदल सक्ता है तब वह कैसे अन्य द्रव्यको अन्यरूप परिणमन करा सक्ता है। इसलिये यह आत्मा पुद्गलमई द्रव्य कर्ममें न तो पुद्गलमई द्रव्य कर्मको करता है और न गुणको। इन दोनोंको नहीं करता हुआ आत्मा किस प्रकार उस पुद्गलमई कर्मका कर्ता होसक्ता है।

इस तरह आगमके कथनसे और अभेद छः कारक रूपसे स्वतंत्र दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

इस तरह समुदायसे छः गाथाओंके द्वारा तीसरा अंतरस्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-आगे पूर्वोक्त प्रकारसे अभेद छः कारकका व्याख्यान करते हुए निश्चयनयसे यह व्याख्यान किया गया। इसे सुनकर नयोंके विचारको न जानता हुआ शिष्य एकांतको ग्रहण करके पूर्व पक्ष करता है।

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुंजदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥६९॥

कर्म कर्म करोति यदि स आत्मा करोत्यात्मानं।
कथं तस्य फलं भुङ्क्ते आत्मा कर्म च ददाति फलं ॥६९॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जदि) यदि (कम्मं) द्रव्यकर्म (कम्मं) द्रव्यकर्मको एकांतसे विना जीवके परिणामकी अपेक्षाके (कुव्वदि) करता है और (सो अप्पा) वह आत्मा (अप्पाणं) अपनेको ही (करेदि) करता है-द्रव्यकर्मको नहीं करता है तो (किध) किस तरह (अप्पा) आत्मा (तस्स फलं) उस विना किये हुए कर्मका फलको (भुंजदि) भोगता है (च) और (कम्मं) वह जीवसे विना किया हुआ कर्म (फलं) फल (देदि) देता है।

भावार्थ-यहां किसी शिष्यने यह शंका उठाई यदि प्रत्येक द्रव्य अपने२ परिणामके कर्ता हैं तब जीव अपने भावोंको करने-वाला है, पुद्गल अपने परिणामको करनेवाला है ऐसी दशामें संसारी आत्मा कर्मोंका फल क्यों भोगता है और कर्म भी आत्माको फल क्यों देते हैं। शिष्यने सर्वथा परस्पर सम्बन्धका अभाव मान लिया है। वह इस बातको भूल गया है कि जीवके रागादि परिणामोंके

निमित्तसे द्रव्य कर्मका बंध होता है तथा पूर्वबद्ध द्रव्य कर्मके उदयसे रागादि होते हैं। जीव और कर्मोंमें उपादान कर्तापना नहीं हैं किन्तु निमित्त कर्तापना है। इस तरह चौथे स्थलमें पूर्वपक्षकी गाथा कही।

उत्थानिका–ऊपरकी शंकाको दूर करते हुए गाथा सात हैं। उनमेंसे पुद्गलके भीतर स्वयं उपादान कर्तापना है इसकी मुख्यतासे "ओगाढ गाढ" इत्यादि पाठक्रमसे तीन गाथाएं हैं। फिर कर्तापना और भोक्तापनाके व्याख्यानके संकोचकी मुख्यतासे "जीवा पोग्गल काया" इत्यादि गाथा दो हैं फिर बंधका स्वामीपना और मोक्षका स्वामीपना बताते हुए "एवं कत्ता भोत्ता" इत्यादि गाथा दो हैं। इस तरह समुदायसे पूर्व पक्षके समाधानमें सात गाथाएं हैं। पहली गाथामें कहते हैं कि जैसे यह लोक सूक्ष्म जीवोंसे विना अन्तरके भरा है जो जीव शुद्ध निश्चयनयसे केवलज्ञानादि अनंतगुणोंके धारी हैं वैसे यह पुद्गलोंसे भी भरा है—

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहमेहिं वादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं ॥ ७० ॥

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः।
सूक्ष्मैर्वादरैश्चानंतानंतैर्विविधैः ॥ ७० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(लोगो) यह लोक (सव्वदो) सब तरफसे (सुहमेहिं) सूक्ष्म (वादरेहिं य) और स्थूल (विविहेहिं) नाना प्रकारके (णंताणंतेहिं) अनंतानंत (पोग्गलकायेहिं) पुद्गलके स्कंधोंसे (ओगाढ़गाढ़णिचितो) पूर्ण रूपसे भरा हुआ है।

विशेषार्थ–जैसे यह लोक पृथ्वीकाय आदि पांच प्रकारके

सूक्ष्म स्थावर जीवोंसे कज्जलसे पूर्ण भरी हुई कज्जलदानीकी तरह विना अंतरके भरा हुआ है उसी तरह यह लोक अपने सर्व असंख्यात प्रदेशोंमें दृष्टिगोचर व अदृष्टिगोचर नाना प्रकारके अनंतानंत पुद्गल स्कंधोंसे भी भरा है। यहां प्रकरणमें जो कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलस्कंध हैं वे वहां भी मौजूद हैं जहां आत्मा है। वे वहां विना अन्यत्रसे लाए हुए मौजूद हैं। पीछे बंधकालमें और भी वर्गणाएं आवेंगी। यहां यह तात्पर्य है कि यद्यपि वे वर्गणाएं जहां आत्मा है वहां दूध-पानीकी तरह कूटकूटकर भरी हुई हैं तथापि वे त्यागने योग्य हैं। उनसे भिन्न जो शुद्धबुद्ध एक स्वभाव-रूप परमात्मा है सो ही ग्रहण करने योग्य है।

भावार्थ-यहां यह बताया गया है कि अनंतानंत आकाशके मध्यमें जो यह पुरुषाकार तीनसे तेतालीस घनराजू प्रमाण लोक है वह अपने असंख्यात प्रदेशोंमें हर जगह पांचों द्रव्योंसे भरा हुआ है। धर्म, अधर्म तो लोकाकाश प्रमाण एक एक ही द्रव्य हैं कालाणु द्रव्य भिन्न२ एक आकाशके प्रदेशमें एक एक हैं इसलिये लोकाकाश प्रमाण असंख्यात हैं। जीव अनंतानंत हैं, पुद्गल उनसे भी अनंतानंत गुणे हैं। बादर जीवोंका शरीर स्थूल होता है किंतु सूक्ष्म स्थावर जीवोंका शरीर बहुत सूक्ष्म होता है व सूक्ष्म जीव कहीं भी बाधा नहीं पाते हैं। निगोद पर्यायधारी सूक्ष्म व बादर साधा-रण वनस्पति काय भी भरी हुई हैं, जिस निगोदके एक शरीरमें अनंत जीव स्वामी होकर एक साथ रहते हैं। सूक्ष्म स्थावर जीवोंसे रहित कोई लोकका स्थान नहीं है। पुद्गलके स्कंध अनेक जातिके परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे बन जाते हैं। उनमें अनेक

सूक्ष्म स्कंध होते है जो इंद्रियोंसे दिखलाई नहीं पड़ते हैं तथा वे परस्पर बाधा नहीं देते हैं। एक प्रदेशमात्र आकाशमें बहुत प्रकारके सूक्ष्म स्कंध एक साथ रह सक्ते हैं। इस तरह यह लोक सर्वत्र पुद्गल कायोंसे भरा हुआ है। जैसे कज्जलकी डिब्बीमें कज्जल पूर्ण रूपसे भरा है ऐसे यह लोक पुद्गलोंसे भरा हुआ है। उनही पुद्गलके स्कंधोंमें वे कार्मण वर्गणा भी हैं जिनका बंध संसारी आत्माओंके साथ हुआ करता है। श्री गोमटसारमें तेईस जातिकी वर्गणाएं इस लोकमें भरी हुई बताई गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

अणुसंखा संखेज्जाणंता य अगेज्जगेहि अंतरिया ।
आहारतेजभासामणकम्मइया धुवक्खंधा ॥ ६४ ॥
सांतरणिरंतरेण य सुण्णा पत्ते य देहधुवसण्णा ।
बादरणिगोदसुण्णो सुहुमणिगोदा णभो महक्खंधा ॥६५॥

भावार्थ—वे वर्गणाएं तेईस प्रकारकी नीचे प्रकार हैं, (१) अणुवर्गणा, (२) संख्याताणु वर्गणा, (३) असंख्याताणु वर्गणा, (४) अनंताणु वर्गणा, (५) आहार वर्गणा, (६) अग्राह्यवर्गणा, (७) तैजस वर्गणा, (८) अग्राह्यवर्गणा, (९) भाषावर्गणा, (१०) अग्राह्यवर्गणा (११) मनोवर्गणा, (१२) अग्राह्यवर्गणा, (१३) कार्मण वर्गणा, (१४) ध्रुववर्गणा, (१५) सांतर निरंतर वर्गणा, (१६) शून्य वर्गणा, (१७) प्रत्येक शरीर वर्गणा, (१८) ध्रुव शून्यवर्गणा, (१९) बादर निगोद वर्गणा, (२०) शून्यवर्गणा, (२१) सूक्ष्म निगोद वर्गणा, (२२) नभो वर्गणा, (२३) महास्कन्ध वर्गणा, इनमें अणुवर्गणामें एक एक परमाणु भिन्न भिन्न है। इनमें जघन्य मध्यम उत्कृट भेद नहीं हैं। शेष बाइसमें ये तीनों भेद हैं। जघन्यमें एक

एक परमाणु उत्कृष्ट तक बढ़ानेसे बीचके मध्यमके अनेक भेद हो जाते हैं। हरएक वर्गणामें क्रमसे परमाणु अधिक-अधिक हैं।

(२) दो अणुका स्कन्ध जघन्य संख्याताणु वर्गणा है। उत्कृष्ट वर्गणा उत्कृष्ट संख्यात परमाणुओंका स्कन्ध है। (३) जघन्य परीता-संख्यात परमाणुओंका स्कन्ध जघन्य असंख्याताणु वर्गणा है। उत्कृष्ट असंख्याताsसंख्यात परमाणुओंका स्कन्ध उत्कृष्ट असंख्याताणु वर्गणा है, (४) उत्कृष्ट असंख्याताणु वर्गणामें एक परमाणु मिलानेपर जघन्य अनंताणु वर्गणा बनती है। उसको अनंतका गुणा करनेपर उत्कृष्ट अनंताणु वर्गणा आती है। यहां व आगे तक जहां कहीं अनंतका गुणाकार हो वहां सिद्ध राशिसे अनंतवां भाग जो अनंत है उसे लेना चाहिये, (५) उत्कृष्ट अनंताणु वर्गणामें एक परमाणु मिलानेपर जघन्य आहार वर्गणा आती है उसको अनंतका गुणा करनेपर उत्कृष्ट आहार वर्गणा आती है, (६) उत्कृष्ट आहार वर्गणामें एक परमाणु अधिक जघन्य अग्राह्य वर्गणा है इसको अनं-तका गुणा करनेसे उत्कृष्ट अग्राह्य वर्गणा होगी। इसी तरह कार्मण वर्गणातक क्रम जानना चाहिये। पहली उत्कृष्ट वर्गणामें एक अधिक करनेसे आगेका जघन्य भेद आयेगा उसको सिद्ध राशिके अनंतवें भाग अनंतसे गुणा करनेपर उत्कृष्ट भेद आएगा। आगे नं० (१४) ध्रुव वर्गणाका जघन्य भेद उत्कृष्ट कार्मण वर्गणामें एक परमाणु अधिक है उसको अनन्तगुण जीव राशि मात्र अनन्तसे गुणनेपर उत्कृष्ट भेद आयगा फिर (१५) सांतर निरंतर वर्गणामें जघन्य एक परमाणु अधिक है उत्कृष्ट भेद अनंतगुणा जीवराशिसे गुणनेपर होता है फिर (१६) शून्य वर्गणामें जघन्य एक परमाणु अधिक है उत्कृष्ट

भेद अनंतगुणा जीवराशिसे गुणनेपर होता है (१७) प्रत्येक शरीर वर्गणामें जघन्य भेद पहलेपर एक परमाणु अधिक है इसको पल्यका असंख्यातवां भागसे गुणे उत्कृष्ट प्रत्येक शरीर वर्गणा होती है (१८) इसपर एक परमाणु अधिक ध्रुव शून्य वर्गणा है इसको मिथ्यादृष्टी जीवोंके प्रमाणको असंख्यात लोकका भाग देनेपर जो आवे उससे गुणा करनेपर उत्कृष्ट भेद आता है (१९) इसपर एक परमाणु अधिक जघन्य बादर निगोद वर्गणा है इसको जगत् श्रेणीके असंख्यातवें भागसे गुणे उत्कृष्ट बादर निगोदवर्गणा है (२०) इसपर एक परमाणु अधिक जघन्य शून्य वर्गणा है। इसको सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागसे गुणनेपर उत्कृष्ट शून्य वर्गणा आती है। (२१) इसपर एक परमाणु अधिक जघन्य सूक्ष्म निगोद वर्गणा है इसको पल्यका असंख्यातवां भागसे गुणे उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणा आती है। (२२) इसपर एक परमाणु अधिक जघन्य नभोवर्गणा है इसको जगत् प्रतरका असंख्यातवां भागसे गुणे उत्कृष्ट भेद होता है (२३) इसपर एक परमाणु अधिक जघन्य महास्कंधका भेद है। जघन्यको पल्यका असंख्यातवां भागका भाग देनेपर जो आवे उतना जघन्यमें जोड़ देनेपर उत्कृष्ट महास्कंधके परमाणुका प्रमाण आता है। इस तरह हरएक वर्गणा अधिक २ परमाणुवाली अनेक भेदरूप हैं।

इस तरह यह लोक गाढ़ रूपसे अनेक वर्गणाओंसे भरा हुआ है। इनमेंसे आहार वर्गणासे औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर व तैजससे तैजस शरीर, कार्माणसे कार्मण शरीर व भाषासे वचन व मनोवर्गणासे मन बनता है। विशेष हाल गोमटसारसे

जानना। इस तरह यह लोक सर्वत्र पुद्गल स्कंधोंसे अत्यन्त गाढ़ा भरा हुआ है।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि आत्मामें जब मिथ्यात्व राग द्वेष आदि परिणाम होते हैं तब उनका निमित्त पाकर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल निश्चयसे अपने ही उपादान कारणसे स्वयं ही कर्मरूप परिणमन कर जाती हैं—

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥ ७१ ॥

आत्मा करोति स्वभावं तत्र गताः पुद्गलाः स्वभावैः।
गच्छन्ति कर्मभावमन्योन्यावगाहावगाढा ॥ ७१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अत्ता) आत्मा (सहावं) अपने रागादि भाव (कुणदि) करता है तब (तत्थगदा) वहां प्राप्त (पोग्गला) पुद्गल स्कंध (सभावेहिं) अपने ही स्वभावसे ( अण्णोण्णागाहम् ) आत्मा और कर्मवर्गणा परस्पर अवगाह रूप होकर ( अवगाढ़ा ) अत्यन्त गाढ़पनेके साथ ( कम्मभावं ) द्रव्य कर्मपनेको ( गच्छंति ) प्राप्त होजाते हैं।

विशेषार्थ-यहां अशुद्ध निश्चयनयसे बंधका प्रकरण है इसलिये यद्यपि शुद्ध निश्चयनयसे रागद्वेष मोह रहित निर्मल चैतन्यमई ज्योति सहित वीतराग आनन्दरूप ही स्वभाव परिणाम आत्माका कहा जाता है तथापि यहां यह कहा है कि जब यह अशुद्ध आत्मा अपने रागद्वेष मोह सहित परिणामको करता है तब आत्माके द्वारा रोके हुए शरीरकी अवगाहनाके क्षेत्रमें तिष्ठे हुए या प्राप्त हुए कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल स्कन्ध अपनी ही उपादान कारण रूप शक्तिसे

द्रव्यकर्मकी अवस्थाको प्राप्त होजाते हैं और वे जीवके प्रदेशोंमें इस तरह परस्पर एक क्षेत्रावगाहरूप बंध जाते हैं जिस तरह दूध पानी मिल जाता हो।

भावार्थ-जीवके अशुद्ध भावोंमें और कर्मोंके बंधमें निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है उपादान सम्बंध नहीं है। जैसे तेल लगे हुए शरीरमें धूला अपने आप चिपट जाता है वैसे रागद्वेष मोहसे मलीन आत्माके प्रदेशोंमें कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल स्वयं अपनी उपादान शक्तिसे ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म रूप होकर गाढ़ रूपसे बंध जाता है। कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल सर्व लोकमें भरे हुए हैं, जहां संसारी जीवका शरीर हैं वहां भी तिष्ठ रहे हैं तथा बाहर भी हैं। आत्माके प्रदेशोंके सकम्प होते ही आत्मामें प्राप्त योगशक्ति वहीं व आसपासकी वर्गणाओंको बंधके सन्मुख करती हुई बांध लेती है। आश्रव और बंधका एक ही काल है। बंधके सन्मुख होनेको आश्रव और उनके आत्म प्रदेशोंमें गाढ़ रूपसे द्रव्यकर्म रूप होकर ठहर जानेको बंध कहते हैं। गोमटसार कर्मकाण्ड प्रदेशबंधके अधिकारसे विदित होता है कि बंध योग्य पुद्गल द्रव्य एक क्षेत्र स्थित व अनेक क्षेत्र स्थित दो प्रकार है। जो अपने शरीरकी अवगाहनामें हो वह एक क्षेत्र स्थित है जो उससे बाहर हो वह पर क्षेत्र स्थित है। जब बंध होता है तब एक व अनेक क्षेत्र स्थित वर्गणाएं एक समय प्रबंध मात्र आत्माके प्रदेशोंमें बंधको प्राप्त होजाती हैं। अभव्य राशिसे अनंतगुणे व सिद्ध राशिके अनंतवें भाग प्रमाण कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य मूलोत्तर प्रकृति रूपसे प्रति समय यह जीव बांधता है आत्माके प्रदेशोंका सकम्प होना व योगशक्तिका परिणमना जघन्य

मध्यम व उत्कृष्ट अनेक प्रकार है। जघन्य योगसे अल्प कर्मवर्गणाएं व उत्कृष्ट योगसे बहुत कर्मवर्गणाएं बंधती हैं।

पंचाध्यायीकार कहते हैं कि जीवके भावोंके और कर्मबंधके तथा कर्मबंधके और जीवके भावोंके परस्पर निमित्त नैमित्तिकपना है—

पूर्वकर्मोदयाद् भावो भावात्प्रत्ययसंचयः ।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बंधः पुनस्ततः ॥ ४२ ॥
एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः ।
संसारः स दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना ॥ ४३ ॥

भावार्थ—पूर्व बांधे हुए कर्मोंके उदयसे जीवके रागद्वेष मोह भाव होते हैं तथा इन भावोंके निमित्तसे नवीन कर्मोंका वन्ध हो जाता है। फिर इन हीके उदयसे रागद्वेषादि भाव होता है। उन भावोंसे फिर वन्ध होता है, इस तरह जीव और कर्मोंका वन्ध सन्तान अनादिसे चला आया है इस हीको संसार कहते हैं जो सम्यग्दर्शनादिके विना कभी छूट नहीं सक्ता है।

जब पूर्व बांधे हुए कर्म पककर झड़ने लगते तब उनके निमित्तसे जीव स्वयं रागादिरूप होता है तब ही रागादिका निमित्त पाकर एक व अनेक क्षेत्र स्थित पुद्गल वर्गणाएं स्वयं द्रव्यकर्म रूप हो वन्ध जाती हैं।

उत्थानिका—आगे कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल किस तरह स्वयमेव कर्मरूप होजाते हैं इसका दृष्टांत कहते हैं—

जह पुग्गलदव्वाणं वहुप्पयारेहिं खंधणिव्वती ।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ॥ ७२ ॥
यथा पुद्गलद्रव्याणां वहुप्रकारैः स्कंधनिर्वृत्तिः ।
अकृता परैर्दृष्टा तथा कर्मणां विजानीहि ॥ ७२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-( जह ) जैसे (पुग्गलदव्वाणं) पुद्गल द्रव्योंकी ( बहुप्पयारेहिं ) बहुत प्रकारसे ( खंधणिव्वत्ती ) स्कंधोंकी रचना (परेहिं) दूसरोंसे (अकदा) विना की हुई (दिट्ठा) दिखलाई पडती है ( तह ) तैसे ( कम्माणं ) कर्मोंका बन्ध होना (वियाणाहि) जानो ।

विशेपार्थ-जैसे इस लोकमें चन्द्रमा व सूर्यकी प्रभाके निमित्त होते हुए बादल व संध्याके समय लाली व इन्द्रधनुप या मंडल आदिके रूपमें नाना प्रकारसे पुद्गल वर्गणाएं स्वयं विना किसीकी की हुई परिणमन करजाती हैं वैसे उन जीवोंके जो विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व चारित्रकी भावना रूप अभेद रत्नत्रयमई कारण समयसारसे रहित हैं उनके मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि परिणामोंके निमित्तसे कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल अपने ही उपादान कारणोंसे विना जीवके उपादान कारणके ज्ञानावरणादि मूल व उत्तर प्रकृतिरूप नाना प्रकारसे परिणमन कर जाते हैं ।

भावार्थ-यहां यह दिखलाया है कि पुद्गलोंमें बदलनेकी स्वयं शक्ति मौजूद है वे चेतन या अचेतनके निमित्तसे स्वयं अनेक प्रकारकी अवस्थाओंमें पलट जाते हैं । अचेतन उष्णताके निमित्तसे पानी भाफ रूप स्वयं होजाता है । शीतताके निमित्तसे पानी स्वयं वर्फ रूप होजाता है । उष्णताके निमित्तसे मेघ जलरूप होजाते हैं । जलके प्रवाहके निमित्तसे मिट्टी बहती हुई कहीं स्वयं इकट्ठी होकर एक पृथ्वीके आकार बन जाती है । आकाशमें कभी पुद्गल मेघरूप टकराकर स्वयं गरजते हैं, कभी बिजलीको उत्पन्न करते हैं । इन्द्र

धनुषके आकार कभी पुद्गल होजाते हैं। पवनके निमित्तसे बालूके ढेर उड़ जाते हैं व कहीं जमा होकर टीले बन जाते हैं। पानीकी रगड़से पाषाण चिकने गोल सुन्दर पत्थर बन जाते हैं—रातदिन हम देखते हैं कि पुद्गल स्वयं विना किसी चेतनके निमित्तके अपने सहकारी पुद्गलोंके निमित्तसे अनेक अवस्थाओंमें पलट जाते हैं। आताप होना, प्रकाश फैलना, तूफान होना, भूचाल आना, पृथ्वीसे ज्वाला निकलना, पानीका कहीं भरजाना, कहीं सूख जाना आदि कार्य पुद्गलोंमें स्वयं उपादान शक्तिसे होते हैं। ऐसे ही चेतनके निमित्तसे पुद्गल अनेक प्रकार स्वयं परिणमन कर जाते हैं। पाचक अग्नि जलाकर लकड़ी रखकर बटवेमें पानीके साथ चावल चूल्हेके ऊपर चढ़ा देता है तब वह अलग बैठा रहता है और पुद्गल अपना काम करता रहता है। अग्नि लकड़ीको जलाकर कोयला, राख व धूम बनाती है। चावल पकते हुए उनका मांड निकलता है वे उबलते हैं, कभी पानी बटवेके ऊपर आजाता है, थोड़ी देरमें वे चावल स्वयं सुन्दर भातकी दशामें पलट जाते हैं। किसान बीज बो देता है वह बीज स्वयं अंकुररूप होकर स्वयं पुद्गलोंको लेकर उनसे एक वृक्षके रूपमें परिणमन करजाता है। मनुष्य भोजन पानी हवा लेता है। शरीरमें ये सब स्वयं परिणमन करते हुए अस्थि, मांस, चाम व वीर्य आदि बना देते हैं। इस तरह इस जगतमें पुद्गल अपनी शक्तिसे अनेक प्रकार कार्य करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इनमें कहीं पुद्गलको पुद्गल ही निमित्त है कहीं जीव निमित्त है। परिणमन पुद्गलोंका अपनी उपादान शक्तिसे ही होता है। सुवर्ण स्वयं आभूषणरूप या पत्ररूप हो जाता है। मिट्टी स्वयं घटरूप होजाती

है, निमित्तमात्र सुनार व कुमारके भाव और उनके पुद्गलमई शस्त्र हैं। इसी तरह जीवके रागादि भावोंका निमित्त पाकर कर्मवर्गणाएं स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मरूप होकर आत्मप्रदेशोंमें बंधको प्राप्त हो जाती हैं।

जीव तो कोई भी पापबंध करना नहीं चाहता है परन्तु जब कभी अशुद्ध भाव होगा, कर्म स्वयं बंधको प्राप्त हो जायगा। जैसे कोई जीव रोगी होना नहीं चाहता है, परन्तु जब वह गंदी हवामें विचरेगा तो अशुद्धवायु शरीरमें प्रवेश करके स्वयं रोग उत्पन्न कर देगी। वस्तुस्वभावसे ही कर्मोंका बंध हुआ करता है। जैसा श्री समयसारजीमें कहा है—

सामण्ण पच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥११६॥
पदेसु हेतुभूदेसु कम्मइ ब वग्गणा गयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १४३ ॥

भावार्थ-बंधके सामान्य कारण जीवके मिथ्यात्व, अविरति, कषायभाव तथा योग हैं, इनके निमित्तसे कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य स्वयं ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप होजाता है। इस तरह पुद्गलमें स्वयं उपादानकर्तापना है, इस मुख्यतासे तीन गाथाएं कहीं।

उत्थानिका—आगे शिष्यने जो पूर्वपक्ष किया था कि विना किये हुए कर्मोंका फल जीव किस तरह भोगता है उसीका उत्तर नय विभागसे जीव फलको भोगता है—ऐसा युक्तिपूर्वक दिखाते हैं।—

जीवा पोग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुंजंति ॥ ७३ ॥

जीवाः पुद्गलकायाः अन्योन्यावगाढग्रहणप्रतिबद्धाः।
काले वियुज्यमानाः सुखदुःखं ददति भुंजन्ति ॥ ७३ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-( जीवा ) संसारी जीव और ( पुग्गलकाया ) द्रव्य कर्मवगर्णाओंके पुंज ( अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा ) परस्पर एक दूसरेमें गाढ़ रूपसे बंध रहे हैं (काले) उदयकालमें ( विजुज्जमाणा ) पुद्गल जीवसे वियोग पाते हुए ( सुहदुक्खं ) साता या असाता रूप सुख दुःख ( दिंति ) देते हैं ( भुंजंति ) तब जीव उनको भोगते हैं ।

विशेषार्थ-संसारी जीवोंके अपने २ रागादि परिणामोंके निमित्तसे तथा पुद्गलोंमें स्निग्ध रूक्ष गुणके कारण द्रव्य कर्मवर्गणाएं जीवके प्रदेशोंमें जो पहलेसे ही बंधी हुई होती हैं वे ही अपनी स्थितिके पूरी होते हुए उदयमें आती हैं तब अपने २ फलको प्रगट कर झड़ जाती हैं-उसी समय वे कर्म अनाकुलता लक्षण जो पारमार्थिक सुख है उससे विपरीत परम आकुलताको उत्पन्न करनेवाले सुख तथा दुःखको उन जीवोंको मुख्यतासे देती हैं जो मिथ्यादृष्टि हैं अर्थात् जो निर्विकार चिदानंदमई एक स्वभावरूप जीवको और मिथ्यात्व रागादि भावोंको एक रूप ही मानते हैं, और जो मिथ्या ज्ञानी हैं अर्थात् जिनको यह ज्ञान है कि जीव रागद्वेप मोहादिरूप ही होते हैं तथा जो मिथ्याचारित्री हैं अर्थात् जो अपनेको रागादिके परिणमनमें ही रत रखते हैं ऐसे मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रमें परिणमन करते हुए जीव अभ्यंतरमें अशुद्ध निश्चयसे हर्ष या विषादरूप तथा व्यवहारसे बाहरी पदार्थोंमें नानाप्रकार इष्ट अनिष्ट इन्द्रियोंके विषयोंकी प्राप्तिरूप मधुर या कटुक विषके रसके आस्वादरूप सांसारिक सुख या दुःखको वीतराग परमानंदमई सुखामृतके रसास्वादके भोगको न पाते हुए भोगते हैं। निश्चयसे तो

वे अपने भावोंको ही भोगते हैं, व्यवहारसे वे पदार्थोंको भोगते हैं ऐसा अभिप्राय जानना।

भावार्थ–यहां आचार्यने दिखलाया है कि पुद्गलकर्म जड़ हैं वे तो सुख दुःखको न जान सक्ते हैं न भोग सक्ते हैं। ये संसारी जीव ही जैसे अपने रागादि भावोंके निमित्तसे शुभ या अशुभ कर्म्म बांधते हैं वैसे वे अपने रागादिके निमित्तसे उनका फल सुख या दुःखको भोगते हैं, क्योंकि संसारी जीव शरीरादि पर पदार्थोंमें मोही रागीद्वेषी हो रहे हैं इससे जब पुण्यकर्मके उदयसे उनकी अवस्था अपनेको इष्टरूप होती है तब तो हर्षका भाव करलेते हैं और जब उनकी अवस्था अनिष्टरूप होती है तब विषादका भाव कर लेते हैं। अशुद्ध निश्चयसे ये संसारीजीव जैसे अपने रागादिभावोंके कर्ता हैं वैसे ही वे अपने हर्ष विषाद रूप रागद्वेष भावोंके ही भोक्ता हैं। व्यवहारसे जैसे जीवोंको घटपटादिका कर्ता कहते हैं वैसे व्यवहारसे उनको इन्द्रियोंके विषयोंका भोक्ता कहते हैं। पुण्यकर्मके उदयसे जब मनोज्ञ विषयोंका सम्बन्ध होता है तब यह अज्ञानी जीव हर्षरूप राग करता है और जब पापकर्मके उदयसे अमनोज्ञ पदार्थोंका सम्बन्ध होता है तब यह अज्ञानी जीव विषादरूप द्वेष करलेता है। वृत्तिकारने मुख्यतासे मिथ्यादृष्टी जीवोंको ही सुख दुःखका भोक्ता बताया है क्योंकि वे अपने आत्मीक सुखको नहीं जानते हैं, न कभी उसका स्वाद पाते हैं। वे हर्षविषादको ही सुख दुःख मान रहे हैं–जब उनकी इच्छानुकूल पदार्थ मिल जाते हैं तब वे सुखी हो जाते हैं, जब नहीं मिलते हैं अथवा दुःखदायी पदार्थ मिलजाते हैं तब वे दुःखी हो जाते हैं। जो सम्यग्दृष्टी जीव हैं वे

स्वात्मानुभवसे उत्पन्न अतीन्द्रिय आनन्दको भोगनेवाले हैं इसलिये उनके श्रद्धानज्ञानमें इंद्रिय सम्बन्धी सांसारिक सुख तथा दुःख अत्यन्त तुच्छ मात्र कर्मोंका उदय रूप भासता है—वे नाटक देखनेवालेकी तरह उदयमें आकर फल देते हुए कर्मोंकी अवस्थाको जानते रहते हैं, उनके परिणमनसे अपनेको वास्तवमें सुखी या दुःखी नहीं मानते हैं। सम्यग्दृष्टियोंके विपाकविचय धर्मध्यान होता है जिससे वे कर्मोंके उदयको विचारते हुए सुख तथा दुःखकी दशामें समताभाव रखते हैं। जो गृहस्थ व सरागी सम्यक्ती हैं उनको चारित्र मोहका जैसा उदय होता है उसके अनुसार परिणामोंमें साता या असाताके उदयके समय कुछ हर्ष या विषादरूप सुख तथा दुःख होता है, परन्तु उनके श्रद्धान या ज्ञानमें उनकी तरफ उपादेय बुद्धि नहीं होती हैं। ये सांसारिक सुख त्यागने योग्य हैं, यही वैराग्यभाव उनके भीतर जागृत रहता है। जैसे कटुक औषधिको न चाहनेवाला भी रोगकी वेदनाको न सह सकनेके कारण लाचारीसे कड़वी दवा पी लेता है वैसे ही सम्यग्दृष्टी जीव कषायकी वेदनाको न सह सकनेके कारण इंद्रिय विषयोंको भोग लेता है, परन्तु भावना कड़वी दवाके त्यागकी तरह विषयभोगोंके त्यागकी रहती है। वीतराग सम्यक्तीको बाहरी साता असाता होते हुए भी सुख या दुःख नहीं भासता है, वे अपने स्वरूपानंदमें मस्त रहते हैं। केवलज्ञानी अर्हंतोंके सातावेदनीयके उदयसे समवशरण, छत्र, चमर, सिंहासन, अनुकूल पवन, क्षेत्रादि प्राप्त होता है, परन्तु उनके मोहका अंश भी नहीं होता है इससे वे रञ्च भी उनसे सुखी नहीं होते हैं। वास्तवमें रागी जीव ही राग भाव किया करते हैं, यही सुख भोगना है।

वे ही जब द्वेषभाव करते हैं तब उनका दुःख भोगना है। इष्ट पदार्थोंका संयोग जो शुभ कर्मोंके उदयसे होता है वह हर्षरूप रागमें निमित्त कारण है वैसे ही अनिष्ट पदार्थोंका संयोग जो पाप-कर्मोंके उदयसे होता है वह विषादरूप द्वेषमें निमित्त कारण है। रागद्वेषके विना हर्ष विषादकी कल्पना भी नहीं हो सक्ती है। इस तरह जैसे जीव कर्ता हैं वैसे भोक्ता भी हैं। शुद्ध निश्चयनयसे न जीव कर्मोंके कर्ता हैं न उनके भोक्ता हैं। इस अपेक्षासे तो वे अपनी शुद्ध परिणतिके कर्ता और अपने शुद्ध सुखके भोक्ता हैं।

पंचाध्यायीकारने भी इसी बातको स्पष्ट किया है कि मिथ्या-दृष्टिको सुख दुःखमें तन्मयता होती है।

**इंद्रियार्थेषु लुब्धानामंतर्दाहः सुदारुणः।**
**तमन्तरायतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः॥ २५५॥**

भावार्थ—जो इंद्रियोंके पदार्थोंमें लुब्ध हैं उनके भयानक तृष्णाका दाह पैदा होता है, जिनके यह दाह नहीं है उनके विषयोंमें रति कैसे होसक्ती है? सम्यग्ज्ञानी इस तरह समझता है—

**ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्।**
**न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम्॥ २३०॥**
**वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम्।**
**तद्द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च॥ २३८॥**

भावार्थ—जो सांसारिक विषयजनित सुख है वह सुख नहीं है किन्तु सुखसा झलकता है। वास्तवमें वह आकुलतारूप दुःख ही है। वैराग्य अर्थात् परमउदासीनता तथा ज्ञान अर्थात् स्वानुभव ये दोनों ज्ञानीके लक्षण हैं उसमें ये स्वयं होते ही हैं इसीलिये वह

जीवन्मुक्त ही है। सराग सम्यग्दृष्टीके विषयभोग रोगके इलाजवत् होता है जैसा कहा है—

व्याधीपीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक् प्रतिक्रियाम्।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक् पुनर्भवे ॥ २७१ ॥
कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम्।
नेच्छेत् कर्मपदं किञ्चित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥ २७२ ॥

भावार्थ—जैसे कोई रोगसे पीड़ित जन रोगका इलाज करता हुआ वर्तमानमें भी रोगका होना नहीं चाहता है तव रोग मिटने-पर फिर रोगका होना कैसे चाहेगा तैसे ही कर्मोंके उदयसे पीड़ित होकर ज्ञानी कर्मोंके उदयरूप क्रियाको करता हुआ भी उस क्रियाकी अवस्थाको पसन्द नहीं करता है इसलिये सम्यग्दृष्टी किसी भी नयसे भोगोंका आशक्त नहीं होसक्ता है। इस तरह भोक्तापनेके व्याख्या-नकी मुख्यतासे गाथा कही।

उत्थानिका—आगे कर्ता भोक्तापनेका कथन संकोच करते हैं।

तम्हा कम्मं कत्ता भावेण हि संजुदोध जीवस्स।
भोत्ता दु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं ॥ ७४ ॥

तस्मात्कर्म कर्ता भावेन हि संयुतमथ जोवस्य।
भोक्ता तु भवति जीवश्चेतकभावेन कर्मफलं ॥ ७४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(तम्हा) इसलिये (कम्मं) द्रव्य-कर्म (जीवस्स) जीवके (भावेण संजुदो) भावसे संयोग होता हुआ (हि) निश्चयसे (कत्ता) अपनी कर्मरूप अवस्थाओंका कर्ता है (अध) ऐसे ही जीव भी द्रव्यकर्मके उदयके निमित्तसे अपने रागादि भावोंका कर्ता है (दु) परंतु (जीवो) जीव अकेला (चेदगभावेण)

अपने अशुद्ध चेतनभावसे (कम्मफलं) कर्मोंके फलका (भोत्ता) भोगनेवाला (हवदि) होजाता है ।

विशेषार्थ—क्योंकि पहले यह कह चुके हैं कि निश्चयसे जीव द्रव्य कर्मका उपादान कारण नहीं है और द्रव्यकर्म जीवके भावका उपादान कारण नहीं है इसलिये द्रव्यकर्म उपादानरूपसे अपने ज्ञानावरणादि परिणामोंका कर्ता है। व्यवहारसे जीवके रागादि भावोंका कर्ता है, ऐसे ही जीव भी निश्चयसे अपने ही चैतन्य भावोंका कर्ता है। व्यवहारसे द्रव्यकर्मबंधका कर्ता है। यह पुद्गल द्रव्य जीव सम्बन्धी मिथ्यात्त्व रागादि भावके निमित्तसे संयुक्त होकर अपने कर्मरूप अवस्थाओंका कर्ता है। ऐसे ही जीव भी पूर्व कर्मोंके उदयके निमित्तसे रागादि भावोंका कर्ता है तथा यह जीव अकेला निर्विकार चिदानंदमई एक अनुभूतिसे रहित होता हुआ अपने परम चैतन्यके प्रकाशसे विपरीत अशुद्ध चेतकभावसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म तत्त्वकी भावनासे उत्पन्न जो सहज ही शुद्ध परम सुखका अनुभव रूप फल उससे विपरीत सांसारिक सुख और दुःखके अनुभवरूप शुभ या अशुभ कर्मके फलको भोगता है यह तात्पर्य है।

भावार्थ—इस गाथामें यह स्पष्ट कह दिया है कि जीव और कर्ममें उपादान कर्तापना नहीं है मात्र निमित नैमितिक संवध है। तथा कर्मोंके उदय होनेपर उसका फल हर्ष या विषाद रूप यह जीव अपने अशुद्ध रागादि भावोंके द्वारा भोगता है। व्यवहारसे यह कहते हैं कि जीवने पुद्गलको व बाहरी पदार्थोंको भोगा। पुद्गल जड़ है उसमें भोगतापना नहीं है—ऐसा ही समयसारजीमें कहा है।

पोग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पप्पणोभावं ॥ ६३ ॥

भावार्थ—जैसे यह संसारी आत्मा ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मके उदयका निमित्त पाकर अपने रागादि भावोंको करता है वैसे यही आत्मा उदयमें आए हुए कर्मोंके निमित्तसे अपने सुख दुःखमई हर्ष विषाद रूप भावोंको भोगता है।

निश्चयसे जीव पुद्गलके परिणामका व पुद्गल जीवके परिणामका कर्ता नहीं है, मात्र व्यवहारसे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी अपेक्षा कर्ता कहे जाते हैं। जैसा श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसारकलश-सर्वविशुद्धअधिकारमें कहा है—

वस्तुचैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरो परस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२०॥
यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यवहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१॥

भावार्थ—एक वस्तु दूसरी वस्तुकी नहीं होसक्ती है क्योंकि भिन्न२ वस्तु है सो भिन्न२ ही हैं। यह निश्चय है कि एक दूसरेके भीतर एक दूसरेसे बाहर रहता हुआ कुछ उत्पन्न नहीं करसक्ता है, वस्तु सब स्वयं परिणमनशील हैं ऐसा होते हुए निमित्तरूपसे जो एक वस्तु दूसरीके कुछ करती है ऐसा कहना है यह मात्र व्यवहार दृष्टिसे है, निश्चयसे नहीं है ।

अतएव यह सिद्ध है कि जीव पुद्गलोंमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध तो व्यवहार नयसे है परन्तु उपादानरूपसे कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव चेतनमई है इसलिये जब कभी वह रागद्वेषपूर्वक चेतता है या अनुभव करता है तब वही सुखी या दुःखी हो

जाता है। शुद्ध निश्चयनयसे अपने शुद्ध भावोंका कर्ता व भोक्ता है। इसतरह पूर्वगाथामें कर्मोंके भोक्तापनेकी मुख्यतासे यहां कर्मका कर्ता और भोक्तापना दोनोंके संकोच कथनकी मुख्यतासे दो गाथाएं कहीं।

उत्थानिका–आगे पहले जिस प्रभुत्त्व स्वभावको बताया था उसीको फिर कर्मसंयोगपनेकी मुख्यतासे बताते हैं—

एवं कत्ता भोत्ता होज्झं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडति पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७५ ॥

**एवं कर्ता भोक्ता भवन्नात्मा स्वकैः कर्मभिः।**
**हिंडते पारमपारं संसारं मोहसंछन्नः ॥ ७५ ॥**

अन्वयसहित सामान्यार्थ–( एवं ) जैसा ऊपर कह चुके हैं इस तरह ( अप्पा ) यह संसारी आत्मा ( सगेहिं कम्मेहिं ) अपने ही शुभ अशुभ भाव कर्मोंके द्वारा ( कत्ता ) कर्ता ( भोत्ता ) और भोक्ता ( होज्झं ) हो करके ( मोहसंछण्णो ) मोह या मिथ्यादर्शनसे छाया हुआ ( पारम् ) पार होने योग्य ( अपारं ) अथवा न पार होने योग्य ( संसारं ) संसारमें ( हिंडति ) भ्रमण किया करता है।

विशेषार्थ–यह संसारी आत्मा जो निश्चयनयसे विपरीत अभिप्रायको पैदा करनेवाले मोहसे रहित है और अनंत सम्यग्दर्शन आदि शुद्ध गुणोंका धारी है तो भी व्यवहारसे दर्शनमोह और चारित्रमोहकर्मसे आच्छादित होता हुआ यद्यपि निश्चयनयसे भाव कर्म और द्रव्य कर्मका कर्ता तथा भोक्ता नहीं है किन्तु अपने शुद्ध भावका ही कर्ता और भोक्ता है तथापि व्यवहारसे ही जैसा पहले कह चुके हैं अशुद्ध निश्चयनयसे अपने ही शुभ अशुभ भावोंका और व्यवहारसे शुभ अशुभ द्रव्य कर्मोंका कर्ता

और भोक्ता होता हुआ इस चार गतिमई संसारमें भ्रमण किया करता है। यह संसार निश्चयनयसे अनंत संसारकी व्याप्तिसे रहित होनेके कारण व अनंत ज्ञानादिगुणोंके आधारभूत परमात्मासे विपरीत है तथा भव्यकी अपेक्षा पार होने योग्य तथा अभव्यकी अपेक्षा पार होने योग्य नहीं है।

भावार्थ-यहां यह बताया है कि यह संसारी आत्मा अपनी ही शक्तिसे और अपनी ही भूलसे आप ही इस संसारकी चार गतियोंमें चक्कर लगाता हुआ अनादिकालसे चला आरहा है। कोई दूसरा इसे न दुःख सुख देता है न इसके कर्मोंका बंधन करता है। यही अनादिकालसे मोहकर्मकी मदिरासे अपने शुद्ध आत्मस्वभावको भूल करके अपनेसे भिन्न पर पदार्थोंमें मोही होता हुआ रागद्वेष करता है और यह मान लेता है कि मैं रागी, मैं द्वेषी हूं, मैं परको सुखी या परको दुःखी करनेवाला हूं, मैं नर, नारकी, पशु या देव हूं तथा मैं स्वयं सुखी हूं या दुःखी हूं, मैंने विषय भोगे-मेरे विषय हितकारी हैं, ये विषय मेरेको अहितकारी हैं। इस तरह कर्ता भोक्ता होता हुआ इसी मोहजालके भीतर फंसा हुआ रात दिन नए नए इन्द्रियोंके विषयोंके संग्रहके प्रयत्नमें तथा वियोग पाए हुए पदार्थोंके वियोगमें चिंतावान व आकुलतावान होता हुआ तीव्र कषाय-भावोंके कारण घोर कर्मोंका बंध कर लेता है। यद्यपि यह संसारी जीव इस बातको नहीं समझता है कि बंध क्या है व किससे व कैसे बंध होगा तथापि वस्तुके स्वभावके नियमानुसार जैसे रोगकारक पदार्थोंको खाते हुए और हमारे न चाहते हुए भी वह पदार्थ पचकर ज्वर आदि रोग पैदा कर देता है वैसे संसारी

जीवके न चाहते हुए भी कर्मोंका बन्धन वस्तुस्वभावसे हो जाता है। जैसा बन्धन स्वयमेव हो जाता है वैसा उनका फल भी बाहरी निमित्तोंके आधीन स्वयं होता रहता है। कभी यह जीव परको सुखी करनेके अहंकारसे गृसित हो परउपकार दानादि करता है तो पुण्यकर्मका भी स्वयं बंध हो जाता है। जब पुण्यकर्म अपना फल देने लगता है और उससे कुछ सातासी पाता है तो मैं सुखी इस अहंकारसे रागी द्वेषी होता रहता है और जब पापकर्म अपना फल देने लगता है और उससे असाता पाता है तब मैं दुःखी इस अहंकारसे आर्त्तध्यानी होकर विललाता है। इस तरह आयुकर्मके अनुसार जिस २ गतिमें पहुंच जाता है वहां उसके अनुकूल पाप पुण्यके फलको भोगता हुआ और उस फलमें रागद्वेष मोह करता हुआ अपने विभाव–भावोंके कारण आप ही मिलाता है तब फिर नूतन कर्म बंध हो जाता है। इस तरह यह जीव अनादिकालसे भ्रमता चला आया है। जो कोई भव्य जीव किसी भी तरह इस मोहकी भूलको त्याग देता है और अपना असली स्वभाव पहिचानता है कि मैं सिद्ध भगवानकी जातिका हूं, मैं अपने शुद्धज्ञान परिणतिका ही कर्ता हूं, मैं अपने शुद्ध स्वाभाविक आनंदका ही भोक्ता हूं, मेरी सत्ता सबसे निराली है, यह रागद्वेष मोहका होना मेरी ही भूल है, मुझे इस क्षणिक पराधीन अतृप्तिकारी सुखसे कभी शांति नहीं मिलसक्ती है, मेरा अतीन्द्रिय सुख मेरे पास है, मुझे उसीका भोग करना चाहिये ऐसा ज्ञानी जीव शीघ्र ही कर्मोंसे छूटकर संसारके पार हो जाता है परन्तु जो अभव्य जीव या अभव्यके समान भव्य जीव

इस आत्मज्ञानमई सच्चे श्रद्धानका लाभ नहीं कर पाता है वह इस अनन्त संसारका पार नहीं पाता हुआ अनंतकालतक भ्रमण ही करता चला जावेगा। यहां यह समझना चाहिये कि जैसे कोई स्वयं नशा पीये और स्वयं दुःख उठावे वैसे यह जीव स्वयं मोहके मदमें चूर होता हुआ, संसार-समुद्रमें गोते लगाता हुआ घोर आकुलतामई दुःखोंको सहन कर रहा है। जैसा श्री अमृतचंदस्वामीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभातिबालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजं॥

भावार्थ-इस प्रकार यह जीव यद्यपि निश्चयनयसे कर्मजनित रागद्वेषादि भावोंसे रहित है तोभी यह रागी है, द्वेषी है ऐसा मिथ्या अभिप्राय जो अज्ञानी मोही जीवोंके भीतर झलकता है यही वास्तवमें उनके संसार-भ्रमणका वीज है।

श्रीवादिराज मुनि ज्ञानलोचनस्तोत्रमें अज्ञानीकी दशा बताते हैं—

श्रद्धालुता मे यदनंगरंगे, कृपालुताऽभून्ममपापवर्गे।
निद्रालुता शांतरसप्रसंगे, तंद्रालुताऽध्यात्मविचारमार्गे॥४१॥

भावार्थ-कामदेवके रंगमें मेरा विश्वास रहा, पापकार्योंमें मेरी कृपा रही, शांतरसके अवसरपर मैं नींद लेता रहा तथा अध्यात्म-विचारके उपायमें मैं आलसी होगया।

मोही जीवकी दशा श्रीअमितगति महाराज बृहत् सामायिक पाठमें कहते हैं—

कः कालो मम कोऽधुना भवमहं वर्ते कथं सांप्रतम्।
किं कर्मात्र हितं परत्र मम किं किं मे निजं किं परम्॥

इत्थं सर्वविचारणा विरहिता दूरीकृतात्मक्रियाः ।
जन्मांभोधि विवर्तपातनपराः कुर्वन्ति सर्वाः क्रियाः ॥२३॥

भावार्थ-मेरा इस समय कौनसा काल है अर्थात् मैं बालक तरुण या वृद्ध हूं, मैं इस समय कौनसे भवमें हूं अर्थात् मैं नर नारकी पशु देव कौन हूं, मुझे इस समय कैसे वर्तन करना चाहिये, मेरा इस लोकमें क्या हित है, मेरा परलोकमें क्या हित है, कौन मेरा है, कौन मुझसे भिन्न है? इत्यादि सर्व विचारोंसे रहित ये मोही जीव आत्माको लाभकारी सर्वकार्योंसे दूर रहते हुए सर्व क्रियाएं ऐसी ही करते रहते हैं जिनसे संसार-समुद्रमें गोते लगाते रहते हैं, कभी उससे निकलनेका मार्ग नहीं पाते हैं।

प्रयोजन यह है कि यह जीव स्वयं अपने संसार बढ़ानेका स्वामी है-

इस प्रकार कर्मसंयोगकी मुख्यतासे गाथा कहीं-

उत्थानिका-अथानंतर पहलेके ही प्रभुत्वको फिर भी कर्म-रहितपनेकी मुख्यतासे बताते हैं—

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ॥ ७६ ॥

उपशांतक्षीणमोहो मार्गं जिनभाषितेन समुपगतः ।
ज्ञानानुमार्गचारी निर्वाणपुरं व्रजति धीरः ॥ ७६ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जिणभासिदेण) जिनेन्द्र कथनके द्वारा (मग्गं) मोक्षमार्गको (समुवगदो) भलेप्रकार प्राप्त करता हुआ (णाणणुमग्गचारी) सम्यग्ज्ञानके अनुसार धर्मके मार्गपर चलनेवाला (धीरो) सहनशील धीर भव्य जीव (उवसंतखीणमोहो) मोहको

पहले उपशम पीछे मोहको क्षय करके ( णिव्वाणपुरं ) मोक्षनगरको ( वजदि ) चला जाता है।

विशेषार्थ—वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करता हुआ अर्थात् अच्छी तरह समझता हुआ कोई भव्योंमें मुख्य प्राणी, निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानको अथवा उस ज्ञानके आधारभूत शुद्ध आत्माको अपने लक्ष्य या आश्रयमें लेकर, उसीके अनुकूल निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गपर चलता हुआ तथा उपशम सम्यक्त, क्षयोपशम सम्यक्त तथा क्षायिक सम्यक्तको पाताहुआ और परम धीर वीर होकर घोर उपसर्गके सहनेके समयमें भी निश्चय रत्नत्रयमई समाधिको पांडवादिकी तरह न त्यागता हुआ, मोहका सर्वथा क्षय करके अव्याबाध सुख आदि अनंतगुण समूहरूप तथा शुद्धात्माके लाभरूप निर्वाणनगरको चलाजाता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि यह आत्मा आप ही अपनी शक्तिसे अपना कल्याण करसक्ता है। यदि यह श्री जिनवाणीका मन लगाकर स्वाध्याय करे, समझे, मनन करे और उसके द्वारा यह अच्छी तरह समझ ले कि निश्चय मोक्षमार्ग अपने ही शुद्धात्माका श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र है तथा सात तत्वोंका श्रद्धान, ज्ञान तथा मुनि या श्रावकका चारित्र यह व्यवहार मोक्ष मार्ग निश्चय रत्नत्रय मार्गका मात्र सहकारी है। इस तरह स्वपर तत्वको अच्छी तरह मनन करे तो पहले उपशम सम्यक्तका लाभ करता है फिर क्षयोपशम सम्यक्त्वी होकर क्षायिक सम्यक्त्वी हो जाता है अर्थात् परमदृढ़ अमिट आत्मश्रद्धान व आत्मज्ञानसे पूर्ण होजाता है। फिर व्यवहारचारित्रके द्वारा निश्चय चारित्ररूप

स्वसमाधिका अभ्यास करता है। कषायोंके मंद हो जानेपर जब वह मुनि होजाता है तब आत्मज्ञान और वैराग्यसे पूर्ण आत्मध्यानकी अपूर्व अग्नि जलाता है। इस तपके साधनमें यदि घोर उपसर्ग पड़ें तोभी एक वीर योद्धाके समान परम धैर्यके साथ सहन करता है। कष्टोंके पड़नेपर भी जो आत्मध्यानमें थिर रहता है वह क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ हो शुक्लध्यानके बलसे सर्व मोहका क्षय करडालता है, फिर केवलज्ञानी होकर अंतमें सर्व शरीरोंसे छूटकर पूर्ण शुद्ध होकर, शुद्ध सुवर्णकी तरह परम सिद्ध होकर मोक्षपदमें आरूढ़ हो तीन लोकके अग्रभागमें जा सिद्धक्षेत्रमें अनंतकालके लिये तिष्ठा हुआ परमानंदका भोग किया करता है। इस तरह यह जीव अपने ही पुरुषार्थसे परमात्मपदका लाभ कर लेता है।

श्री अमितगति महाराज सामायिकपाठमें कहते हैं—

लब्ध्वा दुर्लभभेदयोः सपदि ये देहात्मनोरंतरम्।
दग्ध्वा ध्यानहुताशनेन मुनयः शुद्धेन कर्मेंधनम्॥
लोकालोकविलोकिलोकनयना भूत्वा त्रिलोकार्चिता।
पंथानं कथयंति सिद्धिवसतेस्ते संतु नः सिद्धये॥६४॥

जो भव्य जीव देह और आत्माका भेद (जिनका भिन्न २ समझना बहुत कठिन है) शीघ्रही पाकर आत्मज्ञानी हो जाते हैं वे मुनी होकर शुद्ध आत्मध्यानकी अग्निसे कर्मोंके इंधनको जला देते हैं और लोक अलोकको प्रत्यक्ष देखनेवाले केवलज्ञानी होजाते हैं। वे इस लोकके मनुष्य, पशु व परलोकके इन्द्रादिक देव इनसे पूजित होकर मोक्षका मार्ग हमको कहते हैं। वे ही जिनेन्द्र हमारी सिद्धिके लिये कारण हैं—अर्थात् जो जिनेन्द्रोंके द्वारा कथितमार्गको

उनके अनुसार आत्मज्ञानी होकर साधन करता है वह भी उनहीकी तरह परमात्मा हो जाता है। इस तरह मोक्षकी प्राप्तिमें भी अपना ही पुरुषार्थ मुख्य है। कोई दूसरा हमको मोक्षमें भेजता नहीं, हम ही जब अपनी ध्यानकी अग्नि जलाते हैं तब आप ही शुद्ध हो जाते हैं। ऐसा जानकर शास्त्रमनन और अध्यात्मज्ञानको जिस-तरह बने प्राप्त कर लेना चाहिये। श्री तत्त्वानुशासनमें श्री नाग-सेन मुनि कहते हैं—

स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पंचनमस्कृतेः।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥ ८० ॥
स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ ८१ ॥

भावार्थ—उत्तम स्वाध्याय पंचणमोकारमंत्रका जप है अथवा जिनेन्द्रकथित शास्त्रका एकचित्तसे पढ़ना है। स्वाध्यायके द्वारा ध्यानका अभ्यास करे, ध्यानसे हटे तब स्वाध्याय करने लगे, इस तरह ध्यान और स्वाध्यायके लाभसे परमात्मापनेका प्रकाश होता है।

इस तरह कर्मरहितपनेके व्याख्यानसे दूसरी गाथा कही। इसी तरह " ओगाढ़गाढ " इत्यादि पूर्वोक्त पाठके क्रमसे पूर्वपक्षका समाधानरूप सात गाथाएं पूर्ण हुईं। जीवास्तिकायके व्याख्यानरूप नव अधिकारोंके मध्यमें पांच अंतरस्थलोंसे समुदाय रूपसे " जीव अणाईणिहणा " इत्यादि अठारह गाथाओंसे कर्तापना, भोक्तापना और कर्मसंयुक्तपना इन तीनका एक साथ कथन पूरा हुआ।

उत्थानिका—आगे उसी ही नव अधिकारोंसे वर्णित जीवा-स्तिकायका विशेष व्याख्यान दश भेदोंसे या वीस भेदोंसे करते हैं—

एको चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो होदि ।
चदु चंकमणो भणिदो पंचग्गगुणप्पधाणो य ॥ ७७ ॥
छक्कापक्कमजुत्तो उवउत्तो सत्तभङ्गसब्भावो ।
अट्ठासओ णवत्थो जीवो दसठाणगो भणिदो ॥७८॥
एक एव महात्मा स द्विविकल्पस्त्रिलक्षणो भवति ।
चतुश्चंक्रमणो भणितः पंचाग्रगुणप्रधानश्च ॥ ७७ ॥
षट्कापक्रमयुक्तः उपयुक्तः सप्तभङ्गसद्भावः ।
अष्टाश्रयो नवार्थो जीवो दशस्थानको भणितः ॥७८॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(उवउत्तो) उपयोगवान (एको चेव महप्पा) यह एक महान् आत्मा जातिरूपसे एकही प्रकार है । (सो दुवियप्पो) वही जीव दो प्रकार है (तिलक्खणो होदि) वही तीन लक्षणवाला होता है । (चदुचंकमणो भणिदो) वही चारगतिमें घूमनेसे चार प्रकार कहा गया है। (पंचग्गगुणप्पधाणो य) वही पांच मुख्य-भावोंको धारनेसे पांचरूप है। (छक्कापक्कमजुत्तो) वही छः दिशाओंमें गमन करनेवाला है इससे छः भेदरूप है । (सत्तभङ्गसब्भावो) वही सात भंगोंसे सिद्ध होता है इससे सातरूप है। (अट्ठासओ) वही आठ गुणोंका आश्रय है इससे आठरूप है। (णवत्थो) वही नव पदार्थोंमें व्यापक होनेसे नवरूप है। (दसठाणगो) वही दश स्थानोंमें प्राप्त है इससे (जीवो) यह जीव दशरूप (भणिदो) कहा गया है।

विशेषार्थ—जैसे सुवर्ण अपने शुद्ध सोलहवर्णपनेके गुणकी अपेक्षा सर्व सुवर्णमें साधारण है, इससे सुवर्णराशि एक है तैसे ही सर्वजीवोंमें साधारण पाए जानेवाले केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंके समूहकी अपेक्षा अर्थात् शुद्ध जीवजातिपनेकी अपेक्षा संग्रह-नयसे एक रूप ही यह जीवद्रव्य है अथवा सर्व जीवोंमें केवल-

दर्शन और केवलज्ञानरूप उपयोग मौजूद है। इस साधारण लक्षणकी अपेक्षा जीवराशि एक प्रकार है। यहां किसीने कहा कि जैसे एक ही चंद्रमा वहुतसे जलके भरे हुए घड़ोंमें भिन्न २ रूप दिखलाई पड़ता है तैसे एक ही जीव मानो, जो वहुतसे शरीरोंमें भिन्न २ रूपसे दिखलाई पड़ता है। इस शंकाका समाधान करते हैं कि वहुतसे जलके घड़ोंमें चंद्रमाकी किरणकी उपाधिके वशसे जलके पुद्गल ही चंद्रमाके आकारमें परिणमत होगए हैं न कि आकाशमें स्थित चंद्रमा अनेकरूप हुआ है। इसमें भी दृष्टांत है–जैसे नानादर्पणोंमें देवदत्तके मुखकी उपाधिके वशसे अर्थात् दर्पणोंकी स्वच्छतामें मुख झलकनेसे नानादर्पणोंके पुद्गल ही नानामुखके आकारसे परिणमन करगए हैं। देवदत्तका मुख अनेक मुखरूप नहीं परिणमन कर गया है। यदि ऐसा हो तो दर्पणमें स्थित मुखका प्रतिविम्ब चैतन्यभावको प्राप्त होजावे सो ऐसा होता नहीं। इसी तरह एक चंद्रमा भी नानारूपसे नहीं परिणमन करता है। तथा ब्रह्म नामका कोई भी एक पदार्थ दिखलाई नहीं पड़ता है जो चंद्रमाकी तरह नाना प्रकार हो जायगा। इससे यह अभिप्राय है कि एक जीव नाना जीवोंमें नहीं वदल सक्ता है मात्र जाति अपेक्षा या साधारण गुणकी अपेक्षा सर्व जीव एक प्रकार हैं तथा यह जीव–द्रव्य दर्शन ज्ञान उपयोगकी अपेक्षा या संसारी और मुक्तकी अपेक्षा या भव्य और अभव्यकी अपेक्षा दो प्रकार है। सोई जीव ज्ञानचेतना, कर्मचेतना या कर्मफलचेतनाकी अपेक्षा या उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी अपेक्षा या सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान,सम्यग्चारित्रकी अपेक्षा या द्रव्य गुण पर्यायकी अपेक्षा तीन लक्षणधारी है। यद्यपि

शुद्ध निश्चयनयसे निर्विकार, चिदानन्दमई एक लक्षण रखनेसे सिद्ध गतिमें रहनेका स्वभाव रखता है तथापि व्यवहारसे मिथ्यादर्शन और रागद्वेषादि भावोंमें परिणमन करता हुआ नरकादि चार गतियोंमें भ्रमण करनेवाला होनेसे चार प्रकार कहा गया है। यद्यपि निश्चयनयसे क्षायिकभाव और शुद्ध पारिणामिकभाव इन दो लक्षणोंको रखता है तथापि सामान्यसे औदयिक आदि पांच मुख्य भावोंका धरनेवाला होनेसे पांच प्रकार है तथा यही जीव छः उपक्रमसे युक्त है इससे छः प्रकार है। इस वाक्यका अर्थ यह है कि जिसमें विरुद्ध क्रम नष्ट हो गया हो उसको उपक्रम कहते हैं अर्थात् यह जीव ऊपर नीचे तथा चार महादिशा—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर इनमें मरणके अंतमें जाता है, जैसा कि कहा है—"अणुश्रेणि गतिः" कि जीवका गमन श्रेणीबद्ध होता है। टेढ़ा विदिशाओंमें नहीं जाता है। इसी कारण छः प्रकार है। यही जीव द्रव्य स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्तिनास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्तिनास्ति अवक्तव्य इन सात भंगोंसे सिद्ध किया जाता है इससे सात प्रकार है। यद्यपि यह जीव निश्चयनयसे वीतराग लक्षणमई सम्यक्त आदि आठ गुणोंका आधार है तथापि व्यवहारसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके आश्रव सहित है इससे आठ प्रकार है। यद्यपि यह जीव निर्विकल्प समाधिमें रहनेवालोंको निश्चयसे एक अखंड ज्ञानरूप प्रतिभासित होता है जो गुण सर्व जीवोंमें साधारण पाया जाता है तथापि व्यवहारसे नाना सुवर्णके पदार्थोंमें फैले हुए सुवर्णकी तरह जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य,

पाप इन नौ पदार्थोंमें व्यापनेसे नौ रूप हैं। यद्यपि निश्चयनयसे शुद्धबुद्ध एक लक्षणका धारी है तथापि व्यवहारनयसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेन्द्रियरूप होनेसे दस स्थानगत या दसरूप है। अथवा यदि इन पृथ्वी आदिके दस स्थानोंको अलग २ ले लेवें और उपयुक्त पदका पृथक् व्याख्यान करलें कि यह ज्ञान दर्शन उपयोगका धारी है तो शेष नौ प्रकारको मिलानेसे यही जीव वीस भेदरूप हो जाता है। यह भावार्थ है।

भावार्थ-भिन्न २ अपेक्षा या दृष्टिसे भेद या अभेदका व्यवहार है। संग्रहनयसे जिस पदार्थको एकरूप कह सकते हैं उसीको व्यवहार नयसे अनेक प्रकार कह सकते हैं। ये सब भेद इसी लिये कहे जाते हैं कि जो अच्छी तरह किसी पदार्थको नहीं समझते हैं उनके ध्यानमें पदार्थका स्वरूप भेद अभेदरूप ठीक ठीक समझमें आजावे. क्योंकि पदार्थ एकांतसे न मात्र अभेदरूप ही है न भेदरूप ही है किन्तु भेदाभेदारूप है। किसी अपेक्षा भेदरूप है किसी अपेक्षा अभेदरूप है। जैसा कि स्वयंभूस्तोत्रमें कहा है:—

अनेकमेकं च तदेव तत्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपचारोऽन्यतरस्यलोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥२२॥

भावार्थ-वस्तुका स्वभाव एक रूप भी है अनेक रूप भी है। भेद अभेदरूपका ज्ञान ही सत्य ज्ञान है। यदि यह कथन मात्र उपचारसे मानोगे तो मिथ्या ही हो जायगा। यदि इनमें किसी एक स्वभावको न मानोगे तो दूसरा स्वभाव भी नहीं रहेगा तब तो तत्त्वका कथन ही नहीं हो सकेगा। द्रव्य उसे ही कहते हैं जो गुण पर्या-

योंका समुदाय है। इसीसे ही अभेदपना और भेदपना सिद्ध है। समुदायकी अपेक्षा द्रव्य अभेद एकरूप है किन्तु अनेक गुण और पर्यायोंको रखनेसे अनेक रूप है। इसतरह जीवद्रव्यके अनेक भेद किये जा सक्ते हैं।

इस तरह जो स्याद्वादनयसे वस्तु स्वभावको समझते हैं वे ही यथार्थ आत्माको समझ उसका ध्यान करके परमात्मपदपर आरूढ़ होसक्ते हैं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मुक्त जीवोंकी ऊपरको गति होती है और संसारी जीवोंकी मरणकालमें छः दिशाओंमें गति होती है—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेशबंधेहिं सव्वदो मुक्को।
उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति ॥ ७९ ॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैः सर्वतो मुक्तः।
ऊर्ध्वं गच्छति शेषा विदिग्वर्ज्जां गतिं यांति ॥ ७९ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं) प्रकृतिबंध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध, और प्रदेशबन्ध इन चार प्रकारके बन्धोंसे (सव्वदो) सर्वतरहसे (मुक्को) छुटा हुआ जीव (उड्ढं) ऊपरको सीधा (गच्छदि) जाता है। (सेसा) बाकी संसारी जीव (विदिसावज्जं) चार विदिशाओंको छोड़कर शेष छः दिशाओंमें (गदिं) गतिमें जानेकी अपेक्षा (जंति) जाते हैं।

विशेषार्थ—जब यह जीव समस्त रागादिभावोंसे रहित होकर शुद्धात्मानुभूतिमई ध्यानके बलसे प्रकृति आदि चाररूप द्रव्यकर्म बंधोंसे और सर्व विभाव भावोंसे बिलकुल छूट जाता है तब यह अपने स्वाभाविक अनंतज्ञानादि गुणोंसे भूषित होता हुआ एक

समयमें ही अविग्रहगतिसे ऊपरको जाकर लोकके अग्रभागमें तिष्ठ जाता है। मुक्त जीवोंके सिवाय शेष संसारी जीव मरणके अंतमें छः दिशाओंमें श्रेणीरूपसे जाते हैं। इस गाथामें सिद्धका स्वरूप ऐसा जानना जैसा कि इन नीचेकी दो गाथाओंमें कहा गया है:-

अट्ठवियकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥६८॥
सदसिव संखो मक्कडि बुद्धो णेयाइयो य वैसेसी ।
ईसरमंडलिदंसणविदूसणट्ठं कयं एदं ॥६९॥ (गोमटसार)

भावार्थ-सिद्ध भगवान आठ प्रकार कर्म्मोंसे रहित हैं-अर्थात् मोह कर्म्मने क्षायिक सम्यक्तको, ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मने केवलज्ञान केवलदर्शन गुणोंको, अंतरायने अनंतवीर्यको, नामकर्मने सूक्ष्म गुणको, आयुकर्मने अवगाहना गुणको, गोत्रकर्मने अगुरुलघु गुणको, वेदनीयने अव्याबाध गुणको ढक रक्खा था सो आठकर्मके नाश होनेसे सिद्धोंके आठ गुण प्रगट होगये हैं। इस विशेषणसे जो जीवको सर्वदा सर्व कर्ममलसे अलिप्त व सदा मुक्तरूप ईश्वर माननेवाले हैं ऐसे सदाशिव मतका निराकरण किया गया है। यदि कर्म बंध न हो तो आत्माके मुक्तिका साधन वृथा हो तथा जीवके मुक्ति न माननेवाले मीमांसक मतका निराकरण है। * (२) सिद्ध भगवान परम शीतल या सुखी भए हैं। इस विशेषणसे जो मुक्तिमें आत्माके सुखका अभाव मानते हैं उन सांख्य मतवालोंका निराकरण है। (३) वें सिद्ध भगवान कभी फिर कर्मरूपी अंजनसे लिप्त नहीं होते हैं, इससे निरंजन हैं। इस विशेषणसे

* पं० टोडरमल कृत भाषानुसार ।

मस्करी सन्यासीके मतका निराकरण है, जो मुक्त होनेके पीछे फिर कर्मबंध होना व संसार होना मानते हैं । (४) वे सिद्ध भगवान अविनाशी हैं । कभी अपने शुद्ध चैतन्य द्रव्यके स्वभावको नहीं त्यागते हैं । इस विशेषणसे बौद्धमतका निराकरण है जो परमार्थसे कोई नित्यद्रव्य नहीं मानते हैं । क्षणक्षण विनाशीक चैतन्यको संतानवर्ती मानते हैं । (५) वे सिद्ध महाराज सम्यक्त आदि आठगुण धारी हैं । इस विशेषणसे ज्ञानादि गुणोंके अत्यन्त अभावको मुक्ति माननेवाले नैयायिक और वैशेषिक मतका निराकरण है । (६) वे सिद्ध भगवान कृतकृत्य हैं । कुछ करना नहीं है परम संतुष्ट हैं । इस विशेषणसे ईश्वरको सृष्टिकर्ता माननेवालोंका निराकरण है । (७) वे सिद्ध भगवान लोकाकाशके अग्रभागमें निवास करते हैं । इस विशेषणसे मंडलीकमतका निराकरण है जो कहते हैं कि आत्मा ऊर्ध्वगमन स्वभावसे सदा ही जाता रहता है कहीं भी विश्राम नहीं लेता है ।

भावार्थ–सिद्ध भगवान् शुद्ध उस आत्माको कहते हैं जिसमें कर्मबंधका सर्वथा अभाव हो । कर्मका बंध प्रकृति अर्थात् ज्ञानावरण आदि स्वभावको रखता है उसमें कुछ कालकी मर्यादा पड़ती है यह स्थिति है । उसमें तीव्र या मंद फल दानशक्ति होती है यह अनुभाग है । उसमें कर्म वर्गणाओंकी संख्या नियमित होती है । यह प्रदेश है । इस तरह चारों ही प्रकारके बंध सिद्ध परमेष्ठीमें नहीं रहते हैं। इससे वे पूर्ण शुद्ध होगए हैं। उनमें पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, शांति और कृतकृत्यपना है । इससे वे सदाकाल स्वाभाविक आनंदमें मगन रहते हैं । न तो कुछ

बनाते न बिगाड़ते हैं न वे बिना कारणके कभी कर्मबंधमें पड़कर फिर कभी संसारी होते हैं। वे सिद्ध भगवान सदा ही ध्यान करने योग्य हैं।

श्री नियमसारमें श्री कुन्दकुन्द भगवान सिद्धोंका स्वरूप बताते हुए कहते हैं—

अव्वावाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालम्बं ॥ १७७ ॥
णवि दुःखं णवि सुक्खं णवि पीड़ा णेव विज्जदे वाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७८॥
णवि इंदियउवसग्गा णवि मोहा विम्हियो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य हवदि णिव्वाणं ॥ १७९ ॥
णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होई णिव्वाणं ॥ १८० ॥
विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥ १८१ ॥
णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥ १८२ ॥
जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छन्ति ॥ १८३ ॥

भावार्थ—परमात्माका स्वरूप बाधारहित, इन्द्रियोंसे अतीत, अनुपम व पुण्य पापरहित, फिर संसारमें आगमनरहित, नित्य, निश्चल तथा आलम्बरहित है। उस सिद्ध अवस्थामें परमात्माको न तो कोई दुःख है न कोई सांसारिक विनाशीक सुख है न कोई पीड़ा है न कोई बाधा है न मरण न जन्म है। यही निर्वाणका स्वरूप है। न वहां कोई इन्द्रिय है न वहां कोई उपसर्ग है न कोई मोह है न आश्चर्य है न निद्रा है न तृष्णा है और न क्षुधा है, यही

निर्वाणका स्वरूप है। न वहां कोई द्रव्यकर्म है न शरीरादि नोकर्म है, न कोई चिंता है न आर्तरौद्र ध्यान है और न वहां धर्म तथा शुक्लध्यान हैं यही निर्वाणका स्वरूप है। उस सिद्ध भगवानके निर्वाणमें केवलज्ञान है, केवल शुद्ध सुख है। अनंत असहाय वीर्य है केवल दर्शन है। वे सिद्ध परमेष्ठी अमूर्तीक हैं, अपनी सत्ता सदा रखते हैं और सप्रदेशी अर्थात् शुद्ध पुरुषाकार चेतनामई आकार धारी हैं। निर्वाण ही सिद्ध है तथा सिद्ध जीव ही निर्वाण है ऐसा कहा गया है। कर्मोंसे रहित होकर आत्मा लोकके अग्रभाग तक जाता है क्योंकि जीव और पुद्गलोंका गमन वहीं तक जानना चाहिये जहांतक धर्मास्तिकाय है। लोकके बाहर धर्मास्तिकाय नहीं है इससे लोकके बाहर वे नहीं जाते हैं।

सिद्ध जीव सीधे ऊपरको जाते हैं मोड़ा नहीं लेते हैं। संसारी जीव जो सीधे कहीं पैदा होते हैं वे एक गतिसे दूसरी गतिमें जाते हुए मोड़ा नहीं लेते हैं परन्तु जिनको इधर उधर जन्मना होता है वे कोई संसारी जीव एक मोड़ा लेकर, कोई दो मोड़ा लेकर, कोई तीन मोड़ा लेकर अवश्य अपने जन्मस्थानमें पहुंच जाते हैं क्योंकि वे विदिशाओंमें नहीं जाते हैं इसीलिये कोनोंमें जानेके लिये मुड़-नेकी जरूरत पड़ती है।

इस तरह जीवास्तिकायके सम्बन्धमें नव अधिकारोंकी चूलि-काके व्याख्यानको करते हुए तीन गाथाएं कहीं—

इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण "जीवोत्ति हवदिचेदा" इत्यादि, नव अधिकारकी सूचनाके लिये गाथा एक, प्रभुत्वकी मुख्यतासे गाथा दो, जीवत्वको कहते हुए गाथा तीन, स्वदेह प्रमाण है ऐसा

कहते हुए गाथा दो, अमूर्त गुण बतानेके लिये गाथा तीन, तीन प्रकार चेतनाको कहते हुए गाथा दो, फिर ज्ञानदर्शन उपयोगको समझानेके लिये गाथा उगनीस, कर्तापना, भोक्तापना और कर्म-संयुक्तपनाके व्याख्यानकी मुख्यतासे गाथा अठारह, चूलिका रूपसे गाथा तीन इस तरह सर्व समुदायसे त्रेपन गाथाओंको पंचास्तिकाय छः द्रव्यको कहनेवाले प्रथम महाअधिकारमें जीवास्तिकाय नामका चौथा अंतर अधिकार समाप्त हुआ ।

उत्थानिका—अथानंतर चिदानंदमई एक स्वभावधारी शुद्ध जीवास्तिकायसे भिन्न त्यागने योग्य पुद्गलास्तिकायके अधिकारमें गाथाएं दस हैं । उनमें पुद्गलोंके स्कंध होते हैं इस व्याख्यानकी मुख्यतासे "खंदा य खंददेसो" इत्यादि पाठक्रमसे गाथाएं चार हैं, फिर परमाणुके व्याख्यानकी मुख्यतासे दूसरे स्थलमें गाथाएं पांच हैं इन पांचमें परमाणुके स्वरूपको कहते हुए "सव्वेसिं खंदाणं" इत्यादि गाथा सूत्र एक है । परमाणुओंके पृथ्वी, जल आदि भेद भिन्न २ होते हैं इस बातको खंडन करते हुए "आदेसमत्त" इत्यादि सूत्र एक है फिर शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है इसके स्थापनकी मुख्यतासे "सद्दो खंधप्पभवो" इत्यादि सूत्र एक है । फिर परमाणु द्रव्यके प्रदेशके आधारसे समय आदि व्यवहार काल होता है इसकी मुख्यतासे एकत्व आदि संख्याको कहते हुए "णिच्चोणा-णवगासो" इत्यादि सूत्र एक है फिर परमाणु द्रव्यमें रस वर्ण आदिके व्याख्यानकी मुख्यतासे "एय रसवण्ण" इत्यादि गाथा सूत्र एक है। इस तरह परमाणु द्रव्यके प्ररूपणमें दूसरे स्थलमें समुदायसे गाथा पांच हैं । फिर पुद्गलास्तिकायको संकोचते हुए "उवभोज्ज" इत्यादि

सूत्र एक है। इस तरह दश गाथातक तीन स्थलसे पुद्गलके अधिकारमें समुदायपातनिका कही। आगे पुद्गलके चार भेद कहते हैं।

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा पोग्गलकाया मुणेयव्वा ॥ ८० ॥

**स्कंधाश्च स्कंधदेशाः स्कंधप्रदेशाश्च भवन्ति परमाणवः।**
**इति ते चतुर्विकल्पाः पुद्गलकाया ज्ञातव्याः ॥ ८० ॥**

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(खंधा) स्कंध (य) और (खंधदेसा) स्कंध देश (य) तथा (खंधपदेसा) स्कन्ध प्रदेश ऐसे तीन प्रकार स्कंध तथा (परमाणू) परमाणु (होंति) होते हैं। (इदि) ये (चदुवियप्पा) चार भेदरूप (ते पोग्गलकाया) वे पुद्गलकाय (मुणेयव्वा) जानने चाहिये।

विशेषार्थ-यहां ग्रहण करने योग्य अनंत सुखरूप शुद्ध जीवास्तिकायसे विलक्षण होनेसे यह पुद्गलद्रव्य हेयतत्व है ऐसा तात्पर्य है।

भावार्थ-पुद्गलका सबसे मूल व जघन्यभेद एक अविभागी परमाणु होता है। उन परमाणुओंके मिलनेसे स्कंध बनते हैं जिनके तीन भेद बताए हैं-स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्ध प्रदेश। जो कुछ इंद्रियगोचर है वह सब मूर्तिक पुद्गल द्रव्य है। बहुतसे सूक्ष्म स्कंध व परमाणु इंद्रियोंके द्वारा नहीं मालूम होते हैं उनका अनुमान उनके कार्योंको देखकर किया जाता है। जो परस्पर पूरे अर्थात् मिले और गले अर्थात् विछुड़े उसे पुद्गल कहते हैं। छः द्रव्योंमेंसे पुद्गलके ही भीतर मिलना विछुड़ना होता है ये ही अपनी सजातिमें परस्पर मिलकर स्कन्ध बनजाते हैं और स्कन्धोंके खंड खंड

होकर उनके परमाणु होजाते हैं। आत्माके स्वभावको ढकनेवाले भी कर्म पुद्गल हैं, यदि ऐसा न होता तो संसारी आत्माएं अशुद्ध न होतीं। ज्ञानीको इन पुद्गलोंके मध्यमें पड़े हुए इस आत्माको भिन्न देखकर उसका शुद्ध स्वभाव ध्यानमें लेकर व पुद्गलको भिन्न जानकर उसे त्यागकर एक आत्माका ही अनुभव करना योग्य है। तत्वार्थसारमें श्री अमृतचन्द्र आचार्यने कहा है:—

भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः पूरणाद्गलनादपि।
पुद्गलानां स्वभावज्ञैः कथ्यन्ते पुद्गला इति ॥ ५५ ॥
अणुस्कंधभेदेन द्विविधा खलु पुद्गलाः।
स्कंधो देशः प्रदेशश्च स्कंधस्तु त्रिविधो भवेत् ॥ ५६ ॥

भावार्थ—अपने अनेक भेद आदिके कारण तथा द्रव्यादिके निमित्तके वशसे पुद्गलोंमें मिलने विछुड़नेका स्वभाव है इस कारणसे स्वभावके ज्ञाताओंने इनको पुद्गल कहा है—इन पुद्गलोंके मूल भेद दो हैं—परमाणु और स्कंध। फिर स्कंधोंके तीन भेद हैं—स्कंध, स्कंधदेश और स्कंधप्रदेश।

उत्थानिका—आगे पहले कहे हुए स्कंध आदि चार भेदोंमेंसे प्रत्येकका लक्षण कहते हैं—

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥ ८१ ॥
स्कन्धः सकलसमस्तस्तस्य त्वर्धं भणन्ति देश इति।
अर्द्धार्द्धं च प्रदेशः परमाणुश्चैवाविभागी ॥ ८१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—( खंधं ) स्कन्ध ( सयलसमत्थं ) बहुतसे परमाणुओंका समुदाय है (तस्स दु अद्धं) उसके ही आधे परमाणुओंका ( देसोत्ति ) स्कंध देश होता है (च) और ( अद्धद्धं )

इस आधेके भी आधेका (पदेसो) स्कंध प्रदेश होता है। (च्चेव) और (परमाणू) परमाणु (अविभागी) विभाग रहित सबसे सूक्ष्म होता है।

विशेषार्थ—मिले हुए समुदायको घट पट आदि अखंडरूप एक सकल कहते हैं, यह अनंत परमाणुओंका एक पिंड है इसीको स्कंध संज्ञा है। यहां दृष्टांत कहते हैं कि जैसे सोलह परमाणुओंको पिंडरूप करके एक स्कंध बना इसमें एकएक परमाणु घटाते हुए नव परमाणुओंके स्कंध तक स्कंधके भेद होंगे अर्थात् नौ परमाणुओंका जघन्य स्कंध सोलह परमाणुओंका उत्कृष्ट स्कंध शेष मध्यके भेद जानने। आठ परमाणुओंके पिंडको स्कंधदेश कहेंगे क्योंकि वह सोलहसे आधा रह गया इसमेंसे भी एक एक परमाणु घटाते हुए पांच परमाणुके स्कंध तक स्कंधदेशके भेद होंगे उनमें जघन्य स्कंधदेश पांच परमाणुओंका तथा उत्कृष्ट आठ परमाणुओंका व मध्यके अनेक भेद हैं। चार परमाणुओंके पिंडको स्कंधप्रदेश संज्ञा कही जाती है इसमेंसे भी एक एक परमाणु घटाते हुए दो परमाणुके स्कंध तक प्रदेशके भेद हैं अर्थात् जघन्य स्कंध प्रदेश दो परमाणुका स्कंध है, उत्कृष्ट चार परमाणुका स्कंध है, मध्य तीन परमाणुका स्कंध है—ये स्कंधके भेद जानने। सबसे छोटे विभाग रहित पुद्गलको परमाणु कहते हैं। परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे स्कंध बनते हैं। दो परमाणुओंका द्व्यणुक स्कंध होगा, तीन परमाणुओंके संघातसे त्र्यणुक स्कंध होगा। इसी तरह अनंतपरमाणुओं तकके स्कन्ध जानने चाहिये। इसतरह भेद और संघात तथा भेदसंघात दोनोंसे अनन्त प्रकारके स्कन्ध होजाते हैं अर्थात् परमाणु या स्कन्धोंके मिलनेसे स्कन्ध

बनते हैं तथा बड़े स्कन्धोंके भेदसे छोटे स्कन्ध बनते हैं तथा कुछ परमाणुओंके निकल जानेसे व कुछके मिल जानेसे ऐसे भेदसंघात दोनोंसे स्कंध बनते हैं।

यहां यह तात्पर्य है कि ग्रहण करने योग्य परमात्मतत्त्वसे ये सब पुद्गल भिन्न हैं यही अनुभव होना इस पुद्गलके ज्ञानका फल है।

भावार्थ-यहां यह बताया है कि परमाणुओंके मिलनेसे स्कंध बनते हैं। सोलह परमाणुओंके समुदायको लेकर जो दृष्टांत दिया है उसी तरह संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओंके स्कंधोंको जानना चाहिये। हरएक किसी स्कन्धके आधेको स्कन्धदेश, उससे आधेको स्कन्धप्रदेश कहेंगे। ऐसे भेद हम द्व्यणुकस्कन्धतक करसक्ते हैं। चौथाई भागतक तो स्कन्ध प्रदेश होगा। फिर इस स्कन्ध प्रदेशको हम एक स्कन्ध मान लें और आधा तथा चौथाई भेद करते जांय। जो चौथाई स्कन्ध प्रदेश आवे इसे फिर एक स्कन्ध मानलें इस तरह करते हुए दो परमाणुओंके स्कन्ध तक स्कन्धके भेद हो जायंगे। लोकमें नाना प्रकारके स्कन्ध सर्व प्रदेशोंमें व्याप्त हो रहे हैं इन हीके कारण इस लोककी विचित्र रचना है। सर्व स्कन्धोंका मूल कारण एक एक अविभागी परमाणु है। वास्तमें एक परमाणु ही शुद्ध पुद्गल द्रव्य है। बंध प्राप्त स्कन्ध अशुद्ध पुद्गल द्रव्य हैं। जैसा श्री नियमसारमें स्वामी कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं—

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ॥२८॥
पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वोत्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥ २९ ॥

भावार्थ-परद्रव्यकी अपेक्षा न रखनेवाला जो परिणाम है सो स्वभाव पर्यायरूप एक अविभागी अबंध परमाणु है। जब परमाणु स्निग्ध रूक्षगुणके कारण परस्पर मिल जाते हैं तब स्कन्ध रूप जो अवस्था होती है सो पुद्गलकी विभावपर्याय है। निश्चय नयसे एक परमाणुको ही पुद्गल द्रव्य कहते हैं। व्यवहारनयसे स्कन्धोंको पुद्गल द्रव्य ऐसा नाम कहा जाता है।

श्री तत्त्वार्थसारमें कहा है—

अनन्तपरमाणूनां संघातः स्कन्ध इष्यते ।
देशस्तस्यार्द्धमर्द्धार्द्धं प्रदेशः परिकीर्तितः ॥ ५७ ॥
भेदात्तथा च संघातात्तथा तदुभयादिति ।
उत्पद्यंते खलु स्कन्धा भेदादेवाणवः पुनः ॥ ५८ ॥

भावार्थ-अनन्त परमाणुके मिलने तक स्कन्ध कहे जाते हैं। उसके आधेको स्कन्धदेश और आधेके आधेको स्कन्ध प्रदेश कहते हैं-भेदसे तथा संघातसे और भेद संघात दोनोंसे स्कन्ध बनते रहते हैं तथा परमाणु स्कन्धके भेदसे ही होते हैं।

इसतरह पुद्गलकी रचना अनेक प्रकार जानकर कार्मण वर्गणाको भी पुद्गल स्कन्ध मानकर इन आठ कर्मोंके प्रपंचसे भिन्न अपने आत्माको अनुभव करना योग्य है।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि स्कंधोंमें व्यवहारनयसे पुद्गलपना है—

वादरसुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलोत्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा ते लोक्कं जेहिं णिप्पण्णं ॥ ८२ ॥
वादरसौक्ष्म्यगतानां स्कंधानां पुद्गलः इति व्यवहारः।
ते भवन्ति षट्प्रकारास्त्रैलोक्यं यैः निष्पन्नं ॥ ८२ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-( वादरसुहुमगदाणं ) वादर और सूक्ष्म परिणमनको प्राप्त ( खंधाणं ) स्कन्धोंको ( पोग्गलोत्ति ) ये पुद्गल हैं ऐसा (ववहारो) व्यवहार है। (ते) वे स्कन्ध (छप्पयारा) छः प्रकारके ( होंति ) होते हैं ( जेहिं ) जिनसे ( ते लोकं ) यह तीन लोक ( णिप्पण्णं ) रचा हुआ है।

विशेषार्थ-शुद्ध निश्चयनयसे सुख सत्ता चैतन्य बोध आदि शुद्ध प्राणोंसे जो जीता है वह वास्तवमें सिद्ध स्वरूप जीव है। व्यवहारसे जो आयु, बल, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास अशुद्ध प्राणोंसे जीता है तथा जिसके चौदह गुणस्थान व चौदह मार्गणा आदिके भेदसे अनेक भेद हैं सो भी जीव हैं। वैसे ही निश्चयसे परमाणु ही पुद्गल द्रव्य कहे जाते हैं जैसा कि इस श्लोकमें कहा गया है-

" वर्णगंधरसस्पर्शैः पूरणं गलनं च यत्।
कुर्वन्ति स्कंधवत्तस्मात्पुद्गलाः परमाणवः ॥"

अर्थात् जो स्पर्श, रस, गंध वर्णके परिणमन द्वारा पूरण गलन करते रहते हैं अर्थात जिनमें ये चार गुण अपने अंशोमें वृद्धि हानि किया करते हैं वे परमाणु स्कन्धोंकी तरह पुद्गल कहे जाते हैं। व्यवहार नयसे दो परमाणुके स्कन्धसे लगाकर अनंत परमाणुओंके पिंडतक वादर तथा सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त जो स्कन्ध हैं उनको भी पुद्गल हैं ऐसा व्यवहार किया जाता है वे छः प्रकार हैं जिनसे ही तीन लोककी रचना है। यहां यह तात्पर्य है कि जहां जीव आदि पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं उसे ही लोक कहते हैं। इस वचनसे पुद्गल आदि छः द्रव्योंसे यह लोक रचा हुआ है और अन्य किसी विशेष पुरुषने न इसे बनाया है न यह किसीके द्वारा नाश

होता है और न यह किसीके द्वारा धारण किया हुआ है।

भावार्थ—तीन लोकमें सूर्य, चंद्रमा, तारोंके विमान, अनेक पर्वत, नदी, वन, पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल आदि द्रव्य जो दिखलाई पड़ते हैं व जो सूक्ष्म स्कंध हैं जैसे—कार्मणवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा तथा आहारकवर्गणा आदि जिनसे क्रमसे संसारी जीवोंके कार्मण शरीर, भाषा, मन, तैजस शरीर तथा औदारिकादि तीन शरीर बनते हैं ये सब पुद्गलके परमाणुओंके बंधरूप स्कन्ध हैं। इन हीमें परिणमन हुआ करता है। यद्यपि इन स्कन्धोंके अनंत भेद होते हैं तथापि स्थूलरूपसे समझानेकी अपेक्षा आचार्यने इनके छः भेद किये हैं जो आगे कहेंगे।

इस लोकको किसी ईश्वरने बनाया नहीं है। छः द्रव्य जीवादिके संयोगका नाम लोक है। जीव और पुद्गल नाना प्रकारकी क्रियाएं करते रहे हैं, धर्मादि चार द्रव्य उनके सहायक हैं। बस ये छः द्रव्य स्वभावसे ही परिणमन करते हुए लोकमें अनेक अवस्थाएं स्वयं रचा करते हैं। ऐसा वस्तुका स्वरूप जानना चाहिये।

श्री नियमसारमें भी ऐसा ही कहा है—

अणुखंधवियप्पेण दु, पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।
खंधा हु छप्पयारा, परमाणू चेव दुवियप्पो ॥ २० ॥
धाउचउक्कस्स पुणो, जं हेऊ कारणंति त णेयो।
खंधाणं अवसाणं, णादव्वो कज्ज परमाणू ॥ २५ ॥

भावार्थ—पुद्गल द्रव्यके मूल भेद दो हैं—परमाणु और स्कंध। उनमेंसे स्कन्धके छः भेद हैं तथा परमाणुके दो भेद हैं। उनमें जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार धातुओंका कारण है उसे कारण परमाणु जानना चाहिये तथा स्कंधोंका भेद करते करते

जो अंतिम अविभागी है उसे कार्य परमाणु जानना चाहिये। ऐसे परमाणुओंके दो भेद हैं।

उत्थानिका—आगे स्कंधोंके छः भेद कहते हैं—

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओगा।
कम्मातीदा येवं छब्भेया पोग्गला होंति॥ ८३॥

पृथ्वी जलं च छाया चतुरिन्द्रियविषयकर्मप्रायोग्याः।
कर्मातीताः एवं षड्भेदाः पुद्गलाः भवन्ति॥ ८३॥

सामान्यार्थ—(अन्वय सुगम है)। पृथ्वी, जल, छाया, चक्षुके विषयको छोड़कर चार इंद्रियोंके विषय, कर्मोंके योग्य पुद्गल और कर्मोंसे सूक्ष्म स्कंध ऐसे छः भेदरूप पुद्गल होते हैं।

विशेषार्थ—पुद्गलोंके छः भेद हैं (१) स्थूल स्थूल, (२) स्थूल, (३) स्थूल सूक्ष्म, (४) सूक्ष्म स्थूल, (५) सूक्ष्म, (६) सूक्ष्म सूक्ष्म। जो खंड किये जानेपर स्वयमेव मिल न सकें वे स्थूल स्थूल हैं। जैसे पर्वत, पृथ्वी, घट, पट आदि। जो अलग२ किये जानेपर उसी क्षण ही स्वयं मिल सकें हैं वे स्थूल हैं जैसे घी, तेल, जल, आदिक। जिनको देखते हुए भी हाथसे पकड़कर अन्य स्थानमें नहीं लेजा सकें वे स्थूल सूक्ष्म हैं जैसे छाया, आताप, प्रकाश आदि। जो आंखोंसे नहीं दिखलाई पड़ें वे सूक्ष्म स्थूल हैं जैसे आंखके सिवाय अन्य चार इंद्रियोंके विषय वायु, रस, गंध, शब्द आदि। सूक्ष्म जो किसी भी इंद्रियसे न जाने जाय ऐसे पुद्गल जैसे ज्ञानावरणादि कर्मके योग्य वर्गणाएं और सूक्ष्मसूक्ष्म पुद्गल वे हैं जो इन कर्म-वर्गणाओंसे भी सूक्ष्म दो अणुके स्कंधतक हैं।

(यह गाथा अमृतचंद्रकृत वृत्तिमें नहीं है)।

भावार्थ-यद्यपि लोकमें पुद्गल संख्यात, असंख्यात, अनंत भेदोंको रखनेवाले हैं तथापि यहांपर उन सबोंको ऊपर लिखित छः भेदोंमें बांट दिया है। ऐसा ही श्री नियमसारमें भी कहा है-

अइथूलथूल थूलं थूलंसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥ २१ ॥
भूपव्वदमादिया, भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया, सप्पीजलतेलमादीया ॥ २२ ॥
छायातवमादीया, थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया, खंधा चउरक्खविसया य ॥ २३ ॥
सुहुमा हवंति खंधा, पावोग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा, अइसुहुमा इदि परूवेंदि ॥ २४ ॥

भावार्थ-ऊपर विशेषार्थमें है सो ही है। तात्पर्य यह है कि जगतकी, शरीरकी व कर्मोंकी सब रचना पुद्गलकृत देखकर हमें इन सबसे वैराग्य रखना उचित है। इस तरह प्रथमस्थलमें स्कंधके व्याख्यानकी मुख्यतासे चार गाथाएं कहीं।

उत्थानिका-अथानतंर परमाणुके व्याख्यानकी मुख्यतासे दूसरे स्थलमें पांच गाथाएं कही जाती हैं। प्रथम कहते हैं कि परमाणु नित्यपने आदि गुणोंको रखनेवाला है।

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥८४॥

सर्वेषां स्कन्धानां योऽन्त्यस्तं विजानीहि परमाणु।
स शाश्वतोऽशब्दः एकोऽविभागी मूर्तिभवः ॥ ८४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-( सव्वेसिं ) सर्व ( खंधाणं ) स्कन्धोंका (जो अंतो) जो अंतिम भेद है (तं) उसको ( परमाणू )

परमाणु (वियाण) जानो (सो) वह (सस्संदो) अविनाशी है, (असद्दो) शब्दरहित है, (एक्को) एक है, (अविभागी) विभागरहित है तथा (मुत्तिभवो) मूर्तिक है।

विशेषार्थ–जो कोई सर्व कर्मस्कन्धोंको नाश कर देता है उसको शुद्धात्मा जानो। इसी तरह जो ऊपर कहे छः प्रकार स्कंधोंका अंतिम भेद है उसको परमाणु जानो। जैसे परमात्मा टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा एक स्वभावरूप होनेसे द्रव्यार्थिकनयसे नाशरहित है, इससे शाश्वत है। इसी तरह पुद्गलपनेके स्वभावको कभी न छोड़नेसे यह परमाणु भी नित्य है। जैसे शुद्ध जीवास्तिकाय निश्चयसे स्व-संवेदन ज्ञानका विषय होनेपर भी शब्दोंका विषय या शब्दरूप न होनेसे अशब्द है तैसे यह परमाणु भी यद्यपि शक्तिरूपसे शब्दका कारण है तथापि व्यक्तिरूपसे शब्द पर्यायरूप नहीं है इससे अश-ब्द है। जैसे शुद्धात्माद्रव्य निश्चयसे परकी उपाधि विना केवल सहायरहित एक कहा जाता है तैसे परमाणुद्रव्य भी द्व्यणुक आदि परकी उपाधिसे रहित होनेके कारणसे केवल सहायरहित एक है अथवा एकप्रदेशी होनेसे एक है। जैसे परमात्माद्रव्य निश्चयसे लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है तो भी अपने अखंड एक द्रव्यपनेकी अपेक्षा भागरहित अविभागी है, तैसे ही परमाणुद्रव्य भी अंशरहित होनेसे विभागरहित अविभागी है। फिर वह परमाणु अमूर्तीक परमात्मद्रव्यसे विलक्षण जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण मूर्ति उससे उत्पन्न होनेसे मूर्तिभव है या मूर्तीक है, ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें एक पुद्गलके उस परमाणुका स्वरूप कहा है जिसका दूसरा भाग नहीं किया जासक्ता है। वह परमाणु

स्पर्श, रस, गंधवान एक स्वतंत्र द्रव्य है। यद्यपि उसके गुणोंमें भी परिणमन हुआ करता है तथापि वह द्रव्यपनेको कभी त्यागता नहीं है इससे नित्य है। वह स्वयं शब्दरूप नहीं होता है तथापि अनेक परमाणुओंके मिलनेसे जो शब्द बनता है उसका यह परमाणु कारण है। निश्चयसे यही पुद्गलद्रव्य है। स्कन्धोंको व्यवहारसे पुद्गलद्रव्य कहते हैं, क्योंकि वे परमाणुओंके संघातसे उत्पन्न हुए हैं। गोम्मटसार जीवकांडकी संस्कृतवृत्तिमें कहा है—

आद्यंतरहितं द्रव्यं विश्लेषरहितांशकं।
स्कन्धोपादानमत्यक्षं परमाणुं प्रचक्षते॥

भावार्थ—जो आदि अन्तरहित है जिसके अंशोंका और विभाग नहीं हो सक्ता है। यद्यपि परमाणु गोल होता है उसमें छः अंश या पट्कोणपना कहा है तथापि वह टूट नहीं सक्ता है इससे अंश-रहित है, स्कन्धोंका उपादान कारण है, इंद्रिय अगोचर है। ऐसे द्रव्यको परमाणु कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि सब मूर्तीक रचनाका कारण परमाणुओंको जानकर अपने आत्माको इनसे भिन्न पहचानना चाहिये।

ऐसा परमाणुका स्वरूप कहते हुए दूसरे स्थलमें प्रथम गाथा कही।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पृथ्वी आदि जातिके भिन्न२ परमाणु नहीं होते हैं।

आदेसमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो॥ ८५॥

आदेशमात्रमूर्त्तः धातुचतुष्कस्य कारणं यस्तु।
स ज्ञेयः परमाणुः परिणामगुणः स्वयमशब्दः॥ ८५॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जो दु) जो कोई (आदेसमत्त-मुत्तो) मूर्तीक कहलाता है व (धादुचदुक्कस्स कारणं) चार धातुओंका कारण है (परिणामगुणो) परिणमन होना जिसका स्वभाव है व जो (सयम्) स्वयं (असद्दो) शब्दरहित है (सो परमाणू) सो परमाणु (णेओ) जानना चाहिये।

विशेषार्थ-परमाणुमें वर्णादि गुण रहते हैं उनका भेद संज्ञा आदिकी अपेक्षासे ही है, प्रदेशोंकी अपेक्षा उनका भेद नहीं किया जा सक्ता है। ये वर्णादि गुण परमाणुमें सर्वांग व्यापक हैं। वस्तु-स्वरूप यह है कि जो आदि मध्य अंतप्रदेश परमाणुका है वही उसके भीतर व्याप्त उसके रूपादि गुणोंका है अथवा वह परमाणु मूर्तीक कहा जाता है, दृष्टिसे नहीं देखा जाता है इत्यादि कारणोंसे परमाणु मूर्तीक है। निश्चयनयसे पृथ्वी, अप, तेज, वायुकायिक जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभावधारी हैं परन्तु व्यवहारनयसे अनादि-कर्मोंके उदयके वशसे जो उन जीवोंने पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु नामके शरीर ग्रहण कर रक्खे हैं उन शरीरोंका तथा उन जीवोंसे न ग्रहण किये हुए पृथ्वी, जल, अग्नि व वायुकायके स्कंधोंके उपा-दान कारण परमाणु हैं इससे ये परमाणु चार धातुओंके कारण हैं। यह परमाणु जड़ होनेसे औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक इन चार भावोंसे रहित केवल अपने पारिणामिकभावोंको रखनेवाला होनेसे परिणमनशील है। एक ही परमाणु कालांतरमें बदलते बदलते पृथ्वी या जल या अग्नि या वायु हो जाता है। यह परमाणु एक प्रदेशी होता है इससे यह अनंत परमा-णुओंका पिंड रूप जो शब्दपर्याय है उससे विलक्षण है। इस-

लिये स्वयं व्यक्तरूपसे शब्दरहित है ऐसा परमाणु जानना चाहिये।

भावार्थ–परमाणु पुद्गलका अविभागी एकप्रदेशी अंश है, क्योंकि इनके बने हुए स्कंधोंमें मूर्तीकपना पाया जाता है अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण झलकता है, तब इनके उपादानकारणरूप परमाणुओंमें भी अनुमानसे मूर्तीकपना अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्णपना मानना चाहिये, क्योंकि कारणके सदृश ही कार्य होता है। कोई मतवाले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके कारणरूप परमाणुओंकी जाति ही भिन्न मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह बात नहीं है, ये चारों ही धातु पुद्गलरूप हैं और सामान्य परमाणुओंसे बनी हैं। यद्यपि पृथ्वीमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण चारों प्रगट हैं, जलमें गंध गुण गौण है तीन प्रगट हैं। अग्निमें गंध और रस गौण हैं दो प्रगट हैं। वायुमें तीन गुण गौण हैं स्पर्श प्रगट है तथापि कोई पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु चारों ही गुणोंसे शून्य नहीं हैं, क्योंकि वे जिन परमाणुओंसे बने हैं वे कभी अपने स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणको नहीं त्यागते हैं। इन चारोंहीका उपादानकारण एक पुद्गल परमाणु है। ये चारों परस्पर भिन्न२ अवस्थामें बदल भी जाते हैं। जैसे जौ नामा अन्नसे पेटमें वायु पैदा हो जाती है। चन्द्रकांतमणि पृथ्वीकायसे चन्द्रमाकी किरणका सम्बन्ध होनेपर जल पैदा होजाता है। सूर्यकांतमणि पृथ्वीकाय है लेकिन सूर्यकी किरणका सम्बंध होनेपर उसमेंसे अग्नि प्रगट हो जाती है। जलसे पृथ्वीकाय मोती पैदा होता है। भिन्न२ वायुके मिलानेसे जल बन जाता है, जलसे वायु बन जाती है। जल जमकर कठोर पृथ्वीरूप वर्फशिला हो जाता है। यदि भिन्न२ जातिके इन चारोंके परमाणु होते तो इसमें

परस्पर परिणमन नहीं होता । यह जो कहा गया है कि जलमें गन्ध गौण है व अग्निमें गन्ध, रस व वायुमें वर्ण, गंध, रस गौण हैं। इसका मतलब यह है कि वे बहुत स्पष्टपने इंद्रियोंसे जाने नहीं जाते हैं किंतु एक वस्तु जिसमें जलका संयोग न हो उसको सूंघा जावे और जब उसमें जल मिला दिया जावे तब सूंघा जावे अवश्य दोनों गंधोंमें फरक होगा इससे यह सिद्ध है कि जलकी गंध उसमें मिल गई है । सूखा आटा और गीला आटा भिन्न २ गन्ध प्रगट करेंगे । उनहीको अग्निसे पकाए जानेपर भोजनमें भिन्न रस या गंध होजाता है। यदि अग्निमें रस और गंध न होते तो ऐसा नहीं हो-सक्ता था। पवनके सम्बन्धसे वृक्षादिमें भिन्न प्रकारका रस, गंध, वर्ण होजाता है। यदि पवनमें ये गुण न होते तो इनके मिलनेसे विलक्षणता न होती । इसलिये जो जैनसिद्धांत है कि सर्व पृथ्वी आदि पौद्गलिक रचनाका उपादान कारण परमाणु है सो वर्तमान विज्ञानके मतसे भी मिल जाता है। इस परमाणुमें परिणमनशीलपना है जो एक परमाणु किसी समय जघन्य रूखेपने या चिकनेपनेके रखनेके कारण बन्धयोग्य नहीं होता है वही परमाणु कालांतरमें बंधयोग्य होजाता है, जब उसमें रूक्षपने या स्निग्धपनेके अंश बढ़ जाते हैं । बाहरी द्रव्यक्षेत्रादिके निमित्तसे परमाणुके स्पर्श, रस, गन्ध व वर्णादि गुणोंमें परिणमन हुआ करता है। यदि ऐसा परि-णमन न हो तो गुलाबके वृक्षमें नाना रंगके पुष्प न पैदा हों ।

श्री गोमटसारजीमें कहा है—

**णिद्धिदरवरगुणाणू सपरट्ठाणेवि णेदि बंधट्ठं ।**
**बहिरंतरंगहेदु हि गुणंतरं संगदे एदि ॥ ६१७ ॥**

भावार्थ–स्निग्ध व रूक्ष जघन्य गुणयुक्त परमाणु स्वस्थान या परस्थानमें बंधके योग्य नहीं है। वही परमाणु जब बाहरी, भीतरी कारणसे दो आदि अंशोंमें पलट जाता है तब वही बन्ध-योग्य होजाता है।× शब्द भाषावर्गणासे बनता है। वे भाषावर्गणाएं परमाणुओंके संयोगसे बनती हैं इसलिये यद्यपि परमाणु शब्दरूप पर्यायका कारण है तथापि स्वयं शब्द रूप नहीं है। ऐसे परमाणुका स्वरूप जानना योग्य है।

इस तरह परमाणुओंमें पृथ्वी आदिकी जातिका भेद है इसको खंडन करते हुए दूसरी गाथा कही—

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि शब्द पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है-

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंवादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥ ८६ ॥
शब्दः स्कंधप्रभवः परमाणुसंगसंघातः।
स्पृष्टेषु तेषु जायते शब्द उत्पादको नियतः ॥ ८६ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः–( सद्दो ) शब्द ( खंधप्पभवो ) स्कन्धसे उत्पन्न होता है। (खंधो) वह स्कन्ध (परमाणुसंगसंवादो) अनंत परमाणुओंके समूहके मेलसे बनता है। ( तेसु पुट्ठेसु ) उन स्कंधोंके परस्पर स्पर्श होनेपर ( णियदो ) निश्चयसे ( उप्पादगो ) भाषावर्गणाओंसे होनेवाला (सद्दो) शब्द (जायदि) उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ–स्कन्ध दो प्रकारके यहां लेने योग्य हैं। एक तो भाषावर्गणा योग्य स्कंध जो शब्दके भीतरी या मूल कारण हैं और

---

× यहां स्वस्थानसे प्रयोजन परमाणु रूपमें परस्थानसे प्रयोजन स्कंध रूपका मालूम होता है।

सूक्ष्म हैं तथा निरंतर लोकमें तिष्ठ रहे हैं। दूसरे बाहरी कारण-रूप स्कन्ध जो ओठ आदिका व्यापार, घंटा आदिका हिलाना व मेघादिकका संयोग ये स्थूल स्कंध हैं। ये कहीं २ लोकमें हैं सर्व ठिकाने नहीं हैं। जहां इस अंतरंग बहिरंग दोनों सामग्रीका मेल होता है वहीं भाषावर्गणा शब्दरूपसे परिणमन कर जाती है। सर्व जगह नहीं। ये शब्द नियमसे भाषावर्गणाओंसे उत्पन्न होते हैं। इनका उपादान कारण भाषावर्गणा है न कि यह शब्द आकाश द्रव्यका गुण है। यदि यह शब्द आकाशका गुण हो तो कर्ण इंद्रियसे सुनाई न पड़े क्योंकि आकाशका गुण अमूर्तीक होना चाहिये। अथवा गाथामें जो "उप्पादगो" शब्द है उससे यह लेना कि यह शब्द प्रायोगिक है। पुरुष आदिकी प्रेरणासे पैदा होता है और "णियदो" शब्द है उससे यह लेना कि शब्द वैश्रसिक या स्वाभाविक है जैसे मेघ आदिसे होता है। अथवा शब्दके दो भेद हैं–भाषारूप और अभाषारूप। भाषात्मक शब्द दो प्रकार है–अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। जो संस्कृत प्राकृत आदि रूप आर्य्य व अनार्योंके वचनव्यवहारका कारण है सो अक्षरात्मक है। द्वेन्द्रिय आदिके शब्द तथा श्री केवली महाराजकी दिव्यध्वनि सो अनक्षरात्मक है। अब अभाषारूपको कहते हैं, इसके भी दो भेद हैं–एक प्रायोगिक, दूसरे वैश्रसिक। जो पुरुषके प्रयो-गसे हो सो प्रायोगिक है जैसे तत वितत, घन, सुषिरादि बाजोंके शब्द। कहा है—

"ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकं। घनं तु कंस-तालादि, सुषिरं वंशादिकं विदुः"

भावार्थ-वीणा, सितार आदि तारके बाजोंको तत जानना चाहिये। ढोल आदिको वितत, घंटा घडियालआदिके शब्दको घन तथा वांसरी आदि फूंकके बाजोंको सुपिर कहते हैं। जो मेघ आदिके कारणसे शब्द होते हैं वे वैश्रसिक या स्वाभाविक हैं। तात्पर्य यह है कि यह सब त्यागने योग्य तत्व हैं इनसे भिन्न शुद्धात्मीक तत्व ग्रहणकरने योग्य है।

भावार्थ-पहले कहीं तेईस जातिकी वर्गणाओंका वर्णन किया जाचुका है उनमेंसे यह भाषावर्गणा नौमी है। अनन्तपरमाणुओंके संघातसे ये वर्गणाएं बनती हैं तथा ये लोकमें सर्वत्र भरी हुई हैं। जितने भी भाषारूप या अभाषारूप शब्द लोकमें होते हैं उनका उपादान कारण ये भाषावर्गणाएं हैं। तथा इनके शब्दरूप परिणमनमें निमित्त कारण स्थूल स्कन्धोंका परस्पर मिलना है। जैसे ताली बजाना, ओंठ तालु हिलाना, बाजा बजाना, पृथ्वीपर पग रखना, पानीका परस्पर धक्का होना, वायुका धक्का भीत आदिको लगना, मेघोंका मिलना आदि। इस तरह अन्तरंग, वहिरंग कारणोंसे शब्द पैदा होता है। ये शब्द वहींतक सुनाई पड़ते हैं जहांतककी भाषावर्गणाएं परस्पर एक दूसरेको शब्दायमान करती हुई जासकें। यह निमित्त कारणके बलके ऊपर निर्भर है। जहां हमने बहुत जोरसे ओठ तालु हिलाए तो शब्द दूरतक जासकेगा, यदि मंदतासे ओठतालु हिलाए तो बहुत कम दूरीतक ही शब्द जासकेगा। शब्द अमूर्तीक आकाशका गुण कभी नहीं हो सक्ता, क्योंकि अमूर्तीकके गुण अमूर्तीक तथा मूर्तीकके गुण मूर्तीक होते हैं। यदि शब्द अमूर्तीक होता तो कानोंसे नहीं सुन पड़ता, न यह किसीसे रुक

सक्ता। यदि हम अपने हाथोंको मुंहके ऊपर लगाकर बोलें तब हम देखेंगे कि शब्द रुककर निकल रहा है। श्लोकवार्तिकमें शब्द मूर्तिक हैं इसकी चर्चा भले प्रकारकी हैं। जैसे कहा है—

प्रोक्ता शब्दादिमंतस्तु पुद्गलाः स्कंधभेदतः।
तथा प्रमाणसद्भावादन्यथा तदभावतः॥

भावार्थ—स्कन्धरूपसे परिणमन करनेवाले पुद्गल ही शब्दादिरूप होने हैं यही बात प्रमाणसिद्ध है। यदि स्कन्ध न हों तो सुन न पड़ें। इसप्रकार शब्द पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है। इस बातकी स्थापनाकी मुख्यताने तीसरी गाथा कही।

उत्थानिका—आगे स्थापित करते हैं कि परमाणु एक प्रदेशी होता है—

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता।
खंधाणं वि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाणं॥ ८७॥
नित्यो नानवकाशो न सावकाशः प्रदेशतो भेत्ता।
स्कंधानामपि च कर्त्ता प्रविभक्ता कालसंख्यायाः॥ ८७॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—यह परमाणु (णिच्चो) नित्य है (पदेसदो) क्योंकि एक प्रदेशपना इसका कभी मिटता नहीं है। (णाणवकासो) किसीको अवकाश न दे ऐसा नहीं है (ण सावकासो) अवकाश नहीं भी देनेवाला है क्योंकि एक प्रदेशमात्र है। (खंधाणं वि य कत्ता भेत्ता) स्कन्धोंका कर्ता तथा उनका भेदनेवाला है। व (कालसंखाणं) कालकी समय आदि संख्याका (पविहत्ता) विभाग करनेवाला है।

विशेषार्थ—जैसे यह जीव अपने प्रदेशोंमें प्राप्त रागादि विक-

स्वरूप स्नेहके त्यागभावसे परिणमन करता हुआ कर्मस्कंधोंका भेदने-वाला या नाश करनेवाला होजाता है तैसे यह परमाणु एक प्रदेशमें बंध योग्य चिकनेपनेके चले जानेसे परिणमन करता हुआ स्कंधोंसे अलग होता हुआ स्कंधोंका भेदनेवाला होता है। तथा जैसे वही जीव स्नेहरहित परमात्मतत्त्वसे विपरीत अपने प्रदेशोंमें प्राप्त मिथ्यात्व रागादि रूप चिकने भावोंसे परिणमन करता हुआ नवीन ज्ञानावरणादि कर्मस्कंधोंका कर्ता होजाता है तैसे ही यह परमाणु अपने एक प्रदेशमें प्राप्त बंधयोग्य स्निग्धगुणसे परिणमन करता हुआ द्विअणुक आदि स्कन्धोंका कर्ता होता है। यहां स्कन्धोंसे अलग होनेवाला है वह कार्य परमाणु कहा जाता है। तथा जो स्कन्धोंको करता है यह कारण परमाणु है। इस तरह कार्य कारणके भेदसे परमाणु दो तरहका है। जैसा कहा है।

"स्कंधभेदाद् भवेदाद्यः स्कंधानां जनकोऽपरः"।

अर्थात् पहला कार्य परमाणु स्कन्धोंके भेदसे व दूसरा कारण परमाणु स्कन्धोंके उत्पन्न करनेसे कहलाता है। यह परमाणु एक प्रदेशी होनेसे बहुत प्रदेशरूप स्कन्धोंसे भिन्न है। स्कन्ध इसीलिये कहलाता है कि उसमें बहुत परमाणु होनेसे वह बहु प्रदेशी होता है सो वह एकप्रदेशी परमाणुसे भिन्न होता है। जैसे एक प्रदेशमें रहे हुए केवलज्ञानके अंशसे ही केवली भगवान एक समयरूप व्यवहार कालको तथा उसकी अनंत संख्याओंके ज्ञाता हैं तैसे ही एक परमाणु भी एकप्रदेशी होकर मंद गतिसे एक कालाणुसे पासवाले दूसरे कालाणुको उल्लंघन करता हुआ समयरूप सूक्ष्म व्यवहारकालका और उसकी संख्याका भेद करनेवाला होता

है। संख्या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपसे चार प्रकारकी होती है सो जघन्य और उत्कृष्टके भेदसे दो दो प्रकार है। एक परमाणुरूप जघन्य द्रव्यसंख्या है। अनन्त परमाणुके पुंजरूप उत्कृष्ट द्रव्यसंख्या हैं। एक प्रदेशरूप जघन्य क्षेत्र संख्या है। अनंत प्रदेशरूप उत्कृष्ट क्षेत्रसंख्या है। एक समयरूप जघन्य व्यवहार काल संख्या है। अनंत समय रूप उत्कृष्ट व्यवहारकाल संख्या है। परमाणु द्रव्यमें वर्णादि गुणोंकी जो जघन्य शक्ति सो जघन्य भाव संख्या है उस ही परमाणु द्रव्यमें सबसे उत्कृष्ट जो वर्णादिकी शक्ति है सो उत्कृष्ट भाव संख्या है। इसतरह जघन्य व उत्कृष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी संख्या जानना योग्य है।

भावार्थ—गाथाका भाव यह है कि परमाणु अविनाशी है, उससे छोटा कोई भाग नहीं होता है, यह एक प्रदेशमात्र क्षेत्र रखता है तौभी उसमें उसके वर्ण गंध रस स्पर्शादि गुण प्राप्त होते हैं इसलिये वह अवकाश सहित है। अथवा दूसरा अर्थ सावकाशका यह भी होसक्ता है कि जहां एक परमाणु जिस प्रदेशमें तिष्ठता हो वहां अनंत और सूक्ष्म परमाणु व सूक्ष्मस्कंध अवकाश पासक्ते हैं इसलिये वह अवकाश सहित है। एक प्रदेशसे अधिक नहीं रोकता है इससे परमाणु अवकाश रहित है अथवा उसके और भेद नहीं हो सक्ते इससे भी अवकाश रहित है। इन परमाणुमें जब बंध योग्य स्निग्धता या रूक्षता होती है तब तो ये परस्पर मिलकर स्कंध बनजाते हैं और जब मिले हुए स्कन्धमें कोई परमाणु बंध योग्य न रहनेवाली स्निग्धता या रूक्षताको प्राप्त करलेता है तब स्कंधसे छूट जाता है इसलिये यह परमाणु स्कन्धोंका भेद करने-

वाला भी है और उनका बनानेवाला भी है। तथा परमाणुके मंद गमनसे ही अर्थात् मंद हलन चलनसे ही कालाणु द्रव्यके व्यवहारकाल नामके समयपर्याय उत्पन्न होती हैं। समयकी संख्याका नियम करनेवाला परमाणु ही है।

श्री नियमसारमें स्वामीने परमाणुका स्वरूप बताया है–

अत्तादिअत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं ।
अविभागो जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ॥ २६ ॥

भावार्थ–जिसका आदि, मध्य, अंत वही स्वयं है तथा जो इंद्रियोंसे ग्रहणकरने योग्य नहीं है व जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सक्ता है उसको ही परमाणु जानो। तात्पर्य यह है कि आत्मा परमाणुके स्वभावसे विलक्षण है तथा वही ग्रहण करने योग्य है। इस तरह परमाणु द्रव्यके एक प्रदेशको आधार करके समय आदि व्यवहार कालके कथनकी मुख्यतासे व एक आदि संख्याको कहते हुए दूसरे स्थलमें चार गाथाएं कहीं।

उत्थानिका–आगे परमाणु द्रव्यमें गुणपर्यायका स्वरूप कहते हैं–

एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं ।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणेहि ॥ ८८ ॥
एकरसवर्णगंधं द्विस्पर्शं शब्दकारणमशब्दं ।
स्कंधांतरितं द्रव्यं परमाणुं तं विजानीहि ॥ ८८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः–( एयरसवण्णगंधं दो फासं ) जिसमें एक कोई रस एक कोई वर्ण एक कोई गंध व दो स्पर्श हों (सद्दकारणं) जो शब्दका कारण हो (असद्दं) स्वयं शब्द रहित हो (खंधतरिदं) जो स्कंधसे जुदा हो (तं दव्वं) उस द्रव्यको (परमाणुं) परमाणु ( वियाणेहि ) जानो।

विशेषार्थ-परमाणुमें तीखा, चरपरा, कसायला, खट्टा, मीठा, इन पांच रसोंमेंसे एक रस एक कालमें रहता है। शुक्ल, पीत, रक्त, काला, नीला इन पांच वर्णोंमेंसे एक वर्ण एक कालमें रहता है। सुगंध, दुर्गंध दो प्रकार गंध पर्यायोंमेंसे एक कोई गंध एक कालमें रहती है। शीत व उष्ण स्पर्शोंमें एक कोई स्पर्श तथा स्निग्ध रूक्ष स्पर्शोंमें एक कोई स्पर्श ऐसे दो स्पर्श एक कालमें रहते हैं। जैसे यह आत्मा व्यवहारनयसे अपने तालु ओठ आदिके व्यापारसे शब्दका कारण होता हुआ भी निश्चयनयसे अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय होनेसे शुद्धज्ञानका विषय है, शब्दका विषय नहीं है और न वह स्वयं शब्दादि पुद्गल पर्यायरूप होता है इस कारणसे शब्दरहित है; तैसे परमाणु भी शब्दका कारण-रूप होकर भी एकप्रदेशी होनेसे शब्दकी प्रगटता नहीं करनेसे अशब्द है व जो ऊपर कहे हुए वर्णादि गुण व शब्द आदि पर्याय सहित स्कन्ध है उससे भिन्न द्रव्यरूप परमाणु है उसे परमात्माके समान जानो। जैसे परमात्मा व्यवहारसे द्रव्य कर्म और भावकर्मके भीतर रहता हुआ भी निश्चयसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव-रूप ही है तैसे परमाणु भी व्यवहारसे स्कंधोंके भीतर रहता हुआ भी निश्चयसे स्कंधसे बाहर शुद्ध द्रव्यरूप ही है। अथवा स्कंधांतरि-तका अर्थ है कि स्कंधसे पहलेसे ही भिन्न है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं-परमाणु और स्कंध। परमाणुमें हरसमय पांचगुण पाए जाते हैं-एक कोई वर्ण, एक कोई गंध, एक कोई रस और दो स्पर्श। जब कि स्कंधमें हरएक समय सात गुण पाए जाते हैं-दो स्पर्श बढ़ जाते हैं अर्थात् कोमल

और कठोर तथा हलका और भारीमेंसे एक एक और परमाणुओंसे ही मिलकर भाषा वर्गणाएं बनती हैं। इससे परमाणु शब्दका कारण है, परन्तु स्वयं शब्द रहित है क्योंकि शब्द परमाणुका गुण नहीं है।      श्री नियमसारजीमें कहा है—

**वण्णरसगंधफासा सा फासं तं हवे सहावगुणं।**
**विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं॥ २७॥**

अर्थात्—परमाणुमें स्वभाव गुणरूप पांच गुण पाए जाते हैं। परमाणुओंसे बन कर जो स्कन्ध होते हैं वे विभाव पर्यायरूप हैं उनके गुण भी विभाव गुण हैं ऐसा सर्व प्रगट स्वरूप जिन आगममें कहा है। अभिप्राय यह है कि कार्मणशरीरको भी परमाणुओंसे रचित जानकर इससे भिन्न निज आत्माका अनुभव करना कार्यकारी है।

इसतरह परमाणु द्रव्य है और उसके वर्णादि गुणस्वरूपना व उससे शब्दादि पर्याय होती हैं। इत्यादि कहते हुए पांचमी गाथा पूर्ण हुई। ऐसे परमाणु द्रव्यकी अपेक्षा दूसरे स्थलमें पांच गाथाएं कहीं।

उत्थानिका—आगे सर्व पुद्गलके भेदोंका संकोच करते हुए कहते हैं—

उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पोग्गलं जाणे॥ ८९॥

उपभोग्यमिन्द्रियैश्चेन्द्रियः काया मनश्च कर्माणि।
यद् भवति मूर्त्तमन्यत् तत्सर्वं पुद्गलं जानीयात्॥ ८९॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-( इंदिएहिं उवभोज्ज ) इंद्रियोंसे भोगने योग्य पदार्थ (य) और (इंदिय) पांच इन्द्रियें (काया) पांच प्रकारके शरीर (मणो य) और मन तथा (कम्माणि) आठ कर्म

( जं अण्णं मुत्तं हवदि ) इत्यादि जो कुछ दूसरा मूर्तीक पदार्थ है (तं सव्वं) उस सर्वको (पोग्गलं) पुद्गल द्रव्य (जाणे) जानो।

विशेषार्थ—जिनको वीतराग अतीन्द्रिय सुखका स्वाद नहीं आता है उन जीवोंके भोगनेयोग्य जो पांचों इन्द्रियोंके पदार्थ हैं, अतीन्द्रिय आत्मस्वरूपसे विपरीत जो पांच इन्द्रिये हैं, अशरीर आत्मपदार्थके प्रतिपक्षी जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण शरीर ऐसे पांच शरीर हैं, मन सम्बन्धी विकल्पजालोंसे रहित शुद्ध जीवास्तिकायसे भिन्न जो मन है, कर्मरहित आत्मद्रव्यसे प्रतिकूल जो ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं तथा अमूर्तीक आत्मस्वभावसे विरोधी और जो कुछ दूसरे मूर्तीक द्रव्य हैं जैसे संख्यात, असंख्यात व अनंत पुद्गल परमाणुओंके स्कन्ध हैं उन सर्वको पुद्गल जानो।

भावार्थ—पांचों इंद्रियां मूर्तीक पदार्थोंका ही भोग कर सक्ती हैं वे सब पदार्थ पुद्गलसे रचित हैं। पांचों इंद्रियोंके सत्ताईस विषय पौद्गलिक हैं। स्पर्श सगंधवर्ण रूप वीस विषय चार इंद्रियोंके और कर्णके सात स्वर ये सब मूर्तीक हैं। पांचों इंद्रियां भी नामकर्मके उदयसे रचित स्वयं पुद्गलमई हैं। तथा इन पांच इंद्रियोंसे काम करनेवाली लब्धि और उपयोगस्वरूप भावइंद्रिय हैं सो भी ज्ञानावरणादि कर्मके क्षयोपशमसे काम करती हैं इसीलिये पौद्गलिक हैं, आत्माके शुद्ध ज्ञानदर्शन उपभोगसे भिन्न हैं, औदारिकादि पांच शरीर प्रगट पुद्गल वर्गणाओंके बने हुए हैं। द्रव्यमन हृदयस्थानमें आठ पत्रके कमलके आकार मनोवर्गणासे रचित पुद्गल है तथा उसकेद्वारा काम करनेवाला लब्धि और

उपयोगस्वरूप भावमन है सो भी ज्ञानावरणादिके क्षयोपशमसे काम करता है इससे पुद्गलमय है। आत्माके स्वभावमें संकल्प विकल्परूप भावमन नहीं है। जैसे आठ कर्म पुद्गलमई हैं तैसे इन कर्मोंके उदयसे जो रागादिरूप अशुद्ध भाव जीवके होते हैं वे भी पुद्गलमई हैं, क्योंकि उन भावोंमें जितनी कलुपता है वह सब मोहनीय कर्मके उदयका अनुभाग है, इत्यादि और जो कुछ भी स्थूल व सूक्ष्मस्कंध जगतमें हैं वे सब पुद्गलसे रचे हुए जानना चाहिये। पुद्गलके ही द्वारा जीव चतुर्गतिमें भ्रमता है। पुद्गलकी संगतिसे ही जीवमें योग और उपयोग काम करते हैं। जहांतक पुद्गलका सम्बन्ध है वहींतक जीवके संसार है। पुद्गल रहित जीव मुक्त शुद्ध परमात्मा कहलाते हैं, उनमें कोई विभाव क्रिया नहीं होती है, वे निरंतर अपने स्वभावमें मग्न रहते हैं।

जीवोंमें जितनी कुछ सांसारिक अवस्थाएं हैं वे सब उनके साथ लगे हुए आठ कर्ममई कार्मण शरीरका फल है जैसा कि स्वामीने समयसारमें स्वयं कहा है—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खंति विपच्चमाणस्स ॥ ५० ॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५६ ॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ६० ॥

भावार्थ—जिनेन्द्रोंने आठ प्रकारके सर्व कर्मको पुद्गलमई कहा है इसलिये उनका फल जो उदयमें आता है वह सब दुःखादि पुद्गलमई जानना चाहिये।

निश्चयनयसे न जीवके राग है, न द्वेष है, न कोई मोह है, न कोई आश्रव हैं, न कर्म हैं और न शरीरादि नोकर्म हैं, न एकेंद्रियादि जीव समास हैं, न मिथ्यात्व आदि गुणस्थान हैं क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्यकी अवस्थाएं हैं। वास्तवमें मैं एक शुद्ध चैतन्य आनन्दमय हूं इसके सिवाय जो कुछ विकार हैं वे सब पुद्गलके हैं। इसतरह पुद्गलास्तिकायका संकोच करते हुए तीसरे स्थलमें गाथा एक कही। ऐसे पंचास्तिकाय छःद्रव्यके प्रतिपादक पहले महाअधिकारमें दश गाथाओंतक पुद्गलास्तिकाय नामका पञ्चम अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

उत्थानिका—अथानन्तर अनन्त केवलज्ञानादि रूपउपादेयभूत शुद्ध जीवास्तिकायसे भिन्न त्यागने योग्य धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके अधिकारमें सात गाथाओंतक कथन है। इन सात गाथाओंके मध्यमें धर्मास्तिकायके कथनकी मुख्यतासे "धम्मत्थिकायमरसं" इत्यादि पाठक्रमसे गाथाएं तीन हैं। फिर अधर्मास्तिकायके स्वरूपके निरूपणकी मुख्यतासे "जह हवदि" इत्यादि गाथा सूत्र एक है। फिर धर्म अधर्म दोनोंके समर्थनकी मुख्यतासे उनका अस्तित्व न माननेसे जो दोष होंगे "उनके" कहनेकी मुख्यतासे "जादो अलोग" इत्यादि पाठक्रमसे गाथाएं "तीन हैं। इस तरह सात गाथाओंसे तीन स्थलोंके द्वारा धर्म अधर्मास्तिकायके व्याख्यानमें समुदायपातनिका है। पहले धर्मास्तिकायके स्वरूपको कहते हैं—

**धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।**
**लोगागाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं॥ ९० ॥**

**धर्मास्तिकायोऽरसोऽवर्णगंधोऽशब्दोऽस्पर्शः।**
**लोकावगाढः स्पष्टः पृथुलोऽसंख्यातप्रदेशः॥ ९० ॥**

अन्वयसहित सामान्यार्थः-( धम्मत्थिकायम् ) धर्मास्तिकाय (अरसं) पांचरससे रहित है (अवण्णगंधं) पांचवर्ण और दो गंधसे रहित है ( असद्दम् ) शब्द रहित है (अप्फासं) आठ स्पर्श रहित है (लोगागाढं) लोकाकाशमें व्यापक है (पुट्ठं) सब प्रकार स्पर्श किये हुए हैं, प्रदेश खंडित नहीं है (पिहुलं) फैला हुआ है व (असंखादियपदेसं) असंख्यात प्रदेशोंको रखनेवाला है।

विशेषार्थ-यह धर्मास्तिकाय अमूर्तीक द्रव्य है । जैसे निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानमें परिणमन करते हुए जीवके प्रदेशोंमें परमानंदमई एक सुखरसका आस्वादमई समतारस सर्व जगह स्पर्श करता है व जैसे सिद्धक्षेत्रमें सिद्धराशि सर्व क्षेत्रमें स्पर्श किये हुए है व जैसे पूर्ण घटमें जल भरा होता है या जैसे तिलोंमें तैल होता है इसतरह यह धर्मास्तिकाय परस्पर अंतररहित स्पर्शरूप है। जैसे किसी निर्जनवनमें आत्माकी भावना करनेवाले मुनिसमूह बैठे हों व जैसे किसी नगरमें मनुष्योंका समूह तिष्ठा है इसतरह धर्मास्तिकाय अन्तरसहित नहीं है। तथा जैसे अभव्य जीवके प्रदेशोंमें मिथ्यात्व रागादिभाव सदासे फैला हुआ है अथवा लोकमें आकाश फैला हुआ है इसी तरह यह धर्मास्तिकाय अनादिसे अनन्त कालतक अपने स्वभावसे ही लोकभरमें फैला हुआ है। जैसे जीवके प्रदेश केवलिसमुद्घातमें लोकव्यापी कभी होते हैं व वस्त्रादिके प्रदेश जो कभी फैलते सकुड़ते रहते हैं। इस तरह अभी ही फैला नहीं है किन्तु अनादिसे अनन्त कालतक लोकव्यापी स्वभावको रखनेवाला है। यद्यपि निश्चयसे अखंड प्रदेशोंको एक समूहरूपसे रखनेवाला है तथापि सद्भूतव्यवहारनयसे लोकाकाश

प्रमाण असंख्यात प्रदेशोंका धारी है यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ- यहां यह बताया है कि यह धर्मास्तिकाय एक अखंड लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी द्रव्य लोकाकाशमें सदा व्याप्त होता हुआ ही अपना अस्तित्व रखता है। लोकाकाशसे न कभी छोटा होता है न बड़ा होता है तथा आकाश या जीवकी तरह यह भी अमूर्तीक है। इसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं है। धर्म अधर्मके सम्बन्धमें श्लोकवार्तिकमें कहा है–

एकद्रव्यमयं धर्मः स्यादधर्मश्च तत्त्वतः।
महत्त्वे सत्यमूर्तत्वात्खवत्तत्सिद्धिवादिनाम् ॥

भावार्थ–निश्चयसे धर्म और अधर्म एक एक द्रव्य हैं, लोकाकाश प्रमाण व्यापक हैं और अमूर्तीक हैं। जैसे आकाश एक और अमूर्तीक है तैसे यह एक और अमूर्तीक है। यह भी अजीव है इससे मेरे आत्मस्वभावसे भिन्न है ऐसा अनुभव करना योग्य है।

उत्थानिका–आगे धर्मद्रव्यका ही शेष स्वरूप कहते हैं–

अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥ ९१ ॥
अगुरुलघुकैः सदा तैः अनंतैः परिणतः नित्यः।
गतिक्रियायुक्तानां कारणभूतः स्वयमकार्यः ॥ ९१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–यह धर्मद्रव्य (तेहि) उन (अणंतेहिं) अनंत (अगुरुलघुगेहि) अगुरुलघु गुणोंके द्वारा (सया) सदा (परिणदं) परिणमन करनेवाला है (णिच्चं) अविनाशी है, (गदिकिरियाजुत्ताणं) गमनक्रिया संयुक्त जीव पुद्गलोंके लिये (कारणभूदं) निमित्तकारण है (सयम्) स्वयम् (अकज्जं) किसीका कार्य्य नहीं है।

विशेषार्थ–वस्तुके स्वभावकी प्रतिष्ठाके कारण अगुरुलघु गुण होते हैं ये हरसमय षट्स्थान पतित वृद्धि हानिरूप होनेवाले अनंत अविभाग परिच्छेदोंसे परिणमन करते हुए रहते हैं इन हीके द्वारा पर्यायार्थिक नयसे यह धर्मद्रव्य उत्पाद व्यय सहित है तो भी द्रव्यार्थिक नयसे नित्य है। जैसे सिद्ध भगवान उदासीन हैं तो भी जो भव्य जीव उन सिद्धोंके गुणोंमें प्रीति करते हैं उनके लिये वे सिद्ध भगवान सिद्ध–गतिकी प्राप्तिमें सहकारी कारण हैं तैसे ही यह धर्म द्रव्य भी गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंकी तरफ उदासीन है तो भी उनकी गतिके लिये सहकारी कारण है। जैसे सिद्ध भगवान अपनी ही शुद्ध सत्तासे रचित हैं, उनको किसीने बनाया नहीं है इसलिये वे अकार्य हैं वैसे ही यह धर्म द्रव्य भी अपने ही अस्तित्वसे रचित है इसलिये किसीका किया हुआ नहीं है, अकार्य है, यह अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें धर्मास्तिकायको अनादि अनन्त एक स्वतंत्र अकृत्रिम द्रव्य सिद्ध किया गया है। द्रव्य वही है जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सदासे हुआ करे। यह धर्मद्रव्य किसीका रचा नहीं है इसलिये यह अकृत्रिम तथा अविनाशी है। इसमें हरसमय पर्यायोंका उत्पाद व्यय अगुरुलघु गुणोंके द्वारा हुआ करता है। द्रव्योंमें स्वभाव परिणमन इनहीके द्वारा हुआ करता है, जो गुण द्रव्यको और गुणोंको अपनी मर्यादामें प्रतिष्टित रक्खें उनको कम या अधिक न होने दें, उन्हें अगुरुलघुगुण कहते हैं। अर्थात् जितने सामान्य या विशेष गुणोंका समुदाय द्रव्य होता है उतने ही सर्वगुण द्रव्यमें सदा स्थिर रहें इसकी मर्यादाको रखनेवाला अगुरु-

लघु गुण है। इसमें जो परिणमन समय समय होता है उसीसे ही स्वभाव परिणमन द्रव्योंका समझा जाता है। वृत्तिकारने वताया है कि प्रति समय षड्गुणी वृद्धि हानि इन गुणोंके अंशोंमें हुआ करती है। जिसका दूसरा भाग न होसके उस गुणांशको अविभाग परिच्छेद कहते हैं। आलापपद्धति ( देवसेनाचार्य कृत ) में कहा है कि अगुरुलघु गुणके विकारोंको स्वभावपर्याय कहते हैं। वे बारह प्रकारकी हैं। छः वृद्धिरूप, छः हानिरूप। अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनंतगुण वृद्धि ये छः वृद्धियां हैं। अनंतभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि, अनंतगुण हानि ये छः हानिरूप हैं। कहा है—

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥ ६ ॥

अर्थात्—अनादि अनंत द्रव्यमें प्रतिसमय स्वभावपर्याय समुद्रमें जलकी कल्लोलोंकी तरह उठती बैठती हैं। इस दृष्टांतसे ऐसा झलकता है कि एक द्रव्यमें अनेक अगुरुलघु गुण होते हैं उनमें किसीमें वृद्धि किसीमें हानि होती है जैसे समुद्रमें कहीं पानी उठा कहीं बैठा परन्तु रहता उतनाका उतना ही है। इसका विशेष भाव नहीं समझमें आया कि किसतरह वृद्धि हानि इस गुणमें हुआ करती है? वास्तवमें इसका स्वरूप बहुत सूक्ष्म है, वचनगोचर नहीं है इसीलिये आलापपद्धतिकी टिप्पणीमें कहा है—"सूक्ष्मा अवाग्गोचरा प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रामाण्यात् अभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः" अर्थात् ये अगुरुलघु गुण सूक्ष्म हैं, वचनगोचर

नहीं हैं, प्रतिसमय वर्तते हैं तथा आगमप्रमाणसे मानने योग्य हैं। इस बारह प्रकार वृद्धि हानिका फल अंतमें वही निकल आता है।

इसका दृष्टांत यह है, यदि ६४ संख्या मानी जावे। संख्यातको २, असंख्यातको ४, अनन्तको ८ माना जावे तब वृद्धि हानि की जावे।

(१) अनन्तभाग वृद्धि=६४+$\frac{६४}{८}$=७२

(२) असंख्यातभाग वृद्धि=७२+$\frac{६४}{४}$=८८

(३) संख्यातभाग वृद्धि=८८+$\frac{६४}{२}$ =१२०

(४) संख्यातगुण वृद्धि=१२०+६४×२=२४८

(५) असंख्यातगुण वृद्धि=२४८+६४×४=५०४

(६) अनन्तगुण वृद्धि=५०४+६४+८=१०१६

(७) अनन्तभाग हानि=१०१६−$\frac{६४}{८}$=१००८

(८) असंख्यातभाग हानि=१००८−$\frac{६४}{४}$=९९२

(९) संख्यातभाग हानि=९९२−$\frac{६४}{२}$=९६०

(१०) संख्यातगुण हानि=९६०−६४×२=८३२

(११) असंख्यातगुण हानि=८३२−६४×४=५७६

(१२) अनन्तगुण हानि=५७६−६४×८=६४

ऊपरके नकशेसे विदित होगा कि वृद्धि हानि करते हुए यही ६४की संख्या आगई जो मूल संख्या थी। विशेष ज्ञानियोंको इस विषयका मनन करके निर्णय करना योग्य है कि किसतरह अगुरुलघुगुणोंका परिणमन होता है ? जीव और पुद्गलोंमें स्वयं अपनी शक्तिसे गमनक्रिया होती है, उस क्रियाके होनेमें साधारण उदासीन निमित्त कारण यह धर्मद्रव्य है। यह इतना आवश्यक है कि विना

इनकी सहायताके गमन नहीं होसक्ता है। हरएक कार्य उपादान और निमित्तके बिना नहीं होता है। गमनमें उपादान कारण वे स्वयं हैं जबकि निमित्त कारण धर्मास्तिकाय है। ऐसा तत्वार्थसारमें कहा है—

क्रियापरिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम्।
आदधाति सहायत्वं स धर्मः परिगीयते ॥ ३३ ॥

भावार्थ—क्रियावान द्रव्योंके स्वयं हलन चलन क्रियाके होते हुए जो सहाय करता है वह धर्मद्रव्य कहा गया है। वास्तवमें धर्मद्रव्य भी मेरे शुद्ध आत्मीक स्वभावसे भिन्न है ऐसा अनुभव करना कार्यकारी है।

उत्थानिका—आगे धर्मद्रव्यके गतिहेतुपना होनेमें लोक-प्रसिद्ध दृष्टांत कहते हैं—

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥ ९२ ॥
उदकं यथा मत्स्यानां गमनानुग्रहकरं भवति लोके।
तथा जीवपुद्गलानां धर्मं द्रव्यं विजानीहि ॥ ९२ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(जह) जैसे (उदयं) जल (लोए) इस लोकमें (मच्छाणं) मछलियोंके लिये (गमणाणुग्गहयरं) गमनमें उपकारक है (तह) तैसे (धम्मं दव्वं) धर्म द्रव्यको (जीव पुग्गलाणं) जीव और पुद्गलोंके गमनमें उपकारक (वियाणेहि) जानो।

विशेषार्थ—जैसे जल स्वयं न चलता हुआ न मछलियोंको चलनेकी प्रेरणा करता हुआ उन मछलियोंके स्वयं चलते हुए उनके गमनमें सहकारी कारण होजाता है वैसे यह धर्म द्रव्य भी स्वयं नहीं चलता हुआ न दूसरोंको चलनेकी प्रेरणा करता हुआ स्वयमेव गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंकी गमन क्रियामें सहकारी कारण

होजाता है। अथवा जैसे भव्य जीवोंको सिद्ध अवस्थाकी प्राप्तिमें पुण्य सहकारी कारण है। वह इस तरह पर है कि यद्यपि रागादिसे रहित व शुद्धात्मानुभव सहित निश्चयधर्म भव्य जीवोंके लिये सिद्ध गतिका उपादान कारण है तथापि निदान रहित परिणामोंसे बांधा हुआ तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति व उत्तम संहननादि विशेप पुण्यरूप कर्म अथवा शुभ धर्म सहकारी कारण है। अथवा जैसे भव्य और अभव्य दोनोंके लिये चारों गतियोंके गमनके समयमें यद्यपि उनके भीतरका शुभ या अशुभ परिणाम उपादान कारण है तोभी द्रव्यलिंग आदि धारण व दान पूजादि करना या और बाहरी शुभ अनुष्ठान करना बाहरी सहकारी कारण हैं। तैसे ही जीव और पुद्गलोंके गमनमें यद्यपि उनमें निश्चयसे स्वयं भीतरी शक्ति मौजूद है तो भी व्यवहारसे धर्मास्तिकाय उनके गमनमें सहकारी कारण है ऐसा तात्पर्य है।

भावार्थ—यहां बतलाया है कि धर्म द्रव्य इतना जरूरी है कि यदि इसकी सत्ताको न स्वीकार किया जावे तो जीव और पुद्गलोंमें कुछ भी गमनक्रिया नहीं हो सक्ती है। जैसे मछली विना जलके कुछ भी हरकत नहीं कर सक्ती है तैसे जीव व पुद्गल विना धर्म-द्रव्यके कुछ भी हरकत नहीं कर सक्ते हैं। तत्त्वार्थसारमें कहा है—

**जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये गत्युपग्रहे।**
**जलवन्मत्स्यगमने धर्मः साधारणाश्रयः॥ ३४॥**

भावार्थ—मछलीके गमनमें जलकी तरह यह धर्मद्रव्य जीवोंके और पुद्गलोंके गमनके कार्यमें साधारण आश्रय देनेवाला है।

इसतरह प्रथम स्थलमें धर्मास्तिकायके व्याख्यानकी मुख्य-तासे तीन गाथाएं कहीं।

उत्थानिका—आगे अधर्मास्तिकायको कहते हैं—

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥ ९३ ॥

यथा भवति धर्मद्रव्यं तथा तज्जानीहि द्रव्यमधर्माख्यम्।
स्थितिक्रियायुक्तानां कारणभूतं तु पृथिवीव ॥ ९३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(तु) तथा (जह) जैसे (धम्मदव्वं) धर्मद्रव्य (हवदि) है (तह) तैसे (तं) उस (अधमक्खं) अधर्म नामके (दव्वं) द्रव्यको (जाणेह) जानो जो (पुढवीव) पृथ्वीके समान (ठिदिकिरियाजुत्ताणं) स्थिति क्रिया करते हुए जीव पुद्गलोंको (कारणभूदं) निमित्त कारण है।

विशेषार्थ—जैसे पहिले धर्मद्रव्यके सम्बन्धमें कहा था कि वह रस आदिसे रहित अमूर्तीक है, नित्य है, अकृत्रिम है, परिणमनशील है व लोकव्यापी है तैसे ही अधर्म द्रव्यको जानना चाहिये। विशेष यह है कि धर्मद्रव्य तो मछलियोंके लिये जलकी तरह जीव पुद्गलोंके गमनमें बाहरी सहकारी कारण है यह अधर्म द्रव्य जैसे पृथिवी स्वयं पहलेसे ठहरी हुई दूसरोंको न ठहराती हुई घोड़े आदिकोंके ठहरनेमें बाहरी सहकारी कारण है वैसे स्वयं पहलेसे ही ठहरा हुआ व जीव पुद्गलोंको न ठहराता हुआ उनके स्वयं ठहरते हुए उनके ठहरनेमें सहकारी कारण है। अथवा जैसे छाया पथिकोंके ठहरनेमें कारण होती है अथवा जैसे शुद्ध आत्म स्वरूपमें जो ठहरना है उसका कारण निश्चयनयसे वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान है तथा व्यवहार नयसे उसका कारण अर्हंत, सिद्ध आदि पांच परमे-

ष्टियोंके गुणोंका स्मरण है तैसे जीव पुद्गलोंके ठहरनेमें निश्चयनयसे उनका ही स्वभाव उनकी स्थितिके लिये उपादान कारण है, व्यवहार नयसे अधर्म द्रव्य है, यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ–धर्म द्रव्यके समान ही अधर्म द्रव्य है, मात्र उनके कार्य परस्पर विरोधी हैं। धर्म द्रव्य जब उदासीनपनेसे विना प्रेरणाके गमनमें सहकारी है तब अधर्मद्रव्य विना प्रेरणाके स्थितिमें सहकारी है। हरएक कार्यके लिये उपादान और निमित्त दो कारणोंकी आवश्यक्ता पड़ती है। इसलिये जीव पुद्गलोंकी स्थितिमें उपादान कारण तो वे स्वयं हैं, निमित्त कारण सर्वसाधारणके लिये कोई द्रव्य चाहिये वह यह अधर्म द्रव्य है। यह इतना आवश्यक है कि विना इसकी सहायताके कभी कोई द्रव्य चलते चलते ठहर नहीं सक्ता है और न जम सक्ता है। जैसा कहा है–तत्वार्थसारमें–

जीवानां पुद्गलानां च कर्त्तव्ये स्थित्युपग्रहे।
साधारणाश्रयोऽधर्मः पृथिवीव गवां स्थितौ ॥ ३६ ॥

भावार्थ–जैसे गायोंके स्थिर होनेमें पृथ्वी साधारण आश्रय है वैसे जीव और पुद्गलोंके ठहरनेके काममें साधारण आश्रय देनेवाला अधर्मद्रव्य है। इसतरह अधर्मद्रव्यका व्याख्यान करते हुए दूसरे स्थलमें गाथासूत्र गा. समाप्त हुआ।

उत्थानिका–आगे धर्म और अधर्मद्रव्यकी सत्ताके सिद्ध करनेके लिये हेतु दिखाते हैं–

जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥ ९४ ॥

जातमलोकलोकं ययोः सद्भावतश्च गमनस्थिती।
द्वावपि च मतौ विभक्तावविभक्तौ लोकमात्रौ च॥ ६४॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जेसिं) जिन धर्म अधर्म द्रव्योंकी (सब्भावदो) सत्ता होनेसे (अलोगलोगो) अलोक और लोक (जादो) हुए हैं (य) और (गमणठिदी) जीव पुद्गलोंकी गमन और स्थिति होती है (दो वि य) ये दोनों ही धर्म अधर्म (विभत्ता) परस्पर भिन्न व (अविभत्ता) एक जगह रहनेसे अभिन्न (य लोयमेत्ता) और लोकाकाश प्रमाण (मदौ) माने गए हैं।

विशेषार्थ-वृत्तिकारने "अमया" पाठ लेकर यह अर्थ किया है कि ये दोनों ही किसीके किये नहीं हैं अकृत्रिम हैं। जो छः द्रव्योंका समूह है उसे लोक कहते हैं, उससे बाहर जो शुद्ध आकाश मात्र है उसको अलोक कहते हैं। इस लोक और अलोककी सत्ता है इसीसे धर्म और अधर्मकी सत्ता सिद्ध है। यदि इस लोकमें जीव और पुद्गलोंके चलनेमें और चलते २ ठहर जानेमें बाहरी निमित्तकारण धर्म और अधर्म द्रव्य न होवें तो लोकके बाहरीभागमें गमनको कौन निषेध कर सक्ता है? कोई भी रोकनेवाला न हो तब लोक और अलोकका विभाग ही न रहे, परन्तु जब लोक और अलोक हैं तब यह जाना जाता है कि अवश्य धर्म और अधर्मद्रव्य हैं। इन दोनोंकी सत्ता भिन्न२ है, ये निश्चयसे जुदे जुदे हैं। दोनों एक क्षेत्रमें अवगाह पारहे हैं इससे असद्भूत व्यवहारनयसे जैसे सिद्धराशि एक क्षेत्रमें रहनेसे अभिन्न है वैसे ये अभिन्न हैं। ये दोनों सदा ही क्रियारहित हैं तथा लोकव्यापी होनेसे लोकमात्र हैं यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ–धर्म और अधर्म लोकाकाशव्यापी एक क्षेत्रमें रहनेसे एकरूप व स्वभाव भिन्न२ रखनेसे भिन्नरूप अवश्य अपनी सत्ता रखते हैं। यदि धर्मद्रव्यको न मानें और यह मानलें कि आकाशकी सहायतासे ही गमन होता है तब जो पुद्गलके परमाणु गमनशील हैं व जो सिद्धात्मा गमनशील हैं वे अनन्त अलोकमें चले जांयगे। एक मर्यादामें लोक न रहेगा तब लोक और अलोकका विभाग मिट जायगा इसलिये धर्मद्रव्यकी सत्ता सिद्ध है। जब चलनेमें सहकारी धर्मद्रव्य है तब जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें भी सहकारी किसी निमित्तकारणको मानना पड़ेगा। इसलिये अधर्मद्रव्यकी जरूरत है। आकाशका काम मात्र अवकाश देना है वह जैसे गमनमें सहकारी नहीं है वैसे स्थितिमें भी सहकारी नहीं है। इसतरह इन धर्म और अधर्मद्रव्योंकी सत्ता समझनी चाहिये। श्लोकवार्तिकमें कहा है–

सकृत्सर्वपदार्थानां गच्छतां गत्युपग्रहः।
धर्मस्य चोपकारः स्यात्तिष्ठतां स्थित्युपग्रहः॥ १॥
तथैव स्यादधर्मस्यानुमेयाविति तौ ततः।
तादृक्कार्यविशेषस्य कारणाव्यभिचारतः॥ २॥

भावार्थ–एक समयमें सर्व जीव पुद्गल पदार्थोंके गमन होनेमें धर्म द्रव्यका आश्रय है वैसे ही एक समयमें सर्व जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें साधारण आश्रय अधर्म द्रव्य है। इसतरह अनुमानसे ये दोनों सिद्ध हैं। जब कार्य विशेष होते हैं तब उनके कारण विशेष होने ही चाहिये इसमें कोई दोष नहीं है। इसलिये जब गमनमें निमित्त धर्म द्रव्य है तब स्थितिमें निमित्त अधर्म द्रव्य है।

उत्थानिका–आगे यह निश्चय करते हैं कि धर्म और अधर्म

गति और स्थितिके कारण होते हैं तथापि उन क्रियाओं प्रति स्वयं अत्यंत उदासीन हैं, प्रेरक नहीं हैं।

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गती स प्पसरो जीवाणं पोग्गलाणं च॥ ९५॥
न च गच्छति धर्मास्तिको गमनं न करोत्यन्यद्रव्यस्य।
भवति गतेः स प्रसरो जीवानां पुद्गलानां च॥ ९५॥

अन्वयसहित विशेषार्थः—(धम्मत्थी) धर्मास्तिकाय (ण य गच्छदि) न तो स्वयं गमन करता है (ण अण्णदवियस्स गमणं करेदि) न दूसरे द्रव्योंको गमन कराता है तौभी (स) वह (जीवाणं पोग्गलाणं च) जीवोंकी और पुद्गलोंकी (गती) गतिमें (प्पसरो) प्रवर्तक या निमित्त होता है।

विशेषार्थ—जैसे घोड़ा स्वयं चलता हुआ अपने ऊपर चढ़े हुए सवारके गमनका कारण होता है ऐसा धर्मास्तिकाय नहीं है, क्योंकि वह क्रियारहित है, किन्तु जैसे जल स्वयं ठहरा हुआ है तो भी स्वयं अपनी इच्छासे चलती हुई मछलियोंके गमनमें उदासीनपनेसे निमित्त हो जाता है, वैसे धर्म द्रव्य भी स्वयं ठहरा हुआ अपने ही उपादान कारणसे चलते हुए जीव और पुद्गलोंको विना प्रेरणा किये हुए उनके गमनमें वाहरी निमित्त होजाता है। यद्यपि धर्मास्तिकाय उदासीन है तौभी जीव पुद्गलोंकी गतिमें हेतु होता है। जैसे जल उदासीन है तौभी वह मछलियोंके अपने ही उपादान बलसे गमनमें सहकारी होता है। इसी तरह अधर्मास्तिकाय भी जैसे स्वयं ठहरते हुए घोड़ोंको पृथ्वी व पथिकोंकी छाया सहायक है वैसे जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें वाहरी कारण होता है ऐसा भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देवका अभिप्राय है।

भावार्थ-धर्म द्रव्य व अधर्म द्रव्य दोनों हलन चलन क्रिया रहित हैं वे जीव और पुद्गलोंको गमन करने तथा ठहरनेमें प्रेरक नहीं हैं। जब जीव पुद्गल स्वयं किन्हीं कारणोंसे चलते हैं अथवा चलते २ ठहरते हैं तब वे दोनों क्रमसे गमन या स्थितिमें सहकारी कारण होजाते हैं। जैसे पृथ्वी उदासीनपने घोड़ेके गमन व ठहरनेमें कारण है तैसे जानना।

श्लोकवार्तिकमें कहा है-

धर्मादीनां स्वशक्त्यैव गत्यादिपरिणामिनां।
यथेन्द्रियं वलाधानमात्रं विषयसन्निधौ॥ १४॥
पुंसः स्वयं समर्थस्य तस्य सिद्धेर्न चान्यथा।
तत्रैव द्रव्यसामर्थ्यान्निष्क्रियाणामपि स्वयं॥ १५॥

भावार्थ-जैसे द्रव्येन्द्रियें अपने विषयकी निकटता होनेपर केवल बलाधान मात्र सहायक हैं, मुख्य देखनेवाली पुरुषकी शक्ति है इसीतरह जो अपनी शक्तिसे गमन या स्थिति करते हैं उनके लिये धर्म अधर्म मात्र बलाधान निमित्त है, प्रेरक नहीं है-जीव व पुद्गल स्वयं अपनी शक्तिसे ही चलते या ठहरते हैं।

उत्थानिका-आगे फिर प्रगट करते हैं कि धर्म और अधर्म गति और स्थितिके करनेमें बिलकुल उदासीन हैं-

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति॥ ९६॥
विद्यते येषां गमनं स्थानं पुनस्तेषामेव संभवति।
ते स्वकपरिणामैस्तु गमनं स्थानं च कुर्वन्ति॥ ९६॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जेसिं) जिन जीव और पुद्गलोंका (गमणं) गमन (पुण) तथा (ठाणं) तिष्ठना (विज्जदि) होता

है ( तेसिमेव ) उनहीका गमन व स्थान (संभवदि) संभव है (ते) वे जीव और पुद्गल ( सगपरिणामेहिं दु ) अपनी ही गमन और स्थितिके परिणमनकी शक्तिसे (गमणं ठाणे च) गमन और तिष्टना (कुव्वंति) करते रहते हैं।

विशेषार्थ-धर्मद्रव्य कभी अपने गमनहेतुपनेको छोड़ता नहीं है तैसे ही अधर्म कभी स्थिति हेतुपनेको छोड़ता नहीं है। यदि ये ही गमन और स्थिति करानेमें मुख्य प्रेरक कारण हो जावें तो गति और स्थितिमें परस्पर ईर्षा होजावे। जिन द्रव्योंकी गति हो वे सदा ही चलते रहें और जिनकी स्थिति हो वे सदा ठहरे ही रहें उनकी कभी गति न हो, सो ऐसा नहीं दिखलाई पड़ता है, किन्तु यह देखा जाता है कि जो गमन करते हैं वे ही ठहरते हैं या जो ठहरे हुए हैं वे ही गमन करते हैं। इसीसे सिद्ध है कि ये धर्म और अधर्म मुख्य हेतु नहीं हैं। यदि ये मुख्य हेतु नहीं हैं तो जीव और पुद्गलोंकी कैसे गति और स्थिति होती है? इसलिये कहते हैं कि वे निश्चयसे अपनी ही परिणमन शक्तियोंसे गति या स्थिति करते हैं। यहां यह अभिप्राय है कि निर्विकार चिदानंदमई एक स्वभाव जो परमात्मतत्व है वही उपादेय है, उस शुद्धात्मतत्वसे भिन्न ये धर्म अधर्मद्रव्य हैं इसलिये ये हेयतत्व हैं।

भावार्थ-यहां फिर दृढ़ करदिया है कि धर्म और अधर्म बिलकुल ही उदासीन हैं चाहे जीव पुद्गल चलो या ठहरो। वे गमन या स्थितिमें किसी भी तरहकी प्रेरणा नहीं करते हैं। जब जीव और पुद्गल अपनी ही उपादान, गमन या स्थितिकी शक्तिसे गमन या स्थिति करते हैं तब ये मात्र उदासीन सहकारी कारण

हो जाते हैं, इतने जरूरी कि इनके बलाधानके विना गमन या स्थिति नहीं हो सक्ती है। जैसे मछली पानी विना नहीं चल सक्ती है व घोड़ा पृथ्वी विना नहीं ठहर सक्ता है, ऐसे जीव और पुद्गल इनकी सहायता विना गमन या स्थिति क्रिया नहीं कर सक्ते हैं। जो प्रेरक होते हैं उनमें स्वयं कुछ हलन चलन क्रिया होती है। धर्म अधर्मद्रव्य लोकव्यापी हैं वे लोक मात्र आकारसे घटते बढ़ते नहीं इससे उनमें प्रेरकक्रिया नहीं हो सक्ती है। जैसा श्लोकवार्तिकमें कहा है—

निष्क्रियाणि च तानीति परिस्पंदविमुक्तितः ।
सूत्रित त्रिजगद्व्यापिरूपाणां स्पंदहानितः ॥ १ ॥

भावार्थ—ये धर्म अधर्म क्रिया रहित हैं, क्योंकि इनमें हलन-चलन नहीं होता है। इनको सूत्रमें तीनलोकव्यापी कहा गया है। जो लोकव्यापी होता है, उसमें हलनचलन क्रिया नहीं होसक्ती है।

इसतरह धर्म अधर्म द्रव्य दोनोंकी स्थापनाकी मुख्यतासे तीसरे स्थलमें गाथा तीन कहीं। ऐसे सात गाथाओंमें तीन स्थलोंके द्वारा पंचास्तिकाय छः द्रव्यके प्रतिपादक प्रथम महाअधिकारके मध्यमें धर्म अधर्मका व्याख्यानरूप छठा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-अथानंतर शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप शुद्ध जीवास्तिकाय है जो निश्चयसे मोक्षका कारण है व सर्व तरह ग्रहण-करने योग्य है। उससे भिन्न जो आकाश अस्तिकाय है, उसका वर्णन सात गाथाओंमें करते हैं। तहां सात गाथाओंके मध्यमें पहले ही लोकाकाश और अलोकाकाश दोनोंका स्वरूप कहते हुए "सव्वेसिं जीवाणं" इत्यादि गाथाएं दो हैं। आगे आकाश ही गति या

स्थिति दोनों करलेगा, धर्म और अधर्म द्रव्योंकी क्या आवश्यक्ता है ? ऐसे पूर्व पक्ष निराकरण करनेकी मुख्यतासे "आगासं अवगासं" इत्यादि पाठक्रमसे गाथाएं चार हैं। फिर धर्म, अधर्म और लोकाकाश एक क्षेत्रमें अवगाह पानेसे व समान मापके होनेसे असद्भूत व्यवहारसे एक हैं तौ भी निश्चयसे भिन्न२ लक्षण रखनेसे भिन्न२ हैं ऐसा कहते हुए " धम्माधम्मागासा " इत्यादि सूत्र एक है। इसतरह सात गाथाओंसे तीन स्थलोंके द्वारा आकाश अस्तिकायके कथनमें समुदाय पातनिका है।

अब आकाशका स्वरूप कहते हैं-

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तहय पोग्गलाणं च ।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥ ९७ ॥

सर्वेषां जीवानां शेषाणां तथैव पुद्गलानां च ।
यद्ददाति विवरमखिलं तल्लोके भवत्याकाशं ॥ ९७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(सव्वेसिं) सर्व ही (जीवाणं) जीवोंको (तहय) तथा (पोग्गलाणं) पुद्गलोंको (च) और (सेसाणं) शेष धर्म, अधर्म व कालको (जं) जो (विवरं) अवकाश (देदि) देता है (तं) सो (अखिलं) संपूर्ण (आयासं) आकाश (लोए) इस लोकमें (हवदि) होता है।

विशेषार्थ-यहां शिवकुमार महाराजने कहा कि हे भगवान्! यह लोक तो असंख्यात प्रदेशी है। इस लोकमें निश्चयनयसे नित्य ही कर्मांजनसे रहित ज्ञान और परमानन्दमई लक्षणधारी अनन्तानंत जीव हैं उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल हैं। लोकाकाशके प्रदेशोंके प्रमाण भिन्न२ कालाणु हैं तथा एक धर्म और एक अधर्मद्रव्य है

ये सब किस तरह इस लोकाकाशमें अवकाश पालेते हैं? भगवान कुन्दकुन्द महाराज उत्तर देते हैं कि जैसे एक कोठरीमें अनेक दीपोंका प्रकाश व एक गूढ़ नागरसके गुटकेमें बहुतसा सुवर्ण व एक ऊंटनीके दूधके भरे घटमें मधुका भरा घट व एक तहखानेमें जयजयकार शब्द व घंटा आदिका शब्द विशेष अवगाहना गुणके कारण अवकाश पाते हैं वैसे असंख्यात प्रदेशी लोकमें अनन्तानन्त जीवादि भी अवकाश पासक्ते हैं।

भावार्थ—जो सर्व द्रव्योंको अवकाश देसके उसको आकाश कहते हैं। जैसे गमन सहकारी धर्मद्रव्य व स्थितिसहकारी अधर्मद्रव्य है वैसे उदासीनपनेसे स्थान देने व अवकाश देनेमें सहकारी आकाश है। इस अनंत आकाशके मध्यमें जो असंख्यात-प्रदेशी लोकाकाश है। उसमें अनंतानंत पदार्थ इसलिये आसक्ते हैं कि सूक्ष्म परिणमन करनेवाले अनेक पुद्गल हैं जो परस्पर भी अवगाह दे सक्ते हैं। एक प्रदेश जो आकाशका सबसे छोटा भाग है उसमें एक परमाणु भी आ सकता है और अनंत सूक्ष्म स्कंध भी समा सकते हैं। ऐसी अवगाहना शक्ति है।

जैसा कि द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥ २७॥

भावार्थ—जितने आकाशको एक अविभागी पुद्गलका परमाणु रोकता है उसको एक प्रदेश जानो, उसमें सर्व अणुओंको स्थान देनेकी सामर्थ्य है। ऐसा ही श्लोकवार्तिकमें कहा है—

तस्मिन्नेकप्रदेशेऽस्ति यथैकस्यावगाहनम् ।
परमाणोस्तथानेकाणुस्कन्धानां च सौक्ष्म्यतः ॥

भावार्थ–जैसे लोकाकाशके एक प्रदेशमें एक परमाणु अवकाश पाता है, तैसे ही अनेक परमाणु तथा स्कन्ध भी सूक्ष्म परिणमनसे अवकाश पासक्ते हैं। ऊपर जैसे दृष्टांत दिये हैं तैसे जानना। प्रकाश स्थूल सूक्ष्म जातिका पुद्गल है सो जहां एक दीपकका प्रकाश फैला हुआ है वहां हजारों दीपकोंका प्रकाश समा सक्ता है। शब्द सूक्ष्मस्थूल पुद्गल है। एक बंद जगहमें ९०० आदमी बैठकर चिल्लावें तब सब शब्द उतने हीमें समजावेंगे। जो कार्मणवर्गणा स्कन्ध सूक्ष्म हैं वे तो एक प्रदेशमें अनन्तानन्त आ सक्ते हैं कोई बाधा नहीं होती है।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि छःद्रव्योंका समुदाय लोक है उससे बाहर अनंत आकाश अलोक है।

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा ।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं ॥ ९८ ॥

जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ च लोकतोऽनन्ये ।
ततोऽनन्यदन्यदाकाशमंतव्यतिरिक्तं ॥ ९८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जीवा) अनंत जीव (पोग्गलकाया) अनंत पुद्गल स्कंध व अणु ( धम्माधम्मा ) धर्म अधर्मद्रव्य (य) और असंख्यात कालद्रव्य ( लोगदो ) इस लोकसे ( अणण्णा ) बाहर नहीं है। (तत्तो) इस लोकाकाशसे (अणण्णं) जो जुदा नहीं है ऐसा (अण्णं) शेष (आयासं) आकाश (अंतवदिरित्तं) अंतरहित, अनंत है।

विशेषार्थ-इस सूत्रमें सामान्यसे पदार्थोंका लोकाकाशसे एकपनां कहा गया है तथापि निश्चयसे सर्व ही जीव जो मूर्ति रहित हैं, केवलज्ञानमय हैं, सहज परमानंदमई हैं, नित्य हैं और कर्म मैलसे शून्य हैं सो अपने लक्षणोंसे शेषद्रव्योंसे भिन्न हैं तथा शेषद्रव्य भी अपने २ लक्षणोंको रखते हुए जीवोंसे भिन्न हैं। इस कारणसे यह जाना जाता है कि परस्पर एकक्षेत्रमें रहते हुए भी इनमें संकर व्यतिकर दोष नहीं आता है, अर्थात् कोई द्रव्य किसीसे मिलकर एक नहीं हो जाता है, न कोई द्रव्य विखरकर अनेक हो जाता है।

भावार्थ-इस गाथामें यह बताया गया है कि एक अनंत आकाशके मध्यमें जो लोकाकाश है उसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल सर्व ठिकाने भरे हुए हैं, उससे बाहर सर्व तरफ आकाश अनंत है। ऐसा ही गोमटसारमें कहा है:—

**लोगागासपदेसा छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति।**
**सव्वमलोगागासं अण्णेहिं विवज्जियं होदि ॥ ५८६ ॥**

भावार्थ-लोकाकाशके प्रदेश सर्व ही छःद्रव्योंसे सदाकाल व्याप्त हैं तथा अलोकाकाश सर्व ही अन्य द्रव्योंसे रहित है।

**जीवा अणंतसंखाणंतगुणा पुग्गला हु तत्तो दु।**
**धम्मतियं एक्केक्कं लोगपदेशप्पमा कालो ॥ ५८८ ॥**

भावार्थ-इस लोकमें जीव अनंत हैं उनसे भी अनंतगुणे पुद्गल हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश एक एक ही हैं तथा लोकाकाशके प्रदेशप्रमाण कालाणु हैं।

इसतरह लोकाकाश और अलोकाकाश दोनोंके स्वरूपको समर्थन करते हुए प्रथमस्थलमें दो गाथाएं कहीं।

उत्थानिका-आगे दिखलाते हैं कि यदि कोई ऐसा माने कि जैसे आकाश, जीव आदि द्रव्योंको अवकाश देता है वैसा वह गमन और स्थिति भी करानेमें सहायक होगा तो ऐसा मानना दोषसहित है:—

आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि।
उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ ॥ ९९ ॥

आकाशमवकाशं गमनस्थितिकारणाभ्यां ददाति यदि।
ऊर्ध्वंगतिप्रधानाः सिद्धाः तिष्ठन्ति कथं तत्र ॥ ९९ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जदि) यदि (आगासं) आकाश द्रव्य (गमणट्ठिदिकारणेहिं) गमन और स्थितिका हेतु होता हुआ (अवगासं) अवकाश (देदि) देता हो तो (किध) किस तरह (सिद्धा) सिद्ध महाराज (उड्ढंगदिप्पधाणा) जिनका स्वभाव ऊपरको जानेका है (तत्थ) वहां लोकके अग्रभागमें (चिट्ठंति) ठहर सक्ते हैं?

विशेषार्थ-निर्विकार विशेष चैतन्यके प्रकाशरूप कारण समयसारमई भावनाके बलसे जिन्होंने नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतिका नाश करके स्वभावकी प्राप्तिरूप सिद्ध अवस्था पाई है ऐसे सिद्ध भगवान स्वभावसे ऊपरको गमन करते हैं। वे यदि आकाशके ही निमित्तकारणसे जावें तो वे अनंत आकाशमें जासक्ते हैं, क्योंकि आकाश लोकसे बाहर भी है। परंतु वे बाहर नहीं जाते हैं कारण यही है कि वहां धर्म द्रव्य नहीं है। जहांतक धर्म द्रव्य है वहींतक गमनमें सहकारीपना है।

भावार्थ-यहां आचार्यने दिखलाया है कि आकाश द्रव्यका

काम मात्र द्रव्योंको अवकाश देना ही है, गमन और स्थितिमें सह-कारी होना नहीं है। यदि गमन सहकारी आकाश हो तो यह लोका-काश एक परिमित स्थितिमें न रहे। जो जीव या पुद्गलके परमाणु या स्कंध गमनशील हैं वे अनंत आकाशकी सहायता पाकर चारों तरफसे वाहर जासकते हैं जिससे यह लोक विखर जावे लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि यह लोकपुरुषाकार तीनसे तेतालीस घन-राजू प्रमाण है और जीव तथा पुद्गल कोई भी उससे वाहर नहीं जाते हैं। इसलिये आकाशका काम गमन और स्थितिमें सह-कारीपना नहीं है, वह काम धर्म और अधर्मद्रव्य करते हैं जो लोकाकाश प्रमाण हैं व लोकके वाहर नहीं हैं।

ऐसा ही तत्वार्थसारमें कहा है—

**लोकाकाशेऽवगाहः स्याद् द्रव्याणां न पुनर्बहिः।**
**लोकालोकविभागः स्यादतएवाम्वरस्य हि ॥ २२ ॥**

भावार्थ–द्रव्योंका अवगाह लोकाकाशमें ही है, वाहर नहीं है इसीलिये ही आकाशके दो भाग हुए हैं–एक लोक और दूसरा अलोक।

उत्थानिका–आगे यथार्थ पक्षको कहते हैं–

जह्मा उवरिट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
तह्मा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थित्ति ॥ १०० ॥

**यस्मादुपरिस्थानं सिद्धानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं।**
**तस्माद्गमनस्थानमाकाशे जानीहि नास्तीति ॥ १०० ॥**

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जह्मा) क्योंकि (जिणवरेहिं) श्री जिनेन्द्रोंने (सिद्धाणं) सिद्धोंका (उवरिट्ठाणं) लोकके अग्रभागमें

तिटना (पण्णत्तं) कहा है (तह्मा) इसलिये ( आयासे ) आकाशमें (गमणट्ठाणं) गमन और स्थितिमें सहकारीपना (णत्थित्ति ) नहीं है ऐसा (जाण) जानो।

विशेषार्थ-सिद्ध भगवान अंजनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, दिग्विजयसिद्ध, खड्गसिद्ध इत्यादि लौकिक सिद्धियोंसे विलक्षण हैं। जिनके सम्यग्दर्शन आदि आठ गुण मुख्य हैं इनहीमें गर्भित नामरहित, गोत्ररहित, मूर्तिरहितपना आदि अनंतगुण हैं ऐसे सिद्धोंका निवास लोकके अग्रभागमें है, जैसा पहली गाथामें कहचुके हैं। इसीसे ही जाना जाता है कि आकाशमें गति और स्थिति कारणपना नहीं है, किन्तु धर्म और अधर्म ही गति और स्थितिको कारण हैं, यह अभिप्राय है।

भावार्थ-यहां आचार्यने आगमप्रमाणको मानकर कहा है कि जब लोकके बाहर सिद्ध भगवान नहीं जाते हैं, तब उनके गमनका कारण धर्मद्रव्य रहा, न कि आकाश इसलिये यही ठीक है कि आकाश मात्र अवकाश देनेका ही काम करता है।

श्लोकवार्तिकमें भी कहा है—

उक्तो धर्मास्तिकायोऽत्र गत्युपग्रहकारणं।
तस्याभावान्न लोकाग्रात्परतो गतिरात्मनः ॥ १ ॥

भावार्थ-क्योंकि धर्मास्तिकाय ही गतिके होनेमें सहकारी कारण कहा गया है, और लोकके बाहर वह है नहीं इसीलिये आत्माका गमन लोकके अग्रभागसे परे नहीं होता है।

उत्थानिका-आगे आकाशमें गति और स्थितिमें कारणपना नहीं है, इसकी सिद्धि करनेको और भी कारण बताते हैं—

जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अंतपरिवुड्ढी॥१०१॥

यदि भवति गमनहेतुराकाशं स्थानकारणं तेषां।
प्रसजत्यलोकहानिर्लोकस्य चांतपरिवृद्धिः ॥ १०१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(जदि) यदि (आगासं) आकाश द्रव्य ( तेसिं ) उन जीव पुद्गलोंके ( गमणहेदू ) गमनका कारण व (ठाणकारणं) ठहरनेका कारण (हवदि) होजावे तो ( अलोगहाणी ) अलोकाकाशकी हानि ( पसजदि ) होजावे (य) और ( लोगस्स ) लोकाकाशकी ( अंतपरिवुड्ढी ) मर्यादा बढ़ जावे।

विशेषार्थ-यदि आकाश गति व स्थितिमें कारण हो और लोकाकाशके बाहर भी आकाशकी सत्ता है तब जीव और पुद्गलोंका गमन अनंत आकाशमें भी हो जावे इससे अलोकाकाश न रहे और लोककी हद बढ़जावे लेकिन ऐसा नहीं है। इसी कारणसे यह सिद्ध है कि आकाश गति और स्थितिके लिये कारण नहीं है।

भावार्थ-यह आगम है कि आकाशके दो भेद हैं-लोक और अलोक, सो यदि जीव और पुद्गल लोकके बाहर चले जावें तो दोनोंकी मर्यादा टूट जावे, क्योंकि ऐसा नहीं होसक्ता है इसीलिये आकाश गमन और स्थितिमें कारण नहीं है। द्रव्यसंग्रहमें भी दो भेद बताए गए हैं—

धम्माधम्माकालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो॥

भावार्थ-धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव जितने आकाशमें रहते हैं वह लोक है इससे बाहर अलोक है।

उत्थानिका-आगे आकाश गति व स्थितिमें कारण नहीं है इसी व्याख्यानको संकोच करके कहते हैं-

तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णागासं।
इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं ॥१०२॥
तस्माद्धर्माधर्मौ गमनस्थितिकारणे नाकाशं।
इति जिनवरैः भणितं लोकस्वभावं शृण्वंताम् ॥ १०२ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-( तह्मा ) इस कारणसे ( धम्माधम्मा) धर्म अधर्म (गमणट्ठिदिकारणाणि) गमन और स्थितिमें सहकारी कारण हैं, (आगासं ण) आकाश कारण नहीं है (इदि) ऐसा (सुणंताणं) समवशरणमें लोकका स्वभाव सुननेवाले भव्योंको (जिणवरेहि) जिनेन्द्र देवोंने ( भणिदं ) कहा है।

भावार्थ-सुगम है।

इस तरह धर्म अधर्म गति और स्थितिमें कारण हैं न कि आकाश, ऐसा कहते हुए दूसरे स्थलमें गाथाएं चार समाप्त हुई।

उत्थानिका-आगे धर्म, अधर्म, आकाश एक क्षेत्रमें अवगाह पारहे हैं इसलिये इनमें व्यवहारसे एकपना है परन्तु निश्चयसे भिन्नपना है।

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा।
पुधगुवलद्धिविसेसा करंति एगत्तमण्णत्तं ॥ १०३ ॥
धर्माधर्माकाशान्यपृथग्भूतानि समानपरिमाणानि।
पृथगुपलब्धिविशेषाणि कुर्वन्त्येकत्त्वमन्यत्त्वं ॥ १०३ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-( धम्माधम्मागासा ) धर्म, अधर्म और आकाश ( समाणपरिमाणा ) समान परिमाणको रखनेवाले हैं अतएव (अपुधब्भूदा) अलग नहीं हैं, परन्तु (पुधगुवलद्धिविसेसा)

अलग अलग अपने अपने द्रव्यपनेको रखते हैं इसलिये (एगत्तं) एकपने (अण्णत्तं) व अनेकपनेको (करंति) करते हैं।

विशेपार्थ—व्यवहारसे धर्म, अधर्म व लोकाकाश एक समान असंख्यात प्रदेशको रखनेवाले हैं इसलिये इनमें एकता है, परन्तु निश्चयसे ये तीनों अपने२ स्वभावमें हैं इससे अनेकता या भिन्नता है। जैसे यह जीव पुद्गल आदि पांच द्रव्योंके साथ व अन्य जीवोंके साथ एक क्षेत्रमें अवगाहरूप रहनेसे व्यवहारसे एकपनेको बताता है, परन्तु निश्चयनयसे भिन्नपनेको प्रगट करता है, क्योंकि यह जीव एक समयमें सर्व पदार्थोंमें प्राप्त अनंत स्वभावोंको प्रकाश करनेवाले परमचैतन्यके विलासरूप अपने ज्ञान गुणसे शोभायमान है। तैसे ही धर्म, अधर्म और लोकाकाश द्रव्य एक क्षेत्रमें अव-गाहरूप होनेसे अभिन्न हैं तथा समान प्रदेशोंका परिमाण रखते हैं इसलिये उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे परस्पर एकता करते हैं, परन्तु निश्चयनयसे अपने २ गति, स्थिति व अवगाह लक्षणको रखनेसे नानापना या भिन्नपना करते हैं—यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ—जितना बड़ा लोकाकाश है उतना ही बड़ा धर्मास्ति-काय है व उतना ही बड़ा अधर्मास्तिकाय है व तीनों एक एकमें व्यापक हैं ऊपर नीचे नहीं हैं, इससे उनमें एकता है, परन्तु प्रत्येक द्रव्यके सामान्य और विशेषगुण अलग अलग हैं इससे उनमें भिन्नता है। श्लोकवार्तिकमें कहा है—

धर्माधर्मौ मतौ कृत्स्नलोकाकाशावगाहिनौ।
गच्छत्तिष्ठत्पदार्थानां सर्वेषामुपकारतः॥ १॥

भावार्थ—धर्म और अधर्म सर्व ही पदार्थोंको जो चलते हैं

तथा ठहरते हैं उनको क्रमसे सहायता देते हुए सर्व लोकाकाशमें अवगाह पारहे हैं, इसतरह धर्म, अधर्म व लोकाकाशमें एकता व अनेकताको कहते हुए तीसरे स्थलमें गाथासूत्र कहा।

इसतरह पंचास्तिकाय छः द्रव्यके प्रतिवादक महाअधिकारके मध्यमें सात गाथाओं तक तीन स्थलोंके द्वारा आकाश नाम अस्तिकायका व्याख्यानरूप सातमा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे आठ गाथाओंतक पांच अस्तिकाय और छः द्रव्यकी चूलिकाका व्याख्यान करते हैं। इन आठ गाथाओंके मध्यमें चेतन, अचेतन, मूर्तीक व अमूर्तीकपनेको कहनेकी मुख्यतासे "आयास" इत्यादि गाथा सूत्र एक है। फिर सक्रियपना और निःक्रियपना कहनेकी मुख्यतासे "जीवा पोग्गलकाया" इत्यादि सूत्र एक है फिर मूर्त अमूर्तका लक्षण कहते हुए "जे खलु इंदियगेज्झा" इत्यादि सूत्र एक है। फिर नव जीर्ण पर्यायकी स्थितिरूप व्यवहारकाल है तथा जीव पुद्गलादिकोंकी पर्यायकी परिणतिमें सहकारी कारण निश्चयकाल है। इस तरह दोनों प्रकारके कालके व्याख्यानकी मुख्यतासे "कालो परिणामभवो" इत्यादि गाथाएं दो हैं। उसही कालमें द्रव्यका लक्षण संभव होता है इससे उसमें द्रव्यपना है तथा द्वितीय आदि प्रदेश नहीं हैं इससे अकायपना है, ऐसा कहनेकी मुख्यतासे "एदे कालागासा" इत्यादि सूत्र एक है। फिर पांच अस्तिकायोंके भीतर केवलज्ञान व केवलदर्शनरूप शुद्ध जीवास्तिकाय गर्भित है। वह जब वीतराग निर्विकल्प समाधिमें परिणमन करता है तब निश्चय मोक्षमार्गरूप होता है। इस निश्चय मोक्षमार्गकी भावनाका फल कहते हुए "एवं पवयणसारं" इत्यादि

गाथाएं दो हैं। इसतरह आठ गाथाओंसे छः स्थलोंके द्वारा चूलिकामें समुदायपातनिका कही।

अब द्रव्योंके मूर्त अमूर्तपनेको व चेतन अचेतनपनेको कहते हैं–

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।
मुत्तं पोग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु॥ १०४॥
आकाशकालजीवा धर्म्माधर्म्मौ च मूर्तिपरिहीनाः।
मूर्तं पुद्गलद्रव्यं जीवः खलु चेतनस्तेषु॥ १०४॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–( आगासकालजीवा ) आकाश, काल, जीव, (धम्माधम्मा) धर्म और अधर्म ( मुत्तिपरिहीणा ) मूर्तिरहित अमूर्तीक हैं, ( पोग्गलदव्वं ) पुद्गलद्रव्य ( मुत्तं ) मूर्तीक है। (तेसु) इन छहोंमें (खलु) निश्चयसे ( जीवो ) जीव द्रव्य (चेदणो) चेतन है।

विशेषार्थ–जिसमें स्पर्श रस गंध वर्ण हो उसको मूर्ति कहते हैं व जिनमें ये गुण न हों उनको अमूर्तीक कहते हैं। वे अमूर्तीक द्रव्य पुद्गलको छोड़कर पांच हैं। यद्यपि जीव निश्चयसे अमूर्तीक अखंड एक प्रतिभासमयीपनेसे अमूर्तीक है तथापि रागादिरहित सहज आनंदमई एक स्वभावरूप आत्मतत्वकी भावनासे रहित जीवने जो मूर्तीककर्म बांधे हैं उन कर्मकी संगतिसे व्यवहारनयसे यह मूर्तीक भी कहलाता है। संशय आदिसे रहित होकर आप और परको जाननेको समर्थ जो अनन्त चैतन्यकी परिणति उसको रखनेसे यह जीव वास्तवमें चेतनेवाला चेतन है तथा अन्य पांच द्रव्योंमें स्वपर प्रकाशक चैतन्यगुण नहीं हैं। इससे वे पांचों अचेतन हैं, यह तात्पर्य है।

भावार्थ-यद्यपि छः द्रव्य आकारवान हैं क्योंकि जो२ पदार्थ आकाशमें रहेंगे वे स्थान ग्रहण करेंगे इसलिये सर्व द्रव्योंमें प्रदेशपना या आकार रखना यह साधारण गुण है तथापि पुद्गलोंमें मूर्तीक आकार है क्योंकि उनमें स्पर्शादि हैं और पांच द्रव्योंमें अमूर्तीक आकार है, क्योंकि उनमें वास्तवमें स्पर्शादि नहीं है। इन छहोंमें एक जीव ही जाननेवाला है इससे चेतन है, शेष सब जड़ अचेतन हैं। तत्वार्थसारमें कहा है—

शब्दरूपरसस्पर्शगंधात्यंतव्युदासतः ।
पंचद्रव्याण्यरूपाणि रूपिणः पुद्गलाः पुनः ॥ १६ ॥

अर्थात्-पुद्गलोंमें स्पर्शादि हैं व उनसे शब्द होते हैं इसलिये पुद्गल मूर्तीक हैं जबकि शेष पांच द्रव्योंमें शब्द नहीं होता है न उनमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श हैं इसलिये वे पांच द्रव्य अमूर्तीक हैं।

धर्माधर्मौ तथाकाशं तथा कालश्च पुद्गलाः ।
अजीवाः खलु पंचैते निर्दिष्टा सर्वदर्शिभिः ॥ २ ॥

भावार्थ-धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पांच अजीव हैं या अचेतन हैं ऐसा सर्वदर्शी जिनेन्द्रोंने कहा है, मात्र जीव ही सचेतन है।

इसतरह चेतन अचेतन मूर्त अमूर्तको प्रतिपादन करनेकी मुख्यतासे गाथासूत्र समाप्त हुआ।

उत्थानिका-आगे द्रव्योंमें क्रियावानपना और निःक्रियपना बताते हैं—

जीवा पोग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा ।
पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥१०५॥

जीवाः पुद्गलकायाः सह सक्रिया भवंति न च शेषाः ।
पुद्गलकरणाजीवाः स्कन्धाः खलु कालकरणास्तु ॥ १०५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(जीवा) जीव और (पोग्गलकाया) पुद्गलकाय ये दो द्रव्य (सह) बाहरी कारणोंके होनेपर (सक्किरिया) क्रिया सहित ( हवंति ) होते हैं ( सेसा ) शेष चार द्रव्य (ण य) क्रियावान नहीं हैं । (जीवा) जीव (पुग्गलकरणा) पुद्गलोंकी सहायतासे और (खंधा) पुद्गलोंके स्कंध (खलु) वास्तवमें (कालकरणा दु) कालद्रव्यके कारणसे क्रियावान होते हैं ।

विशेषार्थ-जीवोंने क्रिया रहित निर्विकार शुद्धात्माके अनुभवकी भावनासे गिरकर अपने मन, वचन, कायकी हलनचलन क्रियाकी परिणतियोंसे जो द्रव्यकर्म या नोकर्म पुद्गल एकत्र किये हैं वे ही जीवोंकी क्रियामें कारण होते हैं तथा पुद्गलोंके स्कन्ध और परमाणु इन दो प्रकारके पुद्गलोंके परिणमन होनेमें बाहरी कारण कालाणुरूप द्रव्य है, उनके निमित्तसे ये क्रियावान होते हैं। यहां यह तात्पर्य है कि जैसे वे जीव जो शुद्धात्मानुभवकी भावनाके बलसे कर्मोंका क्षयकर तथा सर्व द्रव्यकर्म और नोकर्म पुद्गलोंका अभाव करके सिद्ध हो जाते हैं और तब वे क्रियारहित होजाते हैं ऐसा पुद्गलोंमें नहीं होता है, क्योंकि काल जो वर्णादिसे रहित अमूर्तीक है सो सदा ही विद्यमान रहता है । उसके निमित्तसे पुद्गल यथासम्भव क्रिया करते रहते हैं ।

भावार्थ-क्रिया हलनचलन या एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर गमनको कहते हैं । यह क्रिया धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन चार द्रव्योंमें नहीं होती है मात्र जीव और पुद्गलोंमें होती

है। जो जीव मुक्त हो जाते हैं वे ऊर्ध्वगमन स्वभावसे लोकके अग्र-भागमें जाकर अनन्तकालके लिये हलनचलन क्रियारहित हो जाते हैं। जबतक जीवोंके साथ शरीरादि पुद्गलोंका सम्बन्ध है तब ही तक उनमें क्रिया होती है। मन, वचन, कायकी क्रियाके निमित्तसे आत्माके प्रदेश हिलते रहते हैं। यह क्रिया सयोग गुणस्थानतक होती रहती है। जहांतक यह क्रिया है वहांतक कर्मोंका आश्रव होता है। चौदहवें अयोगकेवलीके कर्मोंका आश्रव नहीं होता है। पुद्गलोंमें अन्य बाहरी कारणोंके सिवाय मुख्य कारण कालद्रव्य है, उसकी सहायतासे वे हलनचलन क्रिया करते रहते हैं। सिद्धोंके समान पुद्गलके परमाणु व स्कन्धोंमें ऐसा नियम नहीं है कि वे कभी अनन्तकालके लिये क्रियारहित हो जावें। श्रीतत्वार्थसारमें कहा है—

धर्माधर्मौ नभः कालश्चत्वारः सन्ति निःक्रियाः।
जीवाश्च पुद्गलाश्चैव भवन्त्येतेषु सक्रियाः॥ १८॥

भावार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य हल-नचलन क्रियारहित सदा ही निष्क्रिय रहते हैं। छः द्रव्योंमें मात्र जीव और पुद्गल ही क्रियावान हैं। क्रियाका लक्षण सर्वार्थसिद्धिमें ऐसा किया है—

"उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तर-प्राप्तिहेतुः क्रियाः॥"

भावार्थ—अन्तरंग निमित्त द्रव्यमें क्रिया करनेकी शक्ति, बाहरी निमित्त प्रेरणा आदि इन दोनों निमित्तोंके होनेपर जो द्रव्यकी वह अवस्था होती है जिससे वह एक प्रदेशसे दूसरे पदेशपर जाता है उसको क्रिया कहते हैं। पंचाध्यायीकारने कहा है:—

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जोवपुद्गलौ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥ २५ ॥
तत्र क्रियाप्रदेशानां परिस्पंदश्चलनात्मकः
भावस्तु परिणामोऽस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥ २६ ॥
नासंभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशंचलनात्मकाः ॥ २७ ॥

भावार्थ–जीव और पुद्गल दो द्रव्य भाववान भी हैं और क्रियावान भी हैं तथा ये दोनों और शेष चार द्रव्य ऐसे छहों द्रव्य भाववान होते हैं। चार धर्मादिमें क्रिया नहीं होती है, प्रदेशोंके हलनचलनको क्रिया कहते हैं और भाव पर्यायको कहते हैं जो प्रत्येक द्रव्यमें धारारूपसे होती रहती हैं। यह बात असंभव नहीं है क्योंकि पदार्थ प्रति समय परिणमन या उत्पादव्यय करते रहते हैं। उन्हीं परिणमनोंमें किन्ही द्रव्योंके कभी प्रदेश भी हलनचलन करते हैं। श्री गोमटसारजीमें कहा है–

सव्वमरूवी दव्वं अवट्ठिदं अचलिआ पदेसा वि।
रूवी जीवा चलिया तिवियप्पा होंति पदेसा ॥५९२॥
पोग्गलदव्वह्मि अणू संखेज्जादी हवंति चलिदा दु।
चरिममहक्खंधम्मि य चला चला होंति पदेसा ॥ ५९३ ॥

भावार्थ–सर्व अरूपी द्रव्य जो मुक्त जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अवस्थित हैं, अपने स्थानसे चलते नहीं हैं तथा इनके प्रदेश भी अचलित ही हैं–एक स्थानमें भी चलते नहीं हैं तथा रूपी संसारी जीव चलित हैं, एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन करते हैं। तथा संसारी जीवोंके प्रदेश तीन प्रकार

हैं। विग्रहगतिमें तो सब चलित ही हैं तथा अयोगी गुणस्थानमें अचलित ही हैं तथा शेष जीवोंके आठ प्रदेश तो अचलित हैं, शेष प्रदेश चलित हैं अर्थात् हरएक आत्माके मध्यके आठ प्रदेश अचलित हैं उनमें संकोच नहीं होता है। ये आठ प्रदेश अकंप रहते हैं। पुद्गल द्रव्यमें परमाणु, द्व्यणुक आदि संख्यात असंख्यात अनंत परमाणूके स्कन्ध चलित हैं तथा अंतके महास्कन्धमें कुछ परमाणु अचलित हैं, कुछ परमाणु चलित हैं।

इसतरह सक्रिय निःक्रियपनेकी मुख्यतासे गाथा समाप्त हुई।

उत्थानिका–आगे फिर भी अन्य प्रकारसे मूर्त और अमूर्तका स्वरूप कहते हैं–

जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहिं हुंति ते मुत्ता।
सेसं हवदि अमुत्तं चित्तं उभयं समादियदि ॥ १०६ ॥

**ये खलु इंद्रियग्राह्या विषया जीवैर्भवन्ति ते मूर्ताः।**
**शेषं भवत्यमूर्तं चित्तमुभयं समाददति ॥ १०६ ॥**

**अन्वयसहित सामान्यार्थ**–(जीवेहिं) जीवोंके द्वारा (खलु) निश्चय करके (जे विषया) जो जो पदार्थ (इंदियगेज्झा) इंद्रियोंकी सहायतासे ग्रहणयोग्य ( हुंति ) होते हैं (ते मुत्ता) वे मूर्तीक हैं। (सेसं) शेष सर्व जीवादि पांच द्रव्य ( अमुत्तं ) अमूर्तीक (हवदि) होते हैं। (चित्तं) मन (उभयं) मूर्तीक अमूर्तीक दोनोंकि ( समादियदि) ग्रहण करता है।

**विशेषार्थ**–जो जीव विषयसुखके आनंदमें रत हैं तथा वीतराग निर्विकल्प आत्मानन्दमई सुखामृतरसके आस्वादसे बाहर

हैं वे जिन इन्द्रिय विषयोंको ग्रहण करते हैं वे मूर्तीक हैं। वे इन्द्रियोंके विषय, विषयोंसे रहित स्वाभाविक सुख स्वभावधारी आत्मतत्वसे विपरीत हैं। इन पुद्गल मूर्तीक द्रव्योंमें कोई ऐसे सूक्ष्म होते हैं जो वर्तमानकालमें इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें नहीं आते हैं तथापि कालांतरमें जब वे इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जानेलायक योग्यताको प्राप्त कर लेंगे तब वे इन्द्रियोंसे ग्रहण योग्य होजायंगे। अमूर्तीक अतींद्रिय ज्ञान और सुखादि गुणोंका आधार जो आत्मद्रव्य है उसको लेकर पुद्गलके सिवाय जो पांच द्रव्य हैं वे अमूर्तीक हैं। चित्त मूर्त अमूर्त दोनोंको ग्रहण करता है।

यह चित्त मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका उपादान कारण है। इसका विषय नियत नहीं है। उनमेंसे जो भावश्रुत स्वसंवेदनज्ञान रूपसे आत्माको ग्रहण करनेवाला है वह प्रत्यक्ष है तथा जो श्रुतज्ञान वारह अंग चौदह पूर्वरूप परमागम नामसे है वह मूर्तीक अमूर्तीक दोनोंको जाननेको समर्थ है। यह ज्ञान व्याप्ति-ज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष है, तोभी केवलज्ञानके समान है। जैसा कहा है—

सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं च परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं॥

अर्थात्—ज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही समान होते हैं तोभी श्रुतज्ञान परोक्ष है, तथा केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—इस गाथामें यह बताया है कि पांचों इंद्रियोंसे जो कुछ ग्रहणमें आता है वह सब मूर्तीक द्रव्य है। स्पर्शन इंद्रिय शीत, उष्ण, रूखा, चिकना आदि स्पर्शको, जिह्वा इंद्रिय खट्टा मीठा

आदि स्वादको, घ्राण इंद्रिय अनेक प्रकार गंधको, चक्षुइंद्रिय अनेक प्रकार वर्णको, कर्णइंद्रिय अनेक प्रकारके शब्दोंको ग्रहण करती हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पुद्गलके स्वभाव हैं तथा शब्द पुद्गल स्कंधोंकी पर्याय है इसलिये जो कुछ पांचों इंद्रियोंसे जाना जाता है, वह सब पुद्गल है इसलिये एक पुद्गलद्रव्य मूर्तीक है। यद्यपि परमाणु और अनेक कार्मण वर्गणा आदि स्कंध इंद्रियोंसे ग्रहणमें नहीं आते हैं तथापि उनसे बने या होनेवाले कार्य इंद्रियोंसे जाने जाते हैं इसलिये वे भी इंद्रियद्वारा ग्रहण किये जानेकी योग्यताको रखनेवाले हैं। उनमें परिणमन करते करते कभी न कभी उनकी शक्ति प्रगट हो जाती है, तब वे इंद्रियग्राह्य होजाते हैं। भाव मन जो आत्माका द्रव्य मनद्वारा परिणमन करनेवाला उपयोग है, सो मूर्तीक और अमूर्तीक दोनोंको जान सक्ता है। मनके द्वारा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों होते हैं। वास्तवमें जब मन यकायक किसी द्रव्यको ग्रहण करलेता है, तब वही मतिज्ञान है। जब वह शास्त्रके द्वारा पदार्थोंको जानता है तब वही श्रुतज्ञान है। भावश्रुतज्ञान आत्मानुभवरूप होनेकी अपेक्षा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, द्वादशांग वाणीका व अंगबाह्यका सर्वज्ञान केवलज्ञानके समान अनेक पदार्थोंको जाननेवाला है अर्थात् जिसतरह केवलज्ञानी जानते हैं वैसा श्रुतज्ञानी भी जानता है। मात्र अंतर यही है कि श्रुतज्ञान एक तो द्रव्योंके कुल अनंत पर्यायोंको नहीं जान सक्ता है, दूसरे वह मनके द्वारा प्रवर्तता है, इससे परोक्ष है जब कि केवलज्ञान सर्व ही त्रिकालवर्ती जानने योग्यको जानता है और वह विना किसीकी सहायताके जानता है इससे प्रत्यक्ष है। मूर्तीक अमूर्तीकके सम्बंधमें गोमटसारमें कहा है—

जीवाजीवं दव्वं रूवारूविति होदि पत्तेयं।
संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया ॥ ५६३ ॥
अज्जीवेसु य रूवी पुग्गलदव्वाणि धम्म इदरो वि।
आगासं कालो वि य चत्तारि अरूविणो होंति ॥ ५६४ ॥

भावार्थ–जीव, अजीव द्रव्य प्रत्येक रूपी अरूपी होते हैं। संसारी जीव कर्मबंध सहित व शरीर सहित हैं इससे मूर्तीक हैं कर्म रहित जीव अमूर्तीक हैं। अजीवोंमें पुद्गलद्रव्य मूर्तीक हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार अमूर्तीक हैं।

तत्वार्थसारमें कहा है—

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धात्यन्तव्युदासतः।
पञ्चद्रव्याण्यरूपाणि रूपिणः पुद्गलाः पुनः ॥ १६ ॥

अर्थात्–निश्चयसे जीवादि पांच द्रव्योंमें शब्द, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श बिलकुल नहीं हैं इससे वे अमूर्तीक हैं। पुद्गलोंमें ही ये होते हैं इससे ये पुद्गल ही मूर्तीक हैं। जीवोंको पुद्गलके बन्धके कारण व्यवहारसे मूर्तीक कहा जाता है।

इसतरह मूर्त अमूर्तका स्वरूप कथन करते हुए गाथा समाप्त हुई।

उत्थानिका–आगे व्यवहार और निश्चयकालका स्वरूप दिखाते हैं—

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो ॥ १०७ ॥
कालः परिणामभवः परिणामो द्रव्यकालसंभूतः।
द्वयोरेष स्वभावः कालः क्षणभंगुरो नियतः॥ १०७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(कालो) व्यवहार काल (परिणाम-भवो) पुद्गलोंके परिणमनसे उत्पन्न होता है (परिणामो) पुद्गलादिका परिणमन (दव्वकालसंभूदो) द्रव्यकालके द्वारा होता है ( दोण्हं ) दोनोंका (एस) ऐसा (सहावो) स्वभाव है। (कालो) यह व्यवहार काल ( खणभंगुरो ) क्षणभंगुर है ( णियदो ) परन्तु निश्चयकाल अविनाशी है।

विशेषार्थ-समय, निमिष, घड़ी, दिन आदिको व्यवहारकाल कहते हैं। जब एक पुद्गलका परमाणु एक कालाणुसे निकटवर्ती कालाणुपर मंदगतिसे उल्लंघ कर जाता है तब समय नामका सबसे सूक्ष्म व्यवहारकाल प्रगट होता है अर्थात् इतनी देरको समय कहते हैं। आंखोंकी पलक लगनेसे निमिष, जलके वर्तन, हाथके विज्ञान आदि पुरुषकी चेष्टासे एक घड़ी, तथा सूर्यके विम्बके आनेसे दिन प्रगट होता है। इत्यादि रूपसे पुद्गलद्रव्यकी हलन चलन रूप पर्यायको परिणाम कहते हैं। उससे जो प्रगट होता है इसलिये इस व्यवहारकालको व्यवहारमें पुद्गलपरिणामसे उत्पन्न हुआ कहते हैं, निश्चयसे यह कालाणुरूप निश्चय कालकी पर्याय है। पदार्थोंकी अवस्थाका पलटना, तथा परमाणुका उल्लंघकर मंदगतिसे जाना आदि। जैसे शीतकालमें विद्यार्थीको अग्नि पढ़नेमें सहकारी है व कुम्हारके चाकके भ्रमणमें नीचेकी शिला सहकारी है वैसे बाहरी सहकारी कारण कालाणुरूप द्रव्यकालके द्वारा उत्पन्न होता है इसलिये परिणमनको द्रव्यकालसे उत्पन्न हुआ कहते हैं। व्यवहार-काल पुद्गलोंके परिणमनसे उत्पन्न होता है इसलिये परिणामजन्य है तथा निश्चयकाल परिणामोंको उत्पन्न करनेवाला है इसलिये

परिणामजनक है। तथा समयरूप सबसे सूक्ष्म व्यवहारकाल क्षणभंगुर है तथा अपनेही गुण और पर्यायोंका आधाररूप होनेसे निश्चय कालद्रव्य नित्य है। यहां यह तात्पर्य है कि यद्यपि काल-लब्धिके वशसे यह जीव भेद और अभेद रत्नत्रय या व्यवहार और निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको प्राप्त करके रागादिसे रहित व नित्य आनंदरूप एक स्वभावमई ग्रहण करने योग्य पारमार्थिक सुखको साधन करता है तथापि अपने इस साधनका उपादान कारण जीव है, काल नहीं है जैसा कहा है-"आत्मोपादान सिद्धम्" इत्यादि कि मोक्ष आत्माके ही उपादान कारणसे सिद्ध है।

भावार्थ-यहां कालके दो भेद कहे हैं-एक निश्चयकाल द्रव्य जो संख्यामें लोकाकाशके प्रदेशोंकी गणनाके प्रमाण असंख्यात अलग २ रत्नोंके ढेरके समान हैं। ये सदाकाल बने रहते हैं इससे ये नित्य द्रव्य हैं। इनका गुण वर्तना है अर्थात् इनके ही निमित्तसे सर्व लोकके द्रव्य समय समय परिणमन किया करते हैं। परिणामोंको उत्पन्न करनेमें यह सहकारी कारण है। व्यवहार काल निश्चयकालकी पर्याय है इसको समय कहते हैं। पुद्गलके अविभागी परमाणुके हिलने रूप सहकारी कारणसे यह समय पर्याय पैदा होती है। परमाणु तीन लोकमें भरे हैं और वे चल हैं अर्थात् चंचल हैं। ये ही कालके परिणमनमें बाहरी सहकारी कारण हैं। अनेक समयोंके समूहको स्थूल व्यवहारकाल कहते हैं-जैसे निमिष, घड़ी, दिन आदि। इस स्थूलकालकी प्रगटता व्यवहारमें अनेक प्रकारसे लौकिक जन समझलेते हैं-जैसे किसी धूपयंत्रसे, सूर्यके भ्रमण आदिसे पर्याय अनित्य होती है, द्रव्य नित्य होता है इसीलिये समय

पर्याय अनित्य है और कालाणुरूप द्रव्य नित्य है। इस कथनसे कालको वर्तना गुण और समय पर्यायको रखनेवाला गुणपर्यायवान द्रव्य सिद्ध किया गया है। यह बहु प्रदेशी नहीं है-एक प्रदेशमात्र है इसलिये इसको कायरहित समझके पंचास्तिकायके व्याख्यानके पीछे आचार्यने कहना शुरू किया है। श्लोकवार्तिकमें कहा है:-

सोऽनंतसमयः प्रोक्तो भावतो व्यवहारतः।
द्रव्यतो जगदाकाशप्रदेशपरिमाणकः॥ १॥

भावार्थ-पर्यायकी अपेक्षा कालद्रव्यकी समय समय होनेवाली अनन्त समय रूप पर्याय हैं इसीको व्यवहार काल कहते हैं। द्रव्य रूप कालाणु हैं जो लोकाकाशके एक एक प्रदेश परिमाण हैं। एक कालाणुमें भूत भविष्यत् वर्तमानकालकी अपेक्षा अनन्तसमय पर्याय होजाती हैं। एक समयमें एक पर्याय होकर नष्ट होती हैं इसलिये पर्याय क्षणभंगुर है। श्री गोमटसारजीमें कहा है:—

कालं अस्सियदव्वं सगसगपज्जायपरिणदं होदि।
पज्जायावट्ठाणं सुद्धणये होदि खणमेत्तं॥ ५७१॥

भावार्थ-कालद्रव्यका निमित्तरूप आश्रयको पाकर जीवादि सर्व द्रव्य अपनी २ पर्यायरूप परिणमन किया करते हैं। पर्यायके रहनेका काल शुद्ध ऋजुसूत्रनयसे एक समय मात्र होता है।

उत्थानिका-आगे फिर भी दिखलाते हैं कि काल नित्य भी है और क्षणिक भी है:—

कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई॥ १०८॥

काल इति च व्यपदेशः सद्भावप्ररूपको भवति नित्यः।
उत्पन्नप्रध्वंस्यपरो दीर्घान्तरस्थायी॥ १०८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(कालो त्ति य) काल ऐसा जो नाम है सो (सब्भावपरूवगो) सत्तारूप निश्चय कालका बतानेवाला है, वह कालद्रव्य (णिच्चो) अविनाशी (हवदि) होता है। (अवरो) दूसरा व्यवहारकाल (उप्पण्णप्पद्धंसी) उपजता और विनशता रहता है (दीहंतरट्ठाई) तथा यह समूहरूपसे दीर्घकालतक रहनेवाला कहा जाता है।

विशेषार्थ-काल जो शब्द जगतमें दो अक्षरोंका प्रसिद्ध है सो अपने वच्याको जो निश्चयकाल सत्तारूप है, उसको बताता है, जैसे सिंह शब्द सिंहके रूपको तथा सर्वज्ञशब्द सर्वज्ञके स्वरूपको बताता है। ऐसा अपने स्वरूपको बतानेवाला निश्चय कालद्रव्य यद्यपि दो अक्षररूपसे तो नित्य नहीं है तथापि काल शब्दसे कहने योग्य होनेसे नित्य है, ऐसा निश्चयकाल जानना योग्य है। व्यवहारकाल वर्तमान एक समयकी अपेक्षा उत्पन्न होकर नाश होनेवाला है, क्षणक्षणमें विनाशीक है तौभी पूर्व और आगेके समयोंकी संतानकी अपेक्षासे व्यवहारनयसे आवली, पल्य, सागर आदि रूपसे दीर्घ काल तक रहनेवाला भी है। इसमें कोई दोष नहीं है। इसतरह निश्चयकाल नित्य है, व्यवहारकाल अनित्य है ऐसा जानना योग्य है। अथवा दूसरे प्रकारसे निश्चय और व्यवहारकालका स्वरूप कहते हैं-जो अनादि अनंत है, समय आदिकी कल्पना या भेदसे रहित है। वर्णादि रहित अमूर्तीक है व कालाणु द्रव्यरूपसे आकाशमें स्थित है सो निश्चयकाल है, उस ही कालाणुद्रव्यकी पर्यायरूप सादिसांत समयरूप सूक्ष्मपर्याय व समयोंके समुदायकी

अपेक्षा निमिष, घड़ी आदि कोई भी माना हुआ भेदरूप कालका नाम सो व्यवहारकाल है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने बताया है कि काल ऐसा जो शब्दका व्यवहार जगतमें है सो निरर्थक नहीं है—लोकमें समय, विपल, पल, घड़ी, मुहूर्त, घंटा, पहर, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, पूर्व, पल्य, सागर आदि जो कालके सूक्ष्म या स्थूल भेद प्रसिद्ध हैं सो किसी निश्चय काल-द्रव्यकी सत्ताको प्रगट करनेवाले हैं। असल बात यह है कि कालाणुरूप निश्चय कालद्रव्यकी सत्ता सदा बनी रहती है। उसीमें पुद्गलके परमाणुके मंद गमनरूप सहकारी कारणकी अपेक्षा जो समय पर्याय पैदा होती है वह व्यवहारकाल है। समयोंके छोटे या बड़े समूहके निमिष आदि नाम जगतमें प्रसिद्ध हैं। वास्तवमें सबसे छोटी कालद्रव्यकी पर्याय समय है। इसीका उपादान कारण कालाणुरूप द्रव्य है। द्रव्य नित्य होता है इससे कालद्रव्य नित्य हैं। पर्याय अनित्य होती है इससे समय अनित्य है। विना निश्चय-कालद्रव्यकी सत्ताके उसकी पर्यायरूप व्यवहारकाल नहीं होसक्ता है। ऊपर लिखित गाथा श्री गोम्मटसार जीवकांडमें नं० ५८०में भी दी हुई है। वास्तवमें व्यवहारकाल पर्यायरूप कालको ही कहते हैं, पर्याय द्रव्यके विना नहीं होसक्ती है। इसी बातको गोमट्टसारमें कहा है—

ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति पयट्ठो।
ववहार अवट्ठाणट्ठिदी हु ववहारकालो दु॥ ५७२॥

भावार्थ-व्यवहार, विकल्प, भेद तथा पर्याय इन शब्दोंका एक ही अर्थ है। व्यवहाररूप पर्यायके ठहरनेकी जो मर्यादा है, वही समयरूप व्यवहारकाल है। इसतरह निर्विकार निजानंदमें भले प्रकार ठहरे हुए चैतन्यके चमत्कार मात्रकी भावनामें जो भव्य जीव रत हैं उनके लिये बाहरी कारण काललब्धि है वही काल निश्चय और व्यवहार रूपसे दो प्रकार है उसके निरूपणकी मुख्यतासे चौथे स्थलमें दो गाथाएं कहीं।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि कालद्रव्य तो है परन्तु कायरूप नहीं है—

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पोग्गला जीवा।
लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥ १०९ ॥

**एते कालाकाशे धर्माधर्मौ च पुद्गला जीवाः।**
**लभंते द्रव्यसंज्ञां कालस्य तु नास्ति कायत्वं ॥ १०६ ॥**

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(एदे) ये पूर्वमें कहे हुए (कालागासा धम्माधम्मा य पोग्गला जीवा) काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव (दव्वसण्णं) द्रव्य नामको (लब्भंति) पाते हैं (दु) परन्तु (कालस्स) काल द्रव्यके (कायत्तं) कायपना (णत्थि) नहीं है।

विशेषार्थ-द्रव्यके लक्षण तीन हैं जैसा कि पीठिकाके व्याख्यानमें कहा गया है अर्थात् जिसमें सदा सत्ता पाई जावे, जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना हो तथा जो गुणपर्यायका धारी हो वह द्रव्य है इन छहोंमें ये तीनों लक्षण पाए जाते हैं, इसलिये ये छहों द्रव्य हैं। इनमेंसे कालद्रव्य कायवान नहीं हैं क्योंकि जैसा वह

प्रदेशोंका अखंड समुदायरूप कायपना विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी शुद्ध जीवास्तिकाय आदि पांच अस्तिकायोंके है वैसा कालाणुओंके नहीं है। कालाणु गणनामें लोकाकाशके प्रदेशोंकी संख्याके समान असंख्यात हैं तौभी वे सदा भिन्न२ रहते हैं, कभी मिलते नहीं हैं। जैसा कहा है—

**लोगागासपदेसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का।**
**रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥**

भावार्थ-जैसे रत्नोंका ढेर सब स्थान रोककर भी भिन्न२ रतनको रखता है वैसे कालाणु सब लोकाकाशमें एक एक प्रदेशपर एक एक करके व्याप्त हैं। तथापि वे किसीसे कभी मिलते नहीं हैं। यहां यह तात्पर्य है कि केवलज्ञान आदि शुद्ध गुण, सिद्धत्व अगुरुलघुत्व आदि शुद्धपर्याय सहित जो शुद्ध जीव द्रव्य है उसके सिवाय शेष पांच द्रव्य त्यागने योग्य हैं।

भावार्थ-जैन सिद्धांतने इस लोकको छःद्रव्योंका समुदाय माना है। एक शब्दमें चाहे लोक कहो, चाहे छःद्रव्य कहो। यह लोक जैसे सत्‌रूप अनादि अनंत है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी अपेक्षा नित्य अनित्यरूप है, गुणपर्यायोंके रखनेसे कार्यरूप है वैसे ये छहों द्रव्य भी सत्‌रूप अनादि अनंत हैं। उत्पादव्यय ध्रौव्यकी अपेक्षा नित्य अनित्य स्वभाव धारी हैं तथा गुणपर्यायोंके रखनेसे सार्थक हैं। किसी विशेष समय न कोई द्रव्य पैदा हुआ है, न कभी कोई द्रव्य नष्ट होगा, न एक द्रव्य कभी दूसरेमें मिल

जायगा, न छः द्रव्योंके कभी सात आठ द्रव्य होंगे इसहीसे श्री उमास्वामी महाराजने तत्वार्थसूत्रमें कहा है–नित्यावस्थिता-न्यरूपाणि, रूपिणः पुद्गलाः" कि ये छहों द्रव्य नित्य अविनाशी हैं, इनकी संख्या स्थिर है तथा इनमें पांच अमूर्तीक हैं, मात्र पुद्गल मूर्तीक हैं।

प्रत्येक द्रव्य सामान्य और विशेष गुणोंका अमिट व अखंड समुदाय है। गुण सहभावी होते हैं और द्रव्यके सर्व प्रदेशोंमें व्याप्त होते हैं। इनही गुणोंमें समय समय परिणमन हुआ करता है, ये कूटस्थ नहीं पड़े रहते हैं। स्वाभाविक शुद्ध द्रव्योंमें जैसे शुद्ध जीव। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल इनमें सदृश स्वभाविक परिणमन हुआ करता है। जब कि संसारी अशुद्ध जीव और पुद्गलोंमें विसदृश विभावरूप परिणमन भी होता है। इस परिणमनक्रियामें प्रत्येक गुणका व प्रत्येक समयका जो विकार या परिणाम है उसहीको पर्याय कहते हैं। हरएक पर्याय भिन्न२ समयमें भिन्न२ होती है, इसलिये हरएक गुणकी पर्याय प्रति समय पुरानीको नाशकर नई उपजती है। जैसे गुणोंका समुदाय द्रव्य है वैसे पर्यायोंका समुदाय द्रव्य है, इसलिये कुल द्रव्य समय समय पर्यायोंकी अपेक्षा उपजता विनशता है। जैसे प्रत्येक गुण ध्रौव्य है वैसे उन गुणोंका समुदाय द्रव्य ध्रौव्य है इसलिये द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप तथा गुण पर्यायवान है। छहों द्रव्योंके कुछ सामान्य और विशेषगुण या पर्यायें इस तरह जाननी चाहिये।

| नाम द्रव्य | कुछ सामान्य गुणोंके नाम। | कुछ विशेष गुण | कुछ पर्यायें |
|---|---|---|---|
| १ जीव | अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व (अमूर्तीकपना ये पांच द्रव्योंमें सामान्य है पुद्गलमें नहीं है।) | चेतना, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र। | शुद्धावस्थामें षट्गुणी हानि वृद्धिरूप अगुरुलघुगुणकी अपेक्षा स्वाभाविक पर्यायें तथा अशुद्ध अवस्था ज्ञानकी वृद्धि हानि रूप व रागादिकी वृद्धि हानि रूप पर्यायें या देव, मनुष्य तिर्यंच तथा नारकगतिमें अनेक अवस्थाएं। |
| २ पुद्गल | यही (एक अचेतन गुण पांचोंमें सामान्य है जीव सिवाय)। | स्पर्श, रस, गंध, वर्ण। | षट्गुणी हानि वृद्धि रूप अगुरुलघु सम्बन्धी स्वाभाविक पर्यायें तथा विशेष गुणोंमें अंशोंकी वृद्धि व हानि होना तथा स्कंधरूप होना या स्कंधमे परमाणु बनना ऐसी पर्यायें। |
| ३ धर्म | यही | जीव पुद्गलोंको गतिहेतुपना। | षट्गुणी हानि वृद्धि रूप अगुरुलघु गुण संबंधी स्वाभाविक पर्यायें। |
| ४ अधर्म | यही | जीव पुद्गलोंको स्थितिहेतुपना | यही |
| ५ आकाश | यही | सर्व द्रव्योंको अवकाश देना | यही |
| काल | यही | सर्व द्रव्योंको वर्तना। | यही |

श्री देवसेनाचार्यने आलापपद्धतिमें कहा है—

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥ १ ॥
धर्माधर्मनभः काला अर्थपर्यायगोचराः।
व्यञ्जनेन तु संबद्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥ २ ॥

भावार्थ—अनादि अनंत हरएक द्रव्यमें स्वाभाविक पर्यायें प्रतिसमय हरएक द्रव्यमें रहे हुए सामान्य अगुरुलघुगुणके द्वारा उसीमें अनंत भाग वृद्धि आदिरूप व अनंत भाग हानि आदिरूप समुद्रमें जलकी लहरोंकी तरह उपजती विनशती रहती हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और कालमें मात्र अर्थपर्याय या गुणोंका स्वाभाविक परिणमन ही होता है। आकार न बदलनेसे व्यंजन पर्याय नहीं होती है। जब कि संसारी जीव और पुद्गलोंमें पुद्गलोंके सम्बन्ध होने और बिछुड़नेकी अपेक्षा आकार बदलता है, इससे इन दोनोंमें व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय दोनों होती हैं। शुद्ध जीवोंमें भी मात्र अर्थपर्याय होती है। जितने आकाशको एक अविभागी पुद्गलका परमाणु रोकता है, उसको प्रदेश कहते हैं। यह एक माप है। जिन अखंड द्रव्योंको इस मापसे नापे जानेपर एक प्रदेशसे अधिकपना आवे उन ही द्रव्योंको बहुप्रदेशी या कायवान कहते हैं। पांचद्रव्य कायवान हैं, क्योंकि वे बहुप्रदेशी हैं। हरएक जीव लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेश रखता है, धर्मास्तिकायके भी लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं, अधर्मास्तिकायके भी इतने ही असंख्यात प्रदेश हैं, आकाशके अनंत प्रदेश हैं, पुद्गलके स्कंधोंकी अपेक्षा संख्यात, असंख्यात तथा अनंत प्रदेश हैं क्योंकि कोई स्कंध संख्यात परमाणुओंका बंधरूप होता है, कोई असंख्यातका

और कोई अनंतका। यद्यपि एक अविभागी पुद्गलका परमाणु एक-प्रदेशी है तथापि उसमें परस्पर मिलकर बंध जानेकी योग्यता है इससे यह परमाणु भी कायवान है। कालाणु एक प्रदेश रखते हैं, तथा असंख्यात होनेपर भी कभी किसीसे मिलते नहीं हैं इससे ये कायवान नहीं हैं। जैसा द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविहपदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ॥

भावार्थ—एक जीवमें, धर्म तथा अधर्ममें असंख्यात२ प्रदेश, आकाशमें अनंत, पुद्गलमें तीन प्रकार प्रदेश होते हैं इससे ये पांच कायवान हैं; कालका एक ही प्रदेश होता है इससे काल कायवान नहीं है। श्री गोमटसारजीमें स्वभावपर्यायके सम्बन्धमें कहा है-

धम्माधम्मादीणं अगुरुगुलहुगं तु छहिं वि वड्ढीहिं।
हाणीहिं वि वड्ढंतो हायंतो वट्टदे जह्मा॥ ५६८॥

भावार्थ—धर्म, अधर्म आदि द्रव्योंमें अपने द्रव्यपनेका कारणभूत शक्तिके विशेषरूप जो अगुरुलघु नामा गुणके अविभाग प्रतिच्छेद वे अनंतभाग वृद्धि आदि षट्स्थान पतित वृद्धि कर बढ़ते हैं और अनंतभाग आदि षट्स्थान पतित हानि कर घटते हैं इसलिये ऐसे स्वाभाविक परिणमनमें भी हेतु काल है। और भी कहा है-

दव्वं छक्कमकालं पंचत्थीकायसण्णिदं होदि।
काले पदेसपचयो जम्हा णत्थित्ति णिद्दिट्ठं॥ ६१९॥

भावार्थ—छः द्रव्योंमें काल सिवाय पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं क्योंकि कालमें प्रदेशोंका समुदाय नहीं है ऐसा परमागममें कहा गया है। इसतरह कालके अस्तिकायपना नहीं है, परन्तु

द्रव्यसंज्ञा है ऐसा व्याख्यान करते हुए पांचमें स्थलमें गाथा सूत्र कहा।

उत्थानिका—आगे पंचास्तिकायको पढ़नेका फल व मुख्यतासे इनमें अंतर्भूत जो शुद्ध जीवास्तिकाय है उसके ज्ञानका फल दिखलाते हैं—

**एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता।**
**एवं मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं.॥११०॥**

**एवं प्रवचनसारं पंचास्तिकायसंग्रहं विज्ञाय।**
**यो मुंचति रागद्वेषौ स गाहते दुःखपरिमोक्षं॥ ११०॥**

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(एवं) इसतरह (पंचत्थियसंगहं) पंचास्तिकायका संग्रहरूप (पवयणसारं) इस परमागमको (वियाणित्ता) जानकरके (जो) जो कोई (रागदोसे) राग और द्वेषको (मुयदि) छोड़ देता है (सो) सो (दुक्खपरिमोक्खं) दुःखोंसे मुक्ति (गाहदि) पाता है।

विशेषार्थ—इस ग्रन्थका नाम पंचास्तिकाय संग्रह इस ही लिये है कि इसमें पांच अस्तिकाय और छः द्रव्योंका संक्षेपसे कथन है। मुख्यतासे इसमें शुद्ध जीवास्तिकायका कथन है, जो परम समाधिमें रत जीवोंको मोक्षमार्गपनेसे सारभूत है। यद्यपि द्वादशांग बहुत विस्ताररूप है तथापि यह ग्रन्थ उसीका सार है, जैसा पहले कहचुके हैं। उस तरहइस ग्रन्थको समझकर अनंत ज्ञानादिगुण सहित वीतराग परमात्मासे विलक्षण हर्ष विवादको तथा आगामीकालमें रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंके आश्रवको पैदा करनेवाले रागद्वेषको जो भव्यजीव छोड़ देता है, वही जीव निर्विकार आत्माकी प्राप्तिकी भावनासे उत्पन्न जो परम आल्हादरूप

सुखामृत उससे विपरीत नाना प्रकार शारीरिक और मानसिक चार गति सम्बन्धी दुःख उससे छूट जाता है । यह अभिप्राय है ।

भावार्थ—यहां आचार्यने इस ग्रन्थके पढ़नेका फल बताया है। वास्तवमें आत्मा ज्ञाता है । इसके लिये आप और पर सब ज्ञेय हैं। जैसे सिद्ध भगवान या केवली महाराज सर्व आप और पर पदार्थोंको जानते हैं, परन्तु उनमें रागद्वेष नहीं करते हैं वे तो निज आत्माके विलाससे उत्पन्न परमानंदको सदा भोगते रहते हैं । इस ही तरह जो कोई निजहित वांछक भव्य जीव इस पंचास्तिकाय ग्रंथकेद्वारा कथन किये हुए छः द्रव्य और पांच अस्तिकायोंके स्वरूपको अच्छी तरह समझकर वस्तुको वस्तुस्वरूपकी तरह जानता हुआ समभाव रखता है अर्थात् पुण्योदयसे प्राप्त धन सम्पत्ति आदि साताकारी संयोगोंके होनेपर हर्ष नहीं करता है । पापके उदयसे होनेवाले असाताकारी संयोगोंके होने पर विषाद नहीं करता है-हरएक अवस्थाको समभावसे भोगलेता है । जगतमें व्यवहार करते हुए भी व्यवहारमें व्यवहारकेरूपसे वर्तन करता हुआ भी अंतरंगमें सर्व जीवोंको अपने समान जानता है—सर्व जीव स्वाभाविक आनन्दका लाभ उठावें, ऐसी भावना भाता है, तथा अपने शुद्ध आत्मामें पूर्ण विश्वास रखके अपने उपयोगको उसीके स्वाद लेनेमें रत रखता है, वह सम्यग्दृष्टी जीव वीतरागी होता हुआ बहुतसे पुराने सत्तामें आगामी उदयके आनेके लिये बैठे हुए कर्मोंकी निर्जरा करता है और आगामी कर्मोंके अत्यन्त गाढ़बंधसे बचता है— स्वात्मानुभवके अभ्याससे चारित्र पालता हुआ आत्मोन्नति करता हुआ साधुपदके द्वारा केवली भगवान होजाता है तब अनन्तकालके

लिये या सदाके लिये सर्व संसारके दुःखोंसे छूट जाता है। इस ग्रन्थके मननका फल वर्तमानमें भी क्लेशोंसे बचकर निजसुखका अनुभव पाना है तथा भविष्यमें स्वाधीन होकर परमात्मपदमें पहुंच जाना है।

वास्तवमें सर्व श्रुतज्ञान जो द्वादशांग है उसका सार एक शुद्ध आत्मा है। जो शुद्ध आत्माका ज्ञाता है और उसका अनुभव करता है वही निश्चयनयसे श्रुतकेवली है। द्रव्यश्रुतको जाननेकी अपेक्षा श्रुतकेवली व्यवहारनयसे है। जैसा श्रीसमयसारजीमें कहा है–

जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा॥ ९॥

भावार्थ–जो श्रुतके द्वारा अपने आत्माको असहाय और शुद्ध अनुभव करता है वही श्रुतकेवली है ऐसा लोकके ज्ञाता ऋषियोंने कहा है।

श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें परमागमका सार यही बताया है–

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ ५०॥

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्त्वं विचिंतयेत्॥ २६॥

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः॥ ४५॥

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः॥ ४७॥

आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मेंधनमनारतं।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः॥ ४८॥

भावार्थ—जीव अन्य है, पुद्गल अन्य है यही तत्वका संक्षेप है। और जो कुछ कहा जाता है वह इसीका विस्तार है। वास्तवमें जीव पुद्गल मिले हुए हैं। इसीसे शुद्ध जीव अलग नहीं झलकता है। आचार्योंके ग्रंथ रचनेका प्रयोजन यही है कि किसी तरह यह संसारी मोही जीव अपने आत्माको सर्व पुद्गलकी अवस्थाओंसे भिन्न शुद्ध ज्ञानानंदमई वीतरागरूप पहचान लेवे। जो जीव पर पदार्थसे ममता करता है वही बंधको प्राप्त होता है। तथा जो ममता छोड़कर वीतरागी रहता है वह कर्मबंधसे छूटता है। इसलिये सर्व उद्यम करके सदा ही ममता रहित होनेकी भावना करनी चाहिये। शरीरादि पर पदार्थ सदा पर ही हैं इनके मोहसे सदा दुःख है। आत्मा पदार्थ अपना है उसके अनुभवसे सदा सुख है इसीलिये महात्मा पुरुष आत्माके स्वभावकी प्राप्तिका उद्यम करते रहते हैं। जो योगी व्यवहारकार्योंसे बाहर होकर आत्माके ध्यानमें मग्न रहते हैं उनको इस योगाभ्यासके बलसे कोई अपूर्व आनंद प्राप्त होता है। यही आनन्दकी आग बहुत अधिक कर्मोंके ईंधनको निरन्तर जलाती रहती है तथा इस आनंदके भोगमें मग्न योगी बाहर दुःखोंके पड़नेपर भी उनका अनुभव न करता हुआ कुछ भी खेदको नहीं पाता है। वास्तवमें आत्माध्यान ही सुख—निधान है और दुःखोंका विनाश करनेवाला है। जो आत्मज्ञानी हो आत्मध्यान करके आत्मानन्दका भोग करते हैं वे ही मुक्तिके पात्र हैं।

उत्थानिका—आगे दुःखोंसे छूटनेका जो उपाय है उसका क्रम कहते हैं—

मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो ।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो ॥ १११ ॥

मत्वैतदर्थं तदनुगमनोद्यतो निहतमोहः ।
प्रशमितरागद्वेषो भवति हतपरापरो जीवः ॥ १११ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(एतदट्ठं) इस ग्रन्थके सारभूत आत्म पदार्थको (मुणिऊण) जान करके (तदणुगमणुज्झिदो) उसका अनुभव करनेका उद्यमी (जीवो) जीव (णिहदमोहो) मिथ्यादर्शनका नाश करके (पसमियरागद्दोसो) राग और द्वेषको शांत करता हुआ (हदपरावरो) संसारसे पार (हवदि) होजाता है ।

विशेषार्थ-इस प्रत्यक्षीभूत नित्य आनंदमई एक शुद्ध जीवास्तिकाय रूप पदार्थको विशेष स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा जान करके व उसी शुद्ध जीवास्तिकाय रूप पदार्थका लक्ष्य करके उसीमें तन्मई होनेका उद्यम करनेवाला कोई भव्यजीव शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है, इस रुचिरूप सम्यग्दर्शनको रोकनेवाले दर्शनमोहका अभाव करके पीछे निश्चल आत्मामें परिणमन रूप निश्चय चारित्रके प्रतिकूल चारित्रमोहका क्षय करके वीतरागी होजाता है । भावार्थ-पूर्वमें कहे प्रकारसे आपा परका भेदज्ञान होनेपर शुद्धात्माकी रुचिरूप सम्यग्दर्शन होता है फिर शुद्धात्मामें स्थितिरूप चारित्र होता है, पीछे इसी अभ्याससे संसारके पार होजाता है । यहां परमानंद व परमज्ञान आदि गुणोंका आधार होनेसे पर शब्दसे मोक्ष कहा जाता है-पर शब्दसे वाच्य जो मोक्ष उससे अपर अर्थात् भिन्न जो संसार उसका नष्ट करनेवाला होजाता है ।

भावार्थ-इस शास्त्रके जाननेका फल और भी इस गाथामें

बताया है। वह इस तरह पर है, कि जो रुचिवान भव्य जीव हो उसे उचित है कि वह इस शास्त्रको अच्छी तरह पढ़कर या सुनकर अपनी धारणामें निश्चय करता हुआ छः द्रव्य पांच अस्तिकायके स्वरूपको धारण करे, फिर तत्वविचारमें लीन होकर आत्माकी भिन्नता द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि व भाव कर्म रागद्वेषादिसे हर तरह पर है ऐसा वारवार आत्माकी शुद्धताका अनुभव करे। इसी अभ्यासके बलसे दर्शनमोहका क्षय होजाता है। फिर स्वयं ही स्वरूपाचरण चारित्र बढ़ता जाता है जिसके प्रतापसे निर्ग्रंथ हो शुक्लध्यानके द्वारा चारित्रमोहका नाशकर फिर तीन घातिया कर्मोंका क्षयकर केवलज्ञानी होजाता है। आयु पर्यंत जीवन्मुक्त अवस्थामें रहकर फिर संसारसे पार हो सिद्ध होजाता है। तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थका मनन परम्परासे मुक्तिका कारण है। वास्तवमें शास्त्रज्ञानसे ही आत्माका कल्याण होता है। सारसमुच्चयमें कुलभद्रआचार्य कहते हैं—

नृजन्मनः फलं सारं यदेतज्ज्ञानसेवनम्।<br>
अनिगूहितवीर्यस्य संयमस्य च धारणम्॥ ७॥<br>
सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य निभृतेनान्तरात्मना।<br>
ज्ञानामृतं सदा पेयं चित्ताह्लादनमुत्तमम्॥ १२॥

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन।<br>
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि॥ १३॥<br>
अधुना तत्त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुतम्।<br>
प्रमादं मा पुनः कार्षीर्विषयास्वादलालसः॥ १४॥

भावार्थ—मनुष्य जन्मका यही सार फल है जो ज्ञानकी सेवा की जावे तथा अपनी शक्तिको न छिपाकर संयमको धारण किया

जावे। अंतरात्मा सम्यग्दृष्टीको उचित है कि सर्व झगड़े छोड़कर व संतोषी होकर चित्तको आनन्द देनेवाले उत्तम ज्ञानामृतको सदा पीवे। ज्ञान ही महारत्न है जिसको हे आत्मन्! तूने नाना दुःखोंको देनेवाले संसाररूप भयानक वनमें घूमते हुए कभी नहीं पाया। अब इस ज्ञानरत्नको सम्यग्दर्शन सहित तूने प्राप्त किया है अतः अब विषयोंके स्वादका लालसावान होकर आत्मकार्यमें प्रमाद न कर। ज्ञान स्वभाव आत्माका अनुभव ही कार्यकारी है। जैसा श्री अमृतचन्द्रमहाराजने समयसार कलशमें कहा है—

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः।
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ॥
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं।
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतना ॥३०॥
ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः॥३१

भावार्थ—जो अपने ज्ञानके तेजको रागद्वेष विभावोंसे छुड़ाते हुए सदा निज आत्मभावका स्पर्श करते हैं वे पूर्व और आगामी सर्व कर्मसे रहित होते हुए व वर्तमान उदय प्राप्त कर्मोंसे भी भिन्न होते हुए अपने दृढ़तासे पाले हुए चारित्रके महात्म्यके बलसे अपने शांतरससे लोकको सींचनेवाली चैतन्यमई ज्ञानचेतनाको अनुभव करते हैं। वास्तवमें ज्ञानके अनुभवसे ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाश होता है तथा अज्ञानमई कर्म और कर्मफल-चेतनाके द्वारा कर्मबंध दौड़ता हुआ आकर ज्ञानकी शुद्धिको रोकता है।

तात्पर्य यह है कि श्रुतज्ञानके द्वारा आत्मज्ञानका अभ्यास ही संसारसे पार करनेवाला है। यही करने योग्य है। इस तरह पंचास्तिकायके ज्ञानका फल कहते हुए दो गाथाएं समाप्त हुईं। इस तरह पहले महा अधिकारमें आठ गाथाओंके द्वारा छः स्थलोंसे चूलिका नामा आठवां अंतर अधिकार जानना योग्य है।

इस पंचास्तिकाय नामके प्राभृत ग्रन्थमें पहले कहे हुए क्रमसे सात गाथाओंके द्वारा समय शब्दकी पीठिका है फिर चौदह गाथाओंमें द्रव्य पीठिका है। फिर पांच गाथाओंसे निश्चय व्यवहारकालकी मुख्यता है। फिर तरेपन गाथाओंसे जीवास्तिकायका व्याख्यान है। फिर दश गाथाओंसे पुद्गलास्तिकायका व्याख्यान है। फिर सात गाथाओंसे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय दोनोंका वर्णन है। फिर सात गाथाओंसे आकाशास्तिकायका व्याख्यान है। फिर आठ गाथाओंसे चूलिकाकी मुख्यता है इस तरह एकसौ ग्यारह गाथाओंकि द्वारा आठ अंतर अधिकार समाप्त हुए। श्री अमृतचंद महाराजने १०४ गाथाओंकी ही टीका की है। छः गाथाएं ज्ञान सम्बन्धकी व एक पुद्गल स्कंधके भेदोंकी नहीं है।

इस प्रकार श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें पांच अस्तिकाय और छः द्रव्यको कहनेवाला प्रथम महा अधिकार समाप्त हुआ। शुभमस्तु २४-९-१९२९।

# इस ग्रन्थका सार।

इस ग्रन्थमें आचार्य कुंदकुंद महाराजने उन द्रव्योंका वर्णन किया है जिनसे यह विश्व सम्बन्ध रखता है। यह लोक वास्तवमें सिवाय छः द्रव्योंके समुदायके और कुछ नहीं है। अनन्तानंत मर्यादा रहित सबसे बड़ा आकाश द्रव्य है जिसका काम पदार्थोंको अवकाश देनेका है। इस आकाशके मध्यमें जितने आकाशमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य हैं वह लोकाकाश है, शेष अलोकाकाश कहलाता है। आकाश सहित इन पांचोंको छः द्रव्य कहते हैं।

लोक हर स्थानमें इनसे भरा है। इनमें कालको छोड़कर पांच द्रव्योंकी अस्तिकाय संज्ञा है, क्योंकि कालाणुरूप द्रव्य यद्यपि लोकाकाश व्यापी आकाशके प्रदेशोंकी संख्याके समान असंख्यात हैं तथापि सब एकप्रदेशी हैं और सदा भिन्न २ रहते हैं-मिलते नहीं है और ये पांच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। जितने आकाशको एक परमाणु रोकता है उसको प्रदेश कहते हैं। यह एक माप है। इस मापसे हरएक द्रव्यको नापा जावे तो विदित होगा कि हरएक जीव लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेश रखता है। इतने ही प्रदेश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके हैं। आकाश मर्यादा रहित है इसलिये इसके प्रदेश अनंत हैं। केवल जितना आकाश पांच द्रव्योंसे भरा हुआ है, उसके प्रदेश असंख्यात हैं। पुद्गल मूर्तीक द्रव्य है। इसके परमाणु और स्कंध दो भेद हैं। इनमें मिलकर बन्धरूप होनेकी और खुलनेकी शक्ति है इसलिये जिन स्कन्धोंमें

संख्यातपरमाणु हैं वे संख्यात प्रदेशी, जिनमें असंख्यात परमाणु हैं वे असंख्यात प्रदेशी व जिनमें अनंत परमाणु हैं वे अनंत प्रदेशी कहलाते हैं। यद्यपि लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है तथापि उसमें अनंत पुद्गल मूर्तीक होकर भी समासक्ते हैं। बहुतसे पुद्गलोंका परिणमन इतना सूक्ष्म होता है कि जहां एक अविभागी परमाणु समाता है ऐसे एक प्रदेशमें अनंत परमाणु तथा स्कंध समा सक्ते हैं। ऐसा वस्तुका स्वभाव प्रत्यक्ष प्रगट है। दृष्टांत दीपकके प्रकाशका है। प्रकाश आंखोंसे दिखता है इससे यह मूर्तीक पुद्गलकी विशेष अवस्था है। जितने कमरेके आकाशमें एक दीपकका प्रकाश फैलेगा उतने कमरेके आकाशमें हजार दीपकोंका प्रकाश भी समा सक्ता है। सूक्ष्म पुद्गल भी दूसरे पुद्गलोंको अवकाश दे सक्ते हैं। प्रकाशसे भरे हुए कमरेमें हम आप भी बैठ सक्ते हैं, बर्तन, वस्त्रादि भी रक्खे जासक्ते हैं। वहां हम ९० आदमी कमरा बंद कर पाठ भी करसक्ते हैं। हमारे सबके शब्द भी उतनेमें समा सक्ते हैं। इसलिये इस लोकाकाशमें अनंत मूर्तीक पुद्गलोंके निवासमें कोई बाधा नहीं है।

ये छहों द्रव्य अनादि अनंत हैं, अकृत्रिम अविनाशी हैं क्योंकि ये सब सत् रूप हैं। इनकी सत्ता सदासे है। जो जो सत् पदार्थ होता है वह नित्य होता है। जगतमें यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अकस्मात् विना उपादान कारणके अर्थात विना उस मूल पदार्थके जिससे कोई वस्तु बनती है कभी कोई कार्य्य रूप वस्तु बन नहीं सक्ती है। यदि सुवर्ण न हो तो सुवर्णके आभूषण नहीं बन सक्ते हैं। यदि मिट्टी न हो तो मिट्टीके बर्तन नहीं बन सक्ते हैं। यदि रुई न हो तो रुईके वस्त्र नहीं बन सक्ते हैं। दिय

अन्न न हो तो रसोई नहीं बन सक्ती है। जगतमें मात्र अवस्थाएं बदलती दिखती हैं, परन्तु जिसमें अवस्थाएं बदलती हैं वे मूलद्रव्य पुद्गल जीवादि छः सदा रहते हैं। इस ही कारणसे ये सत्‌रूप हैं। इन सबमें सत्ता व्यापक है इस अपेक्षा सबकी सामान्य सत्ताको महासत्ता कहते हैं तथा भिन्न२ द्रव्योंकी भिन्न सत्ताको महासत्ताका विरोधी अवान्तर सत्ता कहते हैं—महासत्तामें अवान्तर सत्ताका अभाव है व अवान्तरसत्तामें महासत्ताका अभाव है। इस कारण एक दूसरेमें अपनी अपेक्षा अस्तित्व व परकी अपेक्षा नास्तित्त्व स्वभाव पाए जाते हैं। यह अस्तित्व नास्तित्व स्वभाव हरएक द्रव्यमें पाए जाते हैं। घोड़ेमें घोड़ेके स्वभावकी अपेक्षा अस्तित्व है परन्तु हाथी, बैल, ऊंट, कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओंके स्वभावकी अपेक्षा नास्तित्व है अर्थात् घोड़ेमें घोड़ापना तो है. परन्तु गाय, भैंस, ऊंट, कुत्ता आदिपना नहीं है। इस है, नहीं. या भाव अभाव या अस्तित्व नास्तित्व दो विरोधी स्वभावोंको हर-एक द्रव्य रखता है। इस ही बातको समझानेके लिये सात भंगसे सप्तभंग वाणीको या स्याद्वाद वाणीको आचार्यने समझाया है। ये सात भंग इस तरह हो सक्ते हैं—

(१) स्यात् अस्ति—किसी अपेक्षासे अस्तिपना है अर्थात् अपने द्रव्यादि स्वभावकी अपेक्षासे यह वस्तु है।

(२) स्यात् नास्ति—किसी अपेक्षासे यहां नास्तिपना है अर्थात् पर द्रव्योंके स्वभावादिका इसमें अभाव है।

(३) स्यात् अस्तिनास्ति—किसी अपेक्षासे इसमें दोनों ही अस्तिनास्ति स्वभाव हैं अर्थात् यदि हम दोनोंको क्रमसे कहना चाहें तो कहेंगे कि इसमें दोनों स्वभाव हैं।

(४) स्यात् अवक्तव्य—अर्थात् किसी अपेक्षासे वस्तुकथन योग्य नहीं है । अर्थात् इस वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व एक साथ रहते हुए भी हमारे शब्दोंमें शक्ति नहीं है जो हम उनको एक साथ कह सकें, इससे वस्तु अवक्तव्य है ।

(५) स्यात् अस्ति अवक्तव्य—अर्थात् किसी अपेक्षासे वस्तु अस्ति और अवक्तव्य दोनोंरूप है । अर्थात् एक समय नहीं कह सकते हैं इससे अवक्तव्य है तो भी अपने स्वभावादिकी अपेक्षा अस्तिपना इसमें हैं ।

(६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य अर्थात् किसी अपेक्षासे वस्तु नास्ति और अवक्तव्य दोनोंरूप है । अर्थात एक समयमें नहीं कह सक्ते हैं । इससे अवक्तव्य है तो भी पर द्रव्योंके स्वभावादिकी अपेक्षा इसमें नास्तिपना अवश्य है ।

(७) स्यात् अस्तिनास्ति अवक्तव्य—अर्थात् किसी अपेक्षासे इस वस्तुमें तीनों बातें हैं—अर्थात् एक समयमें नहीं कह सक्ते हैं इससे तो अवक्तव्य है तो भी इसमें अपने स्वभावादिकी अपेक्षा अस्तिपना है। और परद्रव्योंके स्वभावादिकी अपेक्षा नास्तिपना है।

दो विरोधी स्वभाव जो एक वस्तुमें होते हैं उनको सिद्ध करनेकी यह रीति है इससे शिष्य वस्तुके स्वभावको निःशंकपने समझ सक्ता है । जबतक एक वस्तुमें दूसरोंका अभाव नहीं होगा तबतक हम उस वस्तुको दूसरोंसे भिन्न पहचान ही नहीं सक्ते हैं—घट और पट, चांदी और सोना, गेहूं और चावल परस्पर एक दूसरेमें नहीं हैं तब ही हम इनको एक दूसरेसे भिन्न समझ सक्ते हैं । इस ही तरह वस्तुमें नित्य और अनित्य, एक और अनेक, इत्यादि

विरोधी स्वभाव हैं जिनके सिद्ध करनेकी यही रीति जैन सिद्धांतने वहुत ही उत्तम वताई है।

जैसे द्रव्योंमें सत्‌पना है वैसे उनमें दूसरा लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी है। हरएक द्रव्य अपनी अवस्थाओंसे क्षणक्षणमें पैदा होता है और नष्ट होता है तथापि मूलमें वना रहता है। यदि हम अग्निके ऊपर कच्चे चावलोंको किसी पानी सहित वर्तनमें चढ़ा दें और उनकी अवस्थाओंको देखते रहे तो हम देखेंगे कि वे चावल हरएक क्षणमें एक हालतको छोड़कर दूसरी हालतमें आरहे हैं। अग्निका ताव लगते ही वे चावल कुछ फूल जाते हैं जव कुछ फूले तव ही पहिलेकी हालतका नाश और कुछ फूली हुई हालतका जन्म हुआ है तथापि मूलद्रव्य चावल ध्रौव्यरूप ही वना हुआ है। हर समय हरएक नएसे पुराना होता जाता है तव भी वह वना रहता है। नया कपड़ा छः मासमें वदलते वदलते पुराना पड़गया है तथापि कपड़ा तो मौजूद है। जो स्थूल पुद्गल और अशुद्ध जीव हमारे ध्यानमें आसक्ते हैं उनमें हम इस उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप त्रिल क्षणको हरसमय देखरहे हैं। हमारे पास ज्ञान गुण है उसमें अनेक अवस्थाएं ज्ञानके विषयोंके वदलनेकी अपेक्षा हुआ करती हैं तौभी हमारा ज्ञान वना रहता है। इसी अनुमानसे हमें सव द्रव्योंमें यह लक्षण स्वीकार कर लेना चाहिये। जिन द्रव्योंके साथ दूसरे द्रव्य मिलकर कोई उनमें विकार वा दोष नहीं कर सक्ते जैसे शुद्ध जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल; उनमें सदृश स्वभाव परिणमन होता रहता है जिसका अनुभव सर्वज्ञको ही हो सक्ता है। हमको यह बात आगम प्रमाणसे या अनुमान प्रमाणसे माननी

होगी। तीसरा लक्षण द्रव्यका गुणपर्यायवान है। गुण द्रव्यका कभी साथ नहीं छोड़ते हैं जब कि पर्यायें गुणोंकी दशाएं हैं और वे क्रम क्रमसे होती रहती हैं। वास्तवमें गुणोंकी अपेक्षा ही ध्रौव्यपना है और पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पाद व्ययपना है। द्रव्यमें हरसमय उसके सर्वगुण और उसके सर्वगुणोंकी सर्व पर्यायें एक साथ पाई जांयगी। यद्यपि पर्यायें शक्तिरूपसे द्रव्यमें हैं तथा व्यक्तिरूपसे एक पर्याय जब होती है तब दूसरी नहीं होती है। इसलिये द्रव्यार्थिकनयसे न कुछ उत्पाद होता है, न नाश होता है; परन्तु पर्यायार्थिक नयसे सत् या विद्यमान पर्यायका नाश तथा असत् या अविद्यमान पर्यायका उत्पाद होता है। इस आत्मामें संसारी और सिद्ध दोनों पर्याऐं शक्तिरूपमें हैं, परन्तु जब संसार पर्याय प्रगट होती है तब सिद्ध पर्याय नहीं प्रगट है। और जब सिद्ध पर्याय प्रकट होती है तब संसार पर्याय अप्रगट है। ऐसे तीन तीन लक्षणोंको रखनेवाले ये छहों द्रव्य परस्पर एक क्षेत्रमें मिले हुए रहते हैं तथापि हरएक अपने २ भिन्न कार्यको करते रहते हैं— वे कभी मिलकर एक अखंड पिंड नहीं हो जाते हैं।

इसतरह द्रव्यका सामान्य कथन करके आचार्यने जीवादि द्रव्योंका विशेष कथन किया है।

प्रथम ही जीव द्रव्यका व्याख्यान करते हुए इसके सम्बन्धमें नौ अधिकारोंके द्वारा नौ बातें बताई हैं, वे इस भांति हैं—

(१) यह जीव जीनेवाला है—निश्चय नयसे सुख, सत्ता, चैतन्य और बोध इन चार प्राणोंसे और व्यवहारनयसे शरीर सम्बंधी इंद्रिय, बल आयु, श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोंसे जीता है। कर्मसहित जीव किसी भी शरीरमें रहकर जिनके द्वारा जो क्रिया करते हैं वे

द्रव्यप्राण कुल दस होते हैं-एकेन्द्रियके चार-स्पर्शनेंद्रिय, कायबल, आयु, शासोच्छ्वास। द्वेन्द्रियके छः-रसनाइंद्रिय और वचन बल बढ़ जात है। तेंन्द्रियके सात-घ्राणइंद्रिय वढ़ जाती है। चौन्द्रियके आठ-चक्षु इन्द्रिय वढ़ जाती है। पंचेंद्रिय असेनीके नौ-कर्ण इंद्रिय बढ़ जाती है। पंचेन्द्रिय सैनीके दस-मन बल बढ़ जाता है। इन ही प्राणोंके घातको हिंसा कहते हैं।

(२) यह जीव चेतनेवाला है-शुद्ध निश्चयनयसे अपनी शुद्ध ज्ञान चेतनाका अनुभव करता है तथा अशुद्ध निश्चयनयसे रागद्वेषरूप प्रवृत्तिके कारण कर्मचेतनाका और सुख दुःख भोगनेके कारण कर्मफलचेतनाका अनुभव करता है।

(३) यह जीव उपयोगवान है-शुद्धनिश्चयनयसे शुद्धज्ञान और शुद्धदर्शन उपयोगको रखनेवाला है। अशुद्ध निश्चयनयसे मतिज्ञानादि व चक्षु दर्शनादि उपयोगोंका धारी है।

(४) यह जीव आप ही प्रभु है-शुद्धनिश्चयनयसे मोक्ष और मोक्षके कारणरूप शुद्धपरिणामोंमें परिणमनेको आप ही समर्थ है। अशुद्ध निश्चयनयसे संसार और संसारके कारणरूप अशुद्धभावोंको भी करनेमें आप समर्थ है।

(५) यह जीव कर्ता है-शुद्धनिश्चयनयसे शुद्ध भावोंका और अशुद्ध [illegible]श्चयनयसे रागादि भावोंका कर्ता है।

(६) यह जीव भोक्ता है-शुद्धनिश्चयनयसे अतीन्द्रिय आनन्दका [illegible] अशुद्ध निश्चयनयसे इंद्रियजनित सुखदुःखका भोगनेवाला [illegible]

[illegible]) यह जीव स्वदेहप्रमाण है निश्चयनयसे असंख्यातप्रदेशी

है व व्यवहारनयसे नामकर्मके उदयसे प्राप्त शरीरके प्रमाण आकार रखता है।

(८) यह जीव अमूर्तीक है–निश्चयनयसे स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे रहित होनेसे अमूर्तीक है। व्यवहारनयसे हरएक आत्माके प्रदेशमें कर्मोंका बन्ध होनेसे मूर्तीक कहलाता है।

(९) यह जीव कर्मसंयुक्त है–निश्चयनयसे कर्मरहित शुद्ध है। व्यवहारनयसे आठ कर्मसहित है।

इस तरह निश्चयनयसे अपने जीवको जाननेका प्रयोजन यह है कि यह जीव असलमें शुद्ध है। और व्यवहारनयसे इसे जाननेका प्रयोजन यह है कि वर्तमानमें इस जीवकी अवस्था अशुद्ध है, इसलिये हमें इस अशुद्धताको मेटकर शुद्ध स्वरूपमें प्रकाशमान होजाना चाहिये। इस व्याख्यानसे यह भी बताया है कि हमारा उन्नत तथा अवनत होना हमारे ही हाथमें है–कोई दूसरा हमारा सुधार या बिगाड़ नहीं कर सक्ता इसलिये हमें अपने उद्धारके लिये आप ही पुरुषार्थी होना चाहिये। फिर पुद्गल द्रव्यके व्याख्यानमें यह बताया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जितनी मूर्तियें दिखलाई पड़ती हैं उनका उपादान कारण पुद्गलके परमाणु है। इन्हीं परमाणुओंके बंधसे अनेक जातिके स्कंध बनजाते हैं। शब्द भी पुद्गल है, क्योंकि रुक जाता व बंद किया जासक्ता है। कार्मण वर्गणाके स्कंध भी पुद्गल हैं जिनका बंधन आठ कर्मरूप संसारी जीवोंके होता है। फिर संक्षेपमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशका स्वरूप कहकर यह बताया है कि यदि हम धर्म अधर्मको न मानें तो लोकाकाश और अलोकाकाशका भेद

नहीं होसक्ता है। आकाश यदि गमनमें सहकारी हो तो अनंत आकाशमें जीव पुद्गल चले जावें। फिर कालद्रव्यको अकाय सिद्धकर इस प्रकरणको समाप्त किया है। अन्तमें कहा है कि इन द्रव्योंको और उनकी नाना प्रकारकी अवस्थाओंको जानकर एक ज्ञानी जीवको राग, द्वेष, मोह न करके समताभाव रखना चाहिये। यही समताभाव कर्मशोषक है व यही निर्वाणके सुखका कारण है।

हमें उचित है कि इस लोकको अनादि अनन्त अकृत्रिम समझकर व इसके भीतर छःद्रव्योंको जानकर उनसे अपने आत्माका स्वरूप न्यारा जानें। इस भेदविज्ञानके प्रतापसे ही स्वात्मानुभव होता है जो साक्षात् पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा और संवरका कारण होकर साक्षात् कर्मरहित अवस्था या मोक्षमें पहुंचा देता है।

इसप्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य कृत प्राकृत ग्रंथकी श्री जयसेनाचार्य कृत संस्कृत टीकाके अनुसार इस पंचास्तिकाय ग्रन्थके प्रथम अधिकारकी भाषाटीका पंचास्तिकायदर्पण नाम पूर्ण हुई।

मिती आश्विन सुदी ८<br>वि० सं० १९८२ शुक्रवार<br>वीर सं० २४५१<br>ता० २५ सप्टेम्बर १९२५

जैन तत्वप्रेमी—<br>ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

शुभमस्तु।

# भाषाकारका परिचय।

दोहा—मूलगाम फर्रुखनगर, गुड़गांवामें जान।
इन्द्रप्रस्थके निकट है, जैनी वसे महान ॥ १ ॥

अग्रवाल राजा सुकुल, वैश्य कर्मसे जान।
गोयलगोत्र महानमें, रायमल्ल गुणखान ॥ २ ॥

अवधदेश लक्ष्मणपुरी, वनज हेतु तहं आय।
वसके उन्नति बहुकरी, धन यश धर्म कमाय ॥ ३ ॥

तिन सुत मंगलसेनजी, विद्या-धर गुणखान।
आतम-अनुभव-रत रहैं, करैं शास्त्र व्याख्यान ॥ ४ ॥

तिन सुत मक्खनलालजी, लक्ष्मणदेवी नारि।
चार पुत्र तिनके भए, निज निज कर्म सम्हारि ॥ ५ ॥

संतलाल सबसे बड़े, सुत तिय गृहरत जान।
जैनधर्म निज शक्ति सम, पालत तहं अमलान ॥ ६ ॥

तृतिय पुत्र लेखक यही, श्री शीतल जिनदास।
विक्रम उन्निस पैंतिसा, जन्म सुकार्तिक मास ॥ ७ ॥

कुछ विद्या अभ्यास कर, कुछ दिन अर्थ कमाय।
पत्नी भ्राता मातपितु, काल ग्रासकर जाय ॥ ८ ॥

लख संसार असार यह, बत्तिस वय अनुमान।
गृह—तज श्रावकधर्मको, शर्ण लियो हित जान ॥ ९ ॥

उन्निससे ब्यासी यही, वर्षाऋतुमें जान।
इस बड़ौत कसबे रहे, मेरठ जिला महान ॥ १० ॥

अग्रवाल जैनी यहां, दिक् अम्बर समुदाय।
तीनशतक गृह रहत हैं, डेढ़सहस सब भाय ॥ ११ ॥
श्री जिनमंदिर दो लसें, एक निकट बाजार।
आदिनाथ नायक तहां, वीतराग गुणधार ॥ १२ ॥
द्वितिय वेदिका द्वयसहित, नायक पारशनाथ।
चित्र विचित्र सुवर्णमय, सोहत तहं सुख साथ ॥१३॥
आसपास जैनी बहुत, मुख्य बड़ौत सुहात।
आश्विनमें प्रतिवर्ष ही, रथउत्सव-मिस आत ॥ १४ ॥
उन्निससै तेरह भए, पंडित हीरालाल।
चंद्रप्रभु पुराणको, रच्यो छन्द गुणमाल ॥ १५ ॥
वर्तमान समुदायमें, रही एकता छाय।
अपनी अपनी शक्तिसम, अर्थ काम वृष पाय ॥ १६ ॥
जगत-ज्योति-सिंह मुख्य हैं, शिषरचंद गुणवान।
गंगा-राम किशोरमल, हरध्यान्‌सिंह महान ॥ १७ ॥
गिरीलाल होश्यारसिंह, तिरखाराम सराफ।
तुलसीराम सु चौधरी, देशभक्त मन साफ ॥ १८ ॥
पंडित मंगलसेनजी, और मनोहरलाल।
धूमसिंह श्रीचंदजी, मक्खन मिट्ठनलाल ॥ १९ ॥
भानामल पृथ्वी सु सिंह, चम्पाराम प्रसाद।
मुल्हड़मल उग्रसेन हैं, खजानसिंह उस्ताद ॥ २० ॥
लाल हजारी कामता, माष्टर उगरसेन।
सुगनचंद मिट्ठन द्वितिय, दलीपसिं मित्रसेन ॥ २१ ॥

इत्यादिक साधर्मि बहु, करत सुधर्म प्रकाश।
जैन धर्म परभावना, करत परम सुख आश ॥ २२ ॥

मेरठके सुलतानसिं(ह), थे वकील हितकार।
तिनकी धुनि प्रेरित भई, विद्या धर्म प्रचार ॥ २३ ॥

उन्निस सोलह सन विषै, खुलो जैन इस्कूल।
है मकान सुन्दर महा, वस्ती मंडी कूल ॥ २४ ॥

हेड्मास्टर कल्याणजी, पंडित तुलसीराम।
जैन धर्म शिक्षा करत, शिष्य द्विशत इस धाम ॥२५॥

कन्याशाला भी यहां, राजत है गुणकार।
पुस्तकशाला शोभती, धर्म ग्रन्थ बहु धार ॥ २६ ॥

इत्यादिक संयोगमें, जैन इस्कूल मंझार।
तिष्ठा साता पायके, धर्म ग्रन्थ चितधार ॥ २७ ॥

कुंदकुंदआचार्यकृत प्राकृत ग्रन्थ महान।
पंचास्ती शुभ काय यह, परमज्ञान सुख खान ॥२८॥

ताकी संस्कृत वृत्ति रचि, आचारज जयसेन।
ताकी भाषा देख नहिं, यह उपाय सुखदेन ॥२९॥

पूरण टीका यह भई, आश्विन शुक्ला अष्ट।
शुक्रवारके अंतलों, पढ़त प्रगट गुण अष्ट ॥ ३० ॥

सप्टेम्बर पच्चीस है, सन् उन्निस पच्चीस।
राज वृटिश रक्षा करै, प्रगटहिं गुण पच्चीस ॥ ३१ ॥

भारतवर्ष प्रजा सकल, रहे एकता लीन।
मंगल दिन दिन प्रति बढ़ै, होय व्यसन मलछीन ॥३२॥

मंगल श्री अरहंतजी, मंगल सिद्ध महान।
मंगल आचारज महा, मंगल वहुश्रुत ज्ञान ॥ ३३ ॥

मंगल साधु महान हैं, मंगल श्री जिनवान।
मंगल धर्म दयामई, मंगल जिन प्रतिमान ॥ ३४ ॥

मंगल जिनमंदिर सबे, धर्म निमित्त अपार।
इन नव प्रति वंदन करूं, पुनः पुनः हितकार ॥३५॥

निज आतम परमातमसम, ध्याय स्व अनुभव पाय।
निजनय सुख विलसूं महा, यही भाव सुखदाय ॥३६॥

मंगल हो इस नगरको, जहां लिखो यह ग्रन्थ।
मंगल सब जीवन बढ़ो, सब होवें निर्ग्रंथ ॥ ३७ ॥

भवसागर उद्धारकर, यह जिन धर्म महान।
सुखसागर दाता महा, सेवहु गवि उर आन ॥३८ ॥

इति।

शुभमस्तु, कल्याणमस्तु, मंगलमस्तु।

फिरसे बांच पूर्ण किया
ता० ४-१०-१९　　द० ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।